सांख्य दर्शन का अद्वैतवादी मूल्यांकन

(An Advaitic Appraisal of Samkhya Philosophy)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
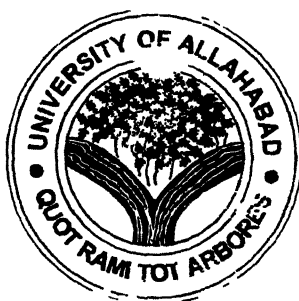
प्रस्तुतकर्ता

प्रेम प्रकाश चन्द्र शर्मा

दर्शन विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ० राम लाल सिंह

पूर्व प्रोफेसर, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2000

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

चिन्तन–धर्मिता मनुष्य की मनुष्यता को जहॉ एक ओर परिभाषित करती है, वही दूसरी ओर उसके सहजात मानवीय विरासत के रूप मे उसमे धनात्मक रूप से कुछ न कुछ जोडकर उसे पुरस्सर करने के लिए निरन्तर अभिप्रेरित भी करती रहती है। मानव की इसी प्रवृत्ति ने अनन्त ज्ञानराशि के वाग्मय को प्रस्तुत किया है और निरन्तर करती चली आ रही है। यह भी सत्य है कि मनुष्य के चिन्तन की साक्षी उसकी चेतना उसकी प्रहरी भी है, जो उसके चिन्तन–धर्मिता को कही न कही से सूत्रधार के रूप मे निर्देशित करती रहती है। जिसके फलस्वरूप चिन्तन–धर्मी मानव अपनी आस्थाओ के साथ अभीष्ट दिशा मे यात्रा करता चलता है। यह भी कही न कही सत्य ही है कि मनुष्य की चिन्तन–धर्मिता और चेतना के पीछे उसका जन्मातरागत सस्कार ही किसी न किसी रूप मे मनुष्य के कार्य को परिष्कार प्रदान करता चलता है। किन्तु इन सब से आगे कही एक कूटस्थ सत्य भी है, जिसके अनुशासन मे सृष्टि की प्रत्येक घटना सप्रयोजन ही घटित हुआ करती है।

श्रद्धेय पितृचरण श्री पी० आर० शर्मा की हार्दिक इच्छा रही कि मै उनके उस स्वप्न को पूरा करूँ, जिसमे वह पुत्र को विद्वान और भक्तमान् के रूप मे परिभाषित करते रहे और कहते रहे 'कि तेन पुत्रेण य न विद्वान न च भक्तिमान्'। सम्भवत उनका यह कथ्य ही मुझे एक दूसरे जिज्ञासाओ के ससार मे खीच ले जाता है। जहॉ समूची सृष्टि किसी रहस्य मे लिपटी हुई दिखाई देने लगती है और मै स्वय सृष्टि का घटक होने के कारण बारम्बार जिज्ञासु मनोभाव से इस रहस्य को समझने मे प्रयत्नशील रहता रहा। सयोगवश श्रद्धेय गुरुवर डॉ० राम लाल सिह के साहचर्य मे मेरी इन जिज्ञासाओ को कभी–कभी त्रास भी मिलती रही और मै निहित तलाश मे आगे बढता रहा। एक समय ऐसा भी आता है कि वह स्वय मुझे इस दिशा मे कुछ मौलिक लेखन और चिन्तन के लिए प्रेरित करने लगते है और एतद् विषयक कोई शोधग्रन्थ लिखने की भी प्रेरणा देते रहे। फलत मै सृष्टि के सूत्रधार के रूप मे उनके निर्देशो से सकेत पा कर इस

ओर चल पडा और उनके निदेशन मे ही प्रस्तुत शोध शीर्षक ***'सांख्य दर्शन का अद्वैतवादी मूल्यांकन'*** पर शोध कार्य प्रारम्भ किया।

शोध कार्य करते समय आरम्भ से अन्त तक यद्यपि जाने कितनी विषम परिस्थितियॉ अपनी विसगतियो के साथ कठिनाइयो को लेकर आई, किन्तु इन सभी को परीक्षा काल की चुनौती मानकर मेरा तरुण मन सकल्पबद्ध होकर मेरा साथ देता रहा और अन्तत शोध कार्य अपनी पूर्णता के तट पर अग्रसर हो चला, जिसके फलस्वरूप आज यह 'प्राक्कथन' लेखन कार्य भी सम्पन्न हो रहा है।

शोध प्रबन्ध के आद्योपरान्त निर्देशन, उत्साहवर्धन और प्रोत्साहन के रूप मे जिन श्रद्धेय गुरुजन ने अपना अमृतोपम स्नेह प्रदान किया, पूज्यपाद गुरुवर्यय डॉ० राम लाल सिह (निवर्तमान प्रोफेसर–दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन तो सम्भवत उनकी वात्सल्य का अवमूल्यन करना होगा। फलत उनका चिरऋणी रहना ही मेरे लिए एक प्रेरणास्पद पूॅजी ही रहेगी। इनके अतिरिक्त जिन अन्य श्रद्धेय गुरुजनो ने अपना अमूल्य मार्गदर्शन एव उच्छतित स्नेह प्रदान किया, उनमे दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ० डी० एन० द्विवेदी और डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव–पूर्व विभागाध्यक्ष, डॉ० मृदुला रवि प्रकाश–विभागाध्यक्ष, डॉ० सी० एल० त्रिपाठी, डॉ० आर० एस० भटनागर, डॉ० नरेन्द्र सिह, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० जटा शकर, डॉ० एच० एस० उपाध्याय, डॉ० आशा लाल, डॉ० श्रीकान्त मिश्र आदि, इविग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ० शिवभानु सिह और डॉ० एस० एन०त्रिपाठी, प्राध्यापक सस्कृत विभाग, डायट, चडीगॉव, पौडी गढवाल का इन क्षणो मे ही नही, अपितु भविष्य मे भी यावत् जीवन आभारी रहूँगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को सात अध्यायो मे विभक्त किया गया है, जिसके प्रथम अध्याय मे 'सांख्य दर्शन का उद्भव', द्वितीय अध्याय मे 'साख्य दर्शन का विकास', तृतीय अध्याय मे'

साख्य दर्शन · एक परिचय', चर्तुथ अध्याय मे 'साख्य दर्शन का तत्त्ववाद', पचम् अध्याय मे 'साख्य दर्शन का पाश्चात्य दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन', षष्ठम् अध्याय मे 'साख्य दर्शन का अन्य भारतीय दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन' और सप्तम् अध्याय मे 'निष्कर्षात्मक अनुलेख शकराचार्य कृत साख्य दर्शन की आलोचना उसका मूल्याकन' के साथ उपसहारात्मक अनुलेख प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लेखन मे जहॉ एक ओर भारतीय दर्शन मे विशेष रूप से आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत 'साख्यकारिका', प० उदयवीर शास्त्री कृत 'साख्य दर्शन का इतिहास', डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र कृत 'साख्य दर्शन की ऐतिहासिक पराम्परा', डॉ० राधाकृष्णन् कृत 'इडियन फिलॉसफी', विद्यारणमुनि कृत 'पचदशी', डॉ० कीथ की 'साख्य सिस्टम', डॉ० सी० डी० शर्मा कृत 'भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन', दासगुप्ता कृत 'हिस्ट्री ऑफ इडियन फिलॉसफी', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'कठोपनिषद्', 'छादोग्योपनिषद्' आदि मानव सदर्भ ग्रन्थो से एक बलवती अभिप्रेरणा मिली है, वही दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन के सम्बध मे प्रो० दयाकृष्ण कृत 'पाश्चात् दर्शन का इतिहास', डॉ० सी० एल० त्रिपाठी कृत 'ग्रीक दर्शन', डॉ० बी० एन० सिह कृत 'पाश्चात्य दर्शन', ब्रैडले कृत 'एपियरेन्स एण्ड रियलिटी', बर्गसा कृत 'क्रीएटिव इवोल्युशन', डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव कृत 'अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास' आदि ग्रन्थो से भी ऊर्जात्मक सम्बल मिला है, जिसे शोध प्रबन्ध मे यथा सम्भव देखा जा सकता है।

शोध प्रबन्ध के लेखन मे जिन पुस्ताकालयो का विशेष सहयोग मिला, उनमे इलाहाबाद विश्वविद्यालय और उसके दर्शन विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, श्री गगा नाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद और उत्तर प्रदेश प्रशासन, लखनऊ के सचिवालय के पुस्तकालय का आभारी हूँ और आभारी हूँ, वहॉ के उन अधिकारी और कर्मियो का जिन्होने एतद् विषयक सहयोग और परामर्श प्रदान किया।

जिनके पूँजीभूत स्नेह का विकसित रूप अपने इन करो से कुछ लिखने मे समर्थ हुआ, उस परम श्रद्धेया 'मॉ' श्रीमती सुषमा शर्मा के लिए किन शब्दो मे अपनी भक्ति निवेदित करूँ, क्योकि

उराके अमृत स्नेह के अतिरिक्त मै ओर हूँ ही क्या, तथा उसके साथ–साथ उन बहनो कु० शशि प्रभा शर्मा, कु० इन्दु शर्मा और कु० सविता शर्मा के हार्दिक सहयोग को भी कैसे अविकल व्यक्त कर सकता हूँ, जिनका प्रत्येक स्वर मेरे प्राणो की लहरी के साथ 'एकम्–एक' रहा है।
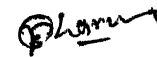
शोध प्रबन्ध के प्रारम्भ से अन्त तक की यात्रा मे जो अनुसन्धाता मे असीम उत्साह, प्रखर ऊर्जा, बलवती प्रेरणा तथा लक्ष्य की ओर उत्तरोतर सकल्पबद्ध होकर बढते रहने की अप्रतिम प्रतिबद्धता निरतर भरते रहे और हाथ मे हाथ लेकर आगे चलते रहे। उन सहृदय मित्रो मे डॉ० निखिल सिह–प्रवक्ता, सैन्य विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर, चमोली, श्री सजय सिह–आई० पी० एस०, डॉ० ए० के० सिह भदौरिया–प्रवक्ता, दर्शन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद, श्री राजेश विश्वकर्मा और श्री इन्द्रमणि विश्वकर्मा–शोध छात्र, राजनीति, श्री सुरेन्द्र यादव–एम० ए०, प्रा० इति०, डॉ० शिखा चोहान–आर० ए०, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, श्री हिम्मत सिह–व्यापार कर अधिकारी, श्री धवल सिह–एम० ए०, मध्य० इति०, श्री देवी प्रसाद–खाद्य अधिकारी को आज के इन क्षणो मे स्मरण करते हुऐ भावानुभूति की जिस सीमा पर मै खडा हूँ, लगता है कि आज हम सब एक साथ खडे है और इसके लिये उनके प्रति केवल कृतज्ञता ज्ञापन करना सम्भवतया उनकी उन अनन्त सदिच्छाओ एव सद्भावनाओ के साथ अन्याय करना होगा। फलत "हम तिहारे है, तिहारे ही रहेगे" कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है।

शोध प्रबन्ध पूर्ण होने के पश्चात् और प्राक्कथन लिखने के बीच मेरा चयन 'लोक सेवा अयोग' द्वारा 'सहायक सेवायोजन अधिकारी' के रूप मे हुआ तथा मेरी प्रथम नियुक्ति 'पौडी गढवाल' मे 'नगर सेवायोजन अधिकारी' के रूप मे हुई। विभाग से सम्पर्क होने के पश्चात मेरा प्रोत्साहन अपने आशीर्वाद के रूप मे करते रहने वाले श्री टी० पी० वर्मा, उप निदेशक, प्रशिक्षण एव सेवायोजन विभाग, लखनऊ के प्रति कृतज्ञ हूँ। साथ ही अपने कार्यालय के क्षेत्र मे श्री सुभाष कुमार, क्षेत्रीय सेवायोजन अधिकारी और मेरे कार्यालय के कर्मचारी गण वरिष्ठ सहायक

द्वय श्री सुरेन्द्र लाल और श्री एस० एस० नेगी, कनिष्ठ सहायक श्री सुरेश चन्द्र और श्री रवीन्द्र सिह रावत तथा अन्य सर्वश्री जगदीश, हयात, दिनेश व रमेश का भी आभारी हूँ। साथ मे पौडी के नये वातावरण मे उन नवागन्तुको श्री प्रशान्त–डी० एस० टी० ओ०, श्री राकेश श्रीवास्तव व श्री श्रद्धा नन्द त्रिपाठी–साख्यिकी निरीक्षक, श्री एस० के० वर्मा व श्री डी० पी० सिन्हा–उपकारापाल, श्री आर० के० चौधरी–डी० ए०, पी० डब्ल्यू० डी०, भवनस्वामी श्री जी० एस० बिष्ट, श्री अशोक सिह, श्री राजीव त्रिपाठी, श्री राघव सिह, श्री रामचन्द्र, अन्सार अहमद, श्री सजीव वर्मा आदि का भी आभारी हूँ, जिन्होने एक नये परिवेश के साथ समायोजित होने मे सहयोग देने के साथ मानसिक सतोष और भावनात्मक प्रेरणा प्रदान करते रहे।

अन्तत शोध प्रबन्ध को मेरी अनुपस्थिति मे भी यथावत् मुद्रण प्रक्रिया को जारी रखते हुए, उसे यथाशीघ्र तैयार कराने मे अपना अमूल्य समय देकर, जो सहयोग श्री देवी प्रसाद, खाद्य अधिकारी ने दिया। उसके लिऐ मै उनका चिरऋणी रहूँगा। स्वच्छ, सुन्दर एव आकर्षक कम्प्यूटरीकृत मुद्रण के लिए श्री एस० एम० श्रीवास्तव और श्री वीरेन्द्र विश्वकर्मा को धन्यवाद देना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

भवदीय

२६ अक्टूबर, २०००

*** शुभ दीपावली ***

प्रेम प्रकाश चन्द्र शर्मा

अध्याय प्रथम

सांख्य दर्शन का उद्भव

भारतीय दर्शन मे साख्य दर्शन को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है, जिसका उल्लेख वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि मे मिलता है। वैदिक सहिताओ मे 'साख्य' शब्द साक्षात् कही नही मिलता है। किन्तु साख्य की विचारधारा का मूल ऋग्वेद[१] मे मिलता है।। इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित विश्व–विज्ञान के विवरण मे साख्य के 'प्रकृति–पुरुष सिद्धान्त' की कुछ अस्पष्ट पूर्वप्रकल्पनाओ का उल्लेख मिलता है।[२] साथ ही साख्य सदृश एक दर्शन का प्रणेता महर्षि कपिल को मानते हुए ऋग्वेद[३] मे इनका उल्लेख आदरपूर्वक दिया गया है। वेदभाष्यकार सायण इसका अर्थ 'प्रसिद्ध ऋषि' साख्य का प्रवक्ता 'कपिल' ही हो सकता है। इस प्रकार कपिल की सत्ता ऋग्वेद मे स्वीकार की जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे 'कपिलेय' का उल्लेख है इससे भी कपिल की सत्ता ब्राह्मण ग्रन्थ से पहले सिद्ध होती है।[४] भारतीय प्राचीन ग्रन्थो म सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मत मिलते है, इन वैषम्यपूर्ण मतो मे सृष्टि सम्बन्धी एक सामान्य विचार की स्थापना सहज नही थी। लेकिन साख्य तर्क के माध्यम से सृष्टि सम्बन्धी, जो वास्तविक विचार प्रस्तुत करता है, उस विषय मे साख्य को प्रारम्भ बिन्दु मान सकते है। 'यजुर्वेद की शाखा' नामक लेख मे डा० रघुवीर ने 'कपिल शाखा' को आर्यावर्त मे प्रचालित बताया है।[५] प० उदयवीर शास्त्री[६] ने साख्य दर्शन के कपिल द्वारा प्रणीत होने मे भागवत पुराण[७] पर श्रीधर स्वामी की व्याख्या के आधार पर अन्तिम श्लोक के 'तत्वाना सख्याता गणक साख्य प्रवर्तक इत्यर्थ ' के आधार पर महर्षि कपिल को साख्य दर्शन का प्रवर्तक माना है।

'न जायते इत्यजा' का कथन वेदो मे प्रकृति के लिए ही कहा गया है, यही कारण है कि यहाँ प्रकृति को 'अजा' कहा गया है। यही नही, अपितु श्रुतियो मे भी आत्मा को आनन्द स्वरूप नही माना गया है, यथा 'नानद न निरानन्दम्'। साख्य दर्शन मे देवो को वैकारिक सर्ग का माना गया है जिनमे उच्चावच स्तर का भेद है। प्रकाशात्मक सत्वगुण आधिक्य से युक्त अहकार 'वैकारिक' कहलाता है। वैकारिक अहकार से उत्पन्न देवता के शरीर मे 'कारण गुणा कार्यगुणानारमन्ते' के नियम से प्रकाशशीलता आदि लक्षण विद्यमान है। शरीर अधिष्ठान है और अधिष्ठाता इससे ऊपर है। अधिष्ठान के रूप मे प्रकृति की वास्तविक सत्ता स्वीकार करने वाले वेद मे यदि कोई दर्शन है तो वह साख्य ही होगा।[८] प्रकृति को भ्रम के रूप मे स्वीकार करने वाला अद्वैत वेदात ऋग्वेद का दर्शन नही हो सकता है। क्योकि वैदिक साहित्य में ब्रह्म को

प्रकृति के रूप मे लिया गया है। पुलिन बिहारी चकवर्ती[९] ने आसुरि और पचशिख के मत मे ब्रह्म को विश्वात्मा का अर्थ माना है। वैदिक साहित्य मे ब्रह्म का प्रयोग 'बृहति' और 'बृहयति' दो अर्थों मे हुआ है, जो क्रमश प्रकृति और पुरुष अर्थ को व्यक्त करता है। इस प्रकार यहाँ विकासवाद के अनुसार कार्य को कारणानुरूप दिखाया गया है। साख्य के मत मे प्रकृति एक अक्षय भण्डार है, जिसमे सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है या होता है। सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त ने पचशिख के मत मे ब्रह्म को प्रकृति के अर्थ मे स्वीकार किया है।[१०]

उपनिषदो से न केवल पुनर्जन्म तथा ससार की अमरता के ही भाव, अपितु ऐसे–ऐसे मुख्य सिद्धान्त भी, जैसे कि ज्ञान मोक्ष का साधन है और पुरुष विशुद्ध प्रमाता है, आदि विचार लिये गए है।[११] कठोपानिषद्[१२] मे प्रकृति के स्तर पर विकास श्रखला मे सबसे ऊँचा स्थान 'अव्यक्त' को दिया गया है, जिससे महान आत्मा, बुद्धि, मन, पदार्थ (विषय) और इन्द्रिया क्रमश उत्पन्न होती है। अहकार का उल्लेख नही है और परमात्मा (ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार किया गया है, तो भी विश्व विकास का यह सबसे प्रथम वर्णन है। जिसका उपयोग साख्य के विचारको ने किया प्रतीत होता है।[१३] मैत्रामणी उपनिषद् जो बौद्धकाल के बाद की मानी जाती है[१४] परिष्कृत साख्य से सुपारिचित था, तन्मात्राओ[१५] तीन गुणो[१६] और आत्मा एव प्रकृति के भेद का उल्लेख करती है।[१७]

दालमन साख्य को ब्रह्मविद्या मानते हुए ये निरपेक्ष के स्थान पर प्रकृति को स्वीकार करते है और व्यक्ति के रूप मे ईश्वर को स्वीकार नही करते है। ये छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् मे प्रतिपादित दर्शन को मुख्यतया साख्य मत ही मानते है। यहॉ तक कि इन्होने महाभारत मे कथित साख्य को परवर्ती साख्य और शाकरवेदान्त का स्रोत मानते है। इनके मत मे शतपथ ब्राह्मण मे २५वा तत्त्व आत्मा को बताया गया है और प्रकृति के त्रिगुणा का निर्देश अथर्ववेद में स्वीकार करते है।[१८] इस सम्बन्ध मे कीथ[१९] का कथन अशत उचित है कि दालमन साख्य को जान बूझकर ब्रह्मवादी बना देते है। क्योकि साख्य मे ब्रह्म की स्थिति पुराण आदि आगम प्रमाणो के आधार पर सिद्ध करते है। प्रभाकर मिश्र[२०] और भोजराज के मत मे साख्य ब्रह्मवादी है तो अहिर्बुध्न्यसहिता के षष्टितत्र मे प्रथम तत्त्व ब्रह्म को माना गया है। बृहदारण्यक

उपनिषद् के स्वामी धनानन्द[२१] परिणामवादी मानते है, बल्कि आचार्य याज्ञवल्क्य, जिन्हे साख्याचार्य कहा जाता है, ने तत्त्व सम्बन्धी विचार मे तत्कालीन वातावरण से सामजस्य रखते हुए साख्य के मूलभूत अभ्युपगमो का समर्थन किया है। जिसमे सत्कार्यवाद प्रमुख है। छान्दोग्योपनिषद्[२२] मे सत्कार्यवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मिट्टी के लोदे के मालूम हो जाने पर उससे निर्मित पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि कार्य कारण को अभिन्न माना गया है। स्पष्ट है कि यहाँ विश्व को असत् या शून्य से उत्पन्न नही माना गया है।[२३] छान्दोग्य उपनिषद्[२४] मे वर्णित त्रिवृत्त के सम्बन्ध मे उदयवीर शास्त्री[२५] और पुशल्कर ने इसे साख्य के तीनो गुणो से युक्त प्रकृति का ही उल्लेख माना है। लोमान्य तिलक[२६] सृष्टि की रचना और सहार के प्रकरण का उपसहार करते हुए उपनिषदो मे वर्णित प्रकृति के तीनो गुणो के 'अन्योन्य मिथुनवृत्ति' के सम्बन्ध मे कहते है कि ऐसा वर्णन साख्यशास्त्र ज्ञान के आधार पर उल्लिखित हैं, क्योकि सृष्टि के विकास के इसी क्रम को शास्त्रकारो ने प्रमाणित माना है। बृहदारण्यक उपनिषद्[२७] मे प्रज्ञा सृष्टि के लिए दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वो का सकेत मिलता है। यही नही, इसी उपनिषद्[२८] मे भोग्य और भोक्ता का जो उल्लेख हुआ है। वह प्रकृति–पुरुष वाले साख्य दर्शन की ओर ही सकेत करता है।[२९]

यद्यपि उपनिषद् मे साख्य की परवर्ती विकसित अवस्था की विशिष्टताए नही मिलती है लेकिन यहाँ वही सिद्धान्त प्राप्त होते है, जो साख्य और वेदान्त मतो मे प्रारम्भ से ही समान रूप से रहे है, इस प्रकार साख्य के प्रमुख विचार उपनिषदो की नानाविध शिक्षाओ मे मिलते है।[३०] डॉ० कीथ[३१] के अनुसार "उपनिषदो मे साख्य दर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार का वास्तविक साक्ष्य पाना असभव है। फिर भी उनमे यत्र–तत्र ऐसे बीज मिलते है, जिनसे उन विचारो का विकास लक्षित होता है। जो आगे चलकर साख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से रखे गए।" डा० कीथ साख्यदर्शन के उपनिषदो से बहुत दूर का ही सम्बन्ध मानते हुए आगे कहते है "यदि पूर्ण व्यवस्थित सांख्य दर्शन महाभारत मे पूर्व वर्तमान था तो सचमुच यह बडी विलक्षण बात लगती है कि उसमे पच तन्मात्रो के सिद्धान्त की ,जिसका साख्य दर्शन स्पष्ट प्रतिपादन है और जो उस दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है, सर्वथा उपेक्षा ही कर दी गई है। उसकी चर्चा तक न की जाय।" डा० कीथ आचार्य ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका के "CLASSIC SAMKHYA"

को ही व्यवस्थित साख्य मानते है।

डा० कीथ के मत के विपरीत यह सिद्ध है कि महाभारत अपने वास्तविक रूप मे छठी शताब्दी ई० पू० तक आ चुका था। क्योकि आश्वलायन गृह्यसूत्र मे गीता के श्लोको का उल्लेख किया गया है, ये ग्रन्थ पाचवी रादी ई० पू० के है। महाभारत मे इसके रचना उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसकी रचना वेद–विद्या एव कठिन शास्त्रो के ज्ञान से वचित स्त्री शूद्र आदि के लिए विशेष रूप रो तथा द्विजजातियो के लिए सामान्य रूप से धर्म और दर्शन आदि के ज्ञान का प्रचार कराना था। इस स्थिति मे महाभारत मे साख्य दर्शन का सम्पूर्ण परिचय न मिलना आश्चर्यजनक नही होना चाहिए। यही नही, बल्कि छन्दोग्य उपनिषद् के 'तेजोऽबन्न' दूसरे शब्दो मे तेजस, जल और पृथ्वी रूप जो त्रिरूपात्मक गुणो को जगत कारण प्रतिपादित है, वह साख्य द्वारा मान्य लोहित–शुक्ल–कृष्ण जड प्रकृति ही है या उससे भिन्न स्पष्ट प्रमाण के अभाव मे दावे के साथ कुछ नही कहा जा सकता।[32]

महाभारत मे स्पष्ट रूप से साख्य के समान एक निश्चयात्मक विचार पद्धति मिलती है।[33] अनुगीता मे पुरुष तथा प्रकृति के भेद की व्याख्या दी गई है।[34] पुरुष ज्ञान का प्रमाता (विषयी) है, जो पच्चीसवा तत्त्व है और इसके विपरीत अन्य चौबीस तत्त्व जो प्रकृति के है। वे ज्ञान के प्रमेय (विषय) है।[35] आत्मा तथा प्रकृति के मौलिक भेद को पहचान लेने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[36] आत्माओं की अनेकता अनुभवगम्य है। जीवात्माए तभी तक अनेक है, जब तक उनका सबध प्रकृति से है, किन्तु जैसे ही वे प्रकृति से अपने पार्थक्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेती है, वे छब्बीसवे तत्त्व 'ईश्वर' के पास लौट जाती है।[37] महाकाव्यो के दर्शन का स्वरूप निश्चित रूप से ईश्वरवादी है और उसमे जो कुछ साख्य के अश विद्यमान है, उन्हे ईश्वरवादी की ओर ही लगाया जा सकता है। स्पष्ट है कि साख्य ने अपना परवर्ती विशिष्ट रूप महाकाव्यो मे भी प्राप्त नही किया था, क्योकि उदाहरण के रूप मे उनमे तन्मात्राओ का वर्णन नहीं है। तत्त्वो की व्याख्या तथा विकास के सबध मे भिन्न–भिन्न विचार मिलते है। इरा विषय मे शास्त्रीय साख्य के प्रति निकटतम पहुच अनुगीता मे पाई जाती है।[38] महाभारत मे आचार्य द्वय पचशिख[39] और असितदेवल[40] के विचारो का उल्लेख किया गया है। आचार्य पचशिख तीन गुणो की

प्रकल्पना को मानते थे। वे पुरुषो[४१] को आणविक आकार का मानते थे[४२] और पुरुषो एव प्रकृति के सबध का कारण कर्म नही, बल्कि भेद का अभाव माना है।[४३]

यदि मान ले कि उपनिषदो, महाभारत, भागवत् आदि का साख्यमत सेश्वर है तो प्रश्न उठता है कि मौलिक साख्या के ईश्वरवादी होने पर प्राचीन वेदान्त से उसका क्या अन्तर होगा, जिसके कारण प्राचीनकाल से ही साख्य एक पृथक् मार्ग माना जाता रहा है, इस सम्बन्ध मे दो मत हो सकते है एक तो साख्य दर्शन का इस सृष्टि का द्विसत्तात्मक 'प्रकृतिपुरुषमूलक' मानना और वेदान्त दर्शन का इसे ब्रह्म अद्वैतमूलक 'एकात्मक' मानना। जबकि दूसरा मत है कि साख्य का चेतनतत्त्व 'पुरुष' को परमार्थत अनेक माना जाय और वेदान्त दर्शन का उसे परमार्थत एक अद्वेतरूप माना। इस प्रकार साख्यमत जहॉ द्वैतवादी है, वही वेदान्त पारमार्थिक अभेद मानने से अद्वैतवादी है। यद्यपि वेदान्त मे भी विभिन्न वाद मिलते है जेसे मध्वाचार्य का द्वैतवादी होना।[४४]

श्वेताश्वर उपनिषद्[४५] मे उल्लिखित कपिल को शकर प्रकृति वेदान्ती साख्य प्रवर्तक कपिल न मानकर साख्यमत को अवैदिक मानते हुए कहते है ''एक तो ऋषि प्रसूत कपिलम् इत्यादि श्रुति मे कपिल का सामान्य रूप से ही कथन है। उनके विषय मे ऐसी विशिष्ट बात नही कथित जिससे अनेक कपिलो मे से साख्य प्रवर्तक विशिष्ट कपिल मुनि का ही उक्त श्रुति मे ग्रहण हो सके। दूसरे यदि उक्त श्रुति मे कपिल पद का अर्थ साख्य प्रवर्तक कपिल ही मान लिया जाय तो भी परमेश्वर की प्राप्ति के प्रसग मे उन्ही का माहात्म्य पदर्शित करने के लिए कपिल की सर्वज्ञता (ऐसा तो जैनी भी मानते है) का उसके अग रूप से किया गया यह वर्णन उस (सर्वज्ञता) का साधक नही हो सकता।[४६] भाष्य की न्यायनिर्णय टीका के रचियता आनन्दागिरि तथा रत्नप्रभा के कृतिकार गोबिन्दानन्द भी यही मत व्यक्त करते है। लेकिन प्रो० गार्बे का विचार है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे कपिल[४७] और मे 'योग' के साथ साख्य शब्द का आना[४८] स्पष्ट करता है कि इस श्रुतिकार को सांख्यमत का निश्चित ज्ञान था।[४९] यही नही, स्वय भाष्यकार शकराचार्य कपिल शब्द का पूर्वोक्त 'हिरण्यगर्भ' अर्थ करने के पश्चात, पुन सप्रमाण सर्वप्रसिद्ध साख्यकर्ता कपिल ऋषि भी अर्थ करते हुए कहते है 'साख्यना कपिलो देवो रुद्राणामसि शकर.' इति परमर्षि प्रसिद्ध। -------- स एव व कपिल· प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टि काले'' और 'अन्यर्थदर्शनस्य

च प्राप्तिरहितस्या साधकत्वात्' इत्यादि। इस सम्बन्ध मे शास्त्री जी का मत है कि "हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस श्रुति मे जिरा कपिल का उल्लेख है, वह साख्य पवर्तक कपिल ही है और यह मत शकराचार्य को भी मान्य है। इसलिए प्रथम कपिल पद का जो अर्थ शकराचार्य हिरण्यगर्भ (कनक कपिल वर्ण) किया है। वह प्रौढिवाद से किया गया है। उसमे श्रुति का स्वारस्य न जानकर ही अन्त मे विस्तारपूर्वक प्रमाण राहित साख्य प्रवर्तक कपिल का उल्लेख माना है।"[५०] यही नही, श्वेताश्वर उपनिषद् मे कई ऐसे स्थल है, जहॉ साख्य मत का उल्लेख किया गया है, जैसे—व्यक्त के साथ अव्यक्त का प्रयोग (१/८), अजा का उल्लेख(१/६) और (४/५), प्रधान का उल्लेख (१/१०) और प्रकृति का प्रयोग(४/१०) मे किया गया हे, साथ मे 'द्वा सुपर्णा सयुजा समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरस्य पिप्पल स्वाद्वत्यनशनन्नन्यो अभिचाकशीति"[५१] मे जीवन ईश्वर और प्रकृति के साथ शरीरादि कार्य का स्पष्ट रूप से पृथक्—पृथक् कथन किया गया है। यह त्रैत राख्यमत की अपनी मौलिकता थी, लेकिन शकराचार्य यहॉ पर अद्वैतवाद ढूढ लेते है।

प्राचीनतम उपनिषद् वृहदारण्यक और छान्दोग्य मे प्रधान या अजा तत्त्व की विवेचना स्पष्ट रूप से नही मिलती है। लेकिन ऐसा अनुमान है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे अजा की कल्पना साख्यदर्शन से आई होगी। लेकिन इस बात से इकार नही किया जा सकता है कि त्रिरूप जगद्योनि का रिद्धान्त छान्दोग्य उपनिषद् मे बीज रूप मे विद्यमान है। मत्र के 'स्वगुणैर्निगूढाम्' पदो से पूर्वोक्त अनुमान और निश्चित हो जाता है। क्योकि भारतीय दर्शन मे जगद्योनी के त्रिगुणो की परिकल्पना साख्यदर्शन की अपनी विशिष्टता है। जिसके आधार पर साख्य का त्रिगुणात्मक प्रधान कारणवाद विकसित हुआ। ऐसे ही श्वेताश्वर उपनिषद् मे कहा गया है —

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बहवी प्रजा सृजमाना सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणाऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगाभजोऽन्य ।।

जैसे साख्मत तीनो गुणो अर्थात त्रिगुणात्मिका प्रकृति को क्रमश श्वेत, रक्त और कृष्ण रूप माना गया है। उसी प्रकार, उक्त मत्र मे भी जगतजननीशक्ति को भी 'लोहितशुक्लकृष्ण" कहा गया है। जिस प्रकार साख्य प्रकृति को 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होने वाली कहता है उसी

प्रकार इस मत्र मे जगत्कर्तृ शक्ति को अजा कहा गया है। इसी प्रकार साख्यमत मे विविध और बहुरूप जगत को एकमात्र प्रकृति से उत्पन्न मानते हुए उसे स्वरूपत उसे त्रिगुणात्मक अथवा बहुविध–स्वगत भेद से युक्त माना गया है। वैसे ही उक्त मत्र मे भी जगतजननीशक्ति रूप अजा को त्रिविध माना है। स्पष्ट है कि मत्र गे जगत का उपादान कारण प्रकृति को माना गया है, ईश्वर को नही। साख्मत के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के विषय मे साख्यसूत्र 'श्रुतिरापि 1zkkud k; BoL, *[५२] मे जिस श्रुति का कथन है। वह आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत मे भी सही है।

लेकिन शकराचार्य के मत मे अजा शब्द से साख्यमत अभिप्रेत नही होता है। यहाँ परमेश्वर से उत्पन्न तेजस, जल और पृथ्वी ही चतुर्विध प्राणी समूह को सृष्टि करने वाली 'अजा' है[५३] और स्पष्ट करते हुए ब्रह्मसूत्रभाष्य[५४] मे कहा गया है कि चूँकि छान्दोग्य उपनिषद् मे इन तीनो की उत्पत्ति परमतत्त्व से मानकर इन्हे क्रमश लाल, सफेद और काला कहा गया है। अत यही श्वेताश्वर उपनिषद् मे 'अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णम्' इत्यादि द्वारा 'अजा' कहा गया है। परन्तु वाच्यार्थ के सम्भव न होने पर ही लक्ष्यार्थ लेना उचित है और न्याय सगत होगा। फिर 'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्'[५५] तथा 'योमोनियोनिमधितिष्ठत्येक'[५६] इत्यादि मत्रो के द्वारा भी उसी परमेश्वर रूप शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। किसी स्वतत्र प्रकृति की सिद्धि नही होती है। यही बात शकराचार्य कठोपनिषद्भाष्म मे भी कहते है, यद्यपि कठोपनिषद् मे इस से कम बाह्य दृष्टि से तो साख्यदर्शन के महत्, अव्यक्त आदि पारिभाषिक पदो का उल्लेख मिलता है। जैसे 'महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष पर'।[५७] परन्तु इसके विरुद्ध शकराचार्य कहते है कि यहाँ 'अव्यक्त' परमात्मा की ही सर्वधारण सामर्थ्यवान अनन्तशक्ति उसी की कारणावस्था माना है न कि साख्य के प्रधान की भाति कोई पृथक् स्वतत्र तत्त्व। इसी 'अव्यक्त' को श्वेताश्वर उपनिषद् मे शक्ति, माया, प्रकृति, प्रधान आदि कहा गया है। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि त्रिरूप जगद्योनि का जो सिद्धान्त छान्दोग्य आदि श्रुतियो मे वर्णित है। वह भाष्यकार शकराचार्य को भी मान्य है। छान्दोग्य उपनिषद् का 'तेजोऽबन्न' एक नही, तीन है। फिर यह 'अज' नही, अपितु ब्रह्म से उत्पन्न है, जबकि सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक होकर भी तीन नही, एक ही है। जो अज और अनादि है। वहीं श्वेताश्वर उपनिषद् जगत के उपादान कारण रूप त्रिगुण शक्ति के अज और एक ही मानता है। हॉ, यह बात और है कि वह इस अज शक्ति को ब्रह्म या परमेश्वर की

शक्ति मानता है।[५८]

डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र का विचार है कि पूर्वोक्त समानताओ के कारण साख्य की प्रकृति सम्बन्धी धारणा छान्दोग्य और श्वेताश्वर उपनिषद् के बीच की कडी हो सकती है। दूसरे शब्दो मे श्वेताश्वरोक्त त्रैगण्य, तथापि एक एव अज अनादि रूप प्रकृति सम्बन्धी मत छान्दोग्योक्त त्रिरूप "तेजाऽबन्न"[५९] से सीधे विकसित न मानकर साख्योक्त त्रिगुणात्मक अजा प्रकृति के द्वारा ही विकासत मानना अधिक युक्तियुक्त लगता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे साख्य सम्बन्धी स्पष्ट है कि साख्य इस त्रुटि के समय से पहले ही वर्तमान रहा होगा। किन्तु शकराचार्य प्रभृति विद्वानो के मतानुसार साख्य और 'कपिल' इत्यादि पदो के लिए साख्यशास्त्र के प्रवर्तक सबसे अधिक श्वेताश्वर उपनिषद् के ही ऋणी हैं। जो भी हो, परन्तु उपरोक्त तर्कों से एक बात स्वमेव सिद्ध है कि शकराचार्य आदि के भगीरथ प्रयत्न के बावजूद साख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति अश्रौत अर्थात् अवैदिक सिद्ध नही होती है। यह ठीक है कि साख्य का यह प्रकृतिवाद श्रुति सम्मत एतद्विषयक सिद्धान्त का अनुकारण मात्र नही है, बल्कि उससे स्वतत्र रूप से विकसति है यही कारण है कि उससे भिन्न है। वेदान्त सूत्रो के कर्ता बादरायण, व्यास से भी पूर्ण मौलिक साख्य निरीश्वरवादी हो गया था। यह मत सूत्रो के तर्कवाद मे साख्य के निरीश्वर प्रकृतिवाद के खण्डन से प्रसिद्ध होता है। चूँकि साख्य अपने प्रादुर्भाव या उद्भव के समय से ही एक पृथक् प्रस्थान माना जाता रहा है। यही कारण है कि यह इसका उपनिषदो से कुछ न कुछ भेद बना रहा है। यही नही, अपितु जब मूल साख्य कभी ईश्वरवादी रहा होगा तो भी उसकी प्रकृति ईश्वर की शक्ति न होकर उससे पृथक् एक स्वतत्र तत्त्व रही होगी।[६०]

शकराचार्य स्वय को श्रुतिवादी एव सम्प्रदायविद् उद्घोषित करते हुए अपने भाष्यो को भी श्रुतिपरक तदुनसारी कहा है। परन्तु इसके विपरीत साख्य श्रुतियो का भाष्य न होकर स्वतत्र विकास है। इस स्वतंत्रता के लिए स्वय श्रुतियो मे भी पर्याप्त अवकाश एव छूट है। इसी का परिणाम है कि महर्षि बादरायण स्वय अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न मत व्यक्त करते है। उपनिषद् मे आत्मा जैसे भेदवाद, अभेदवाद या भेदाभेदवाद आदि। इन सब मतो के अनन्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी द्वैतवाद को श्रुति सम्मत ही मानते है।[६१] साख्यमत के सम्बन्ध मे

विवाद के सन्दर्भ मे डॉ० कीथ[६२] और पुलिन बिहारी चक्रवर्ती[६३] ने पुनर्जन्म सिद्धान्त और निराशावाद के लिए साख्य को बौद्धधर्म का उपजीवी मानते है। ये ऐसा विचार इसलिए व्यक्त करते है क्योकि इनके मत मे साख्य मत मैत्रायणी सहिता से विकसित हुई है। यही नही, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्[६४] भी कुछ अश तक इस मत रो सहमत दिखते है। लेकिन ससार की वास्तविक सत्ता मानने वाला साख्य निराशावादी कैसे हो सकता है? यदि सासारिक सुख को सुखाभास मानने तथा आनन्द को प्रकृति के सत्वगुण का परिणाम मानकर दु ख सम्मिाश्रित बताते हुए त्रिगुण रो ऊपर परमनि श्रेयस को स्वीकार करने के कारण यदि साख्य निराशावादी है तो ऐसे मे सभी उपनिषद् निराशावादी होगे। तब फिर सुख की कसौटी पर केवल मीमासा दर्शन जो कर्ममीमासा भी कहलाता है, ही खरा उतरेगा। जिसकी कटु आलोचना साख्य और वेदान्त दोनो करते है। आनन्दमुक्त जीवन्मुक्ति को स्वीकार करने के कारण साख्य निराशावादी नही हो सकता है क्योकि श्रुतियो मे भी मुक्ति को 'नानन्द न निरानन्दम्' कहा गया है। सभी सत्ताओ को एकमात्र ब्रह्म मे समाहित कर मायोपजन्य मानने वाले अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा प्रकृतिजन्य ससार को वास्तविक मानने वाला साख्य अधिक उन्नत, आशावादी, निरापद एव सामजस्य पूर्ण हो, इसे डा० कीथ भी स्वीकार करते है।[६५] शकराचार्य को परिणामवादी मानते हुए आर० जी० भण्डारकर यहॉ तक कहते है कि शकराचार्य द्वारा अपने परिणामवाद को विवर्तरूप मानना निराधार है।[६६] साख्य मत मे सूक्ष्मशरीर को विभिन्न प्रकार की भूमिकाओ मे कार्य करने वाले नट रूप मे उल्लिखित किया गया है। यह सूक्ष्मशरीर ''बुद्धि–अहकार–मन दशेन्द्रिय पचतन्मात्राए'' का सघात है। आत्मा को कर्ता सिद्ध करने के लिए 'सूक्ष्मशरीर' की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ मे लोकमान्य तिलक का मत है कि लिगशरीर के राम्बन्ध में साख्य मत और औपनिषदीय मत मे एक मत्य है।[६७]

श्वेताश्वर उपनिषद् के ''तथैकनेमि त्रिवृत्र षोऽशात शतर्धार विशाति प्रत्यराभि''[६८] मत्र सख्यात्मक वर्णनशैली में है। प्रो० कीथ उक्त निषयाभेद को अधिक महत्त्व न देते हुए 'सख्यात्मक वर्णन को बहुत कुछ ब्राह्मण सम्प्रदायो रो प्रभावित मानते है।[६९] लेकिन ऐसा मानना ठीक नही है क्योकि 'संख्यात्मक वर्णन' साख्य की अपनी विशेषता है। सांख्यसूत्रो पर आधारित जो 'तत्त्वसमास' नामक अत्यन्त लघु (मात्र २५ सूत्र) ग्रन्थ है उसमे से २२ सूत्रो में तत्त्वो का

विवेचन और विश्लेषण सख्याओ मे ही हुआ है। यही नही, 'साख्यप्रवचनसूत्र' और 'साख्यकारिका' मे भी विषयो का प्रतिपादन सख्याओ द्वारा ही हुआ है। अत श्वेताश्वर उपनिषद् को सख्यात्मक वर्णन के सदर्भ मे साख्यदर्शन से प्रभावित मानना उचित है। क्योकि जो जिस परम्परा का ग्रन्थ है उसी को मूल परम्परा से प्रभावित मानकर उसके प्रामाण्य के विषय मे सदेह प्रकट करना अनुचित है। अत यही कारण है कि प्रो० रिचर्ड गार्बे साख्य दर्शन को श्वेताश्वर उपनिषद् के पूर्व का मानते है।

साख्य दर्शन 'पुरुष' को परमार्थत शरीर के समान धर्मों से रहित मानते हुए सारा कारणकार्यभाव अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृति मे ही मानता है। प्रकृति के तीनो गुण प्रतिक्षण परिणामी होने के कारण निरन्तर अनन्त कार्य, अनन्त परिणाम, अनन्त परिवर्तन उत्पन्न करते रहते है, सभी कुछ उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम है। छान्दोग्य[७०] और वृहदारण्यक[७१] के उपनिषद् मे आत्मा का वही स्वरूप वर्णित है जो साख्य दर्शन मे माना गया है। यद्यपि अभि–भेद के कारण साख्य मत मे एकत्व को स्वीकार नही किया गया है, तथापि उसने समस्त आत्माओ के पारस्परिक एकत्व सम्बधी मत को 'वस्त्वेकत्व' अथवा 'व्यक्त्येकत्व' की दृष्टि से तो नही, अपितु 'जात्येकत्व'[७२] अर्थात् सामान्य चिन्मात्र की दृष्टि से स्वीकार किया है। इस प्रकार साख्य श्रुतियो के साथ अपने 'पुरुष बहुत्व सिद्धान्त' का समन्वय प्रकारान्तर से अवश्य प्रकट करती है। यही नही साख्य पुरूष को चिन्मात्र माना है, चिदानन्द रूप नही।[७३] आत्मा को आनन्द रूप मानने वाले श्रौत वचनो को साख्य दुखभाव का ही प्रतिपादक मानता है साख्यमत मे एक आत्मा को चिद्रूप और आनन्दरूप कहने से द्वित्त्व का भाव आता है। अत आत्मानन्द दुखाभाव रूप ही है। इस प्रकार साख्य मत मे आनन्दरूप आत्मा का श्रौत अभिप्राय 'आध्यात्मिक, अधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुखो से मुक्ति' ही है।[७४] इस प्रकार यहाँ भी साख्य मत श्रुति मतो से यथा कश्चित साम्य रखने का प्रमास करती है आगे साख्यमत है कि मोक्ष को श्रुति आनन्दरूप इसलिए अगीकार करती है, कि सासारिक बन्धनो मे पडे अज्ञजन उसकी ओर आकृष्ट हो।[७५] इस प्रकार साख्य के पुरुष, प्रकृति आदि सम्बन्धी मत श्रुतियो मे भी मिलते है और कुछ अश तक उनमें परस्पर साम्यता भी मिलती है। फिर भी उनमे परस्पर मतवैभिन्य का कारण है, रुचि–भेद और दृष्टिभेद से श्रुतियों को अत्यन्त प्रचीन काल से हीं भिन्न–भिन्न प्रकार से समझा जाता रहा

है। अत कालान्तर मे ऐसे मतभेद और वैषम्य आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही हैं।

यह ठीक है कि उपनिषद् मे साख्य के सकेतो को ढूढने के लिए उपलक्षण रीति को उपादेय बताया गया है, लेकिन सकेत खोजने मे अभेद स्थापन नही किया जाना चाहिए। जैसा कि प्रसिद्ध दार्शनिक अनीमा सेनगुप्ता इस तथ्य को नजर अदाज करके एकत्ववादी उपनिषद् मे एकत्ववादी साख्य को स्वीकार करती है। साख्य की तत्त्वमीमासा मे 'तत्त्व' को सार मात्र मानने से अलग हटकर प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वो की सत्ता स्वीकार की है। तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'युक्तिदीपिका' मे आचार्य वार्षगण्य के मतावलम्बियो के कथन को ही भोजदेव कृत 'तत्त्वार्थप्रकाशिका' मे भी उद्धृत कर तत्त्व को प्रलय पर्यन्त रहने वाला तत्त्व माना है—

आ प्रलय तिष्ठति यत्सर्वेषा भोगदायि च भूतानाम्।
तत्तु तत्त्वामिति प्रोक्त, न शरीर घटादि तत्त्वमत ।।

यही नही, साख्य का द्वितत्त्ववाद वेद और उपनिषद् के साथ 'महाभारत मे' भी मिलता है। यही कारण है कि साख्य की प्रचीनता को ध्यान मे रख्ते हुए लोकमान्य तिलक सम्भावनाओ को आगिग रूप से स्वीकार करते हुए साख्य को सर्वप्राचीन दर्शन मानते है, जो वैदिक परम्परा मे ही विकसित हुआ।[७६] प्रो० गार्बे भी कहते है कि कपिल के ही सिद्धान्त मे सर्वप्रथम मानव मन को पूर्ण स्वतत्रता मिली और उसकी दार्शनिक शक्ति का प्रथम प्रकाशन हुआ।[७७] यही कारण है कि उपनिषद् परम्पराभूत दर्शन पर विचार करते हुए मैक्समूलर[७८] और पुशत्कर[७९] साख्य को भी सभी भारतीय विचारों का उपजीव्य माना है। औपनिषदीय पदावली की ही भाति साख्य के पदो का भी प्रयोग सस्कृत भाषा के लगभग सभी साहित्य मे अविकल एव असकृत् रूप से हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ लोग उपनिषद् और साख्य को समानान्तर मान लेते है। यद्यपि यह सत्य है कि साख्य सर्वत्र अपने स्वरूप मे नही मिलता है जिसका कारण है कथन का प्रकार जनश्रुति के आधार पर प्राप्त ज्ञान अथवा प्रतिपाद्य का स्वरूप।

सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है, अथवा नही, यह विवाद का विषय है। मनु के मत मे वेद के प्रामाण्य को मानने वाला ही आस्तिक है।[८०] साख्य आगम प्रमाणवादी है इसलिए वह आस्तिक

दर्शन है। यद्यपि ईश्वरवादी विचारकगण साख्य को आस्तिक दर्शन की परिधि मे स्वीकार नही करते है।[८१] लेकिन भाट्टमीमासक कुमारिल भट्ट साख्य–योग, पाशुपत, पाचरात्र आदि को बौद्धदर्शन की ही भाति वेद विरुद्ध मानते है।[८२] क्योकि साख्य यज्ञ मे पशुबलि को स्वीकार नही करते है। वही दूसरी ओर भीमाचार्य ने 'न्यायकोष' मे 'परलोकाद्यास्तित्ववादी' को आस्तिक और 'वेदमार्गमननुरुन्धान' को नास्तिक मानते हुए अद्वैत वेदान्त को भी साख्य के समान ही नास्तिक माना है। लेकिन आगम प्रमाणवाद के आधार पर साख्य और वेदान्त आस्तिक है। सत्वादिगुणो के कारण ऊर्ध्वाध लोको (परलोक अर्थात् पुनर्जन्म सम्बन्धी मत) की स्थिति साख्य का विश्वास है। लेकिन यह सब साख्य मत मे त्रिगुण प्रकृति के अन्दर ही है, परम नि श्रेयस या कैवल्य की प्राप्ति त्रिगुण के त्याग पर ही प्राप्य है। प्रो० कीथ भी साख्य को आस्तिक दर्शन मानते है। यहॉ तक की आचार्य पचशिख ने महाभारत[८३] मे वेद निन्दक की आलोचना की है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार महाकाव्य मे वर्णित साख्य दर्शन ईश्वरवादी है। परिणामस्वरूप आप २४ तत्त्वो वाले साख्य को 26 तत्त्वो वाले (26वा ईश्वर) दर्शन से बाद का मानते है।[८४] लेकिन इसके विपरीत डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त 24 तत्त्व वाले साख्य को ही सर्व प्राचीन मानते है। लेकिन तत्त्व–सख्या के आधार पर साख्य की प्रचीनता सिद्ध करना इतना दुरुह कार्य था कि प्रो० हिरियन्ना ने साख्य के इतिहास को अन्धकारमय कहकर टाल गए है।[८५] अत प्रो० हिरियन्ना डा० राधाकृष्णन् के इस मत से सहमत है कि साख्य आज एक जीवित विश्वास नही है।[८६] यह ठीक है कि सृष्टिपदार्थो के आधुनिक सश्लेषण और विश्लेषण की पद्धति तथा अनुसधान यत्रो का ज्ञान आदि विद्वान कपिल महर्षि को भले ही न रहा हो, लेकिन यह कम आश्चर्यजनक नही है कि साख्य और अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्र मे तत्त्वत समानता है। आज सृष्टि को सुसम्बद्ध किया जा सकता है किन्तु यह भी सच है कि अव्यक्त प्रकति से अनेक विध सृष्टि के निकास के विषय मे कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक बताया भी नही जा सकता है। इस स्थिति मे भी साख्य को एक जीवित विश्वास न मानते हुए उसकी प्राचीनता पर सन्देह करना असगतपूर्ण तथ्य है।[८७]

प० श्री कृष्ण शास्त्री तैलग 'साख्यशास्त्र के कर्ता' नामक शीर्षक और महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ कृत 'भारतभावदीप'[८८] में साख्य को वेदान्त दर्शन के रूप मे स्वीकार किया

गया है, साथ मे महर्षि कपिल को इसका उपदेष्टा मानते हुए इस दर्शन को सेश्वर माना हे। इस भ्रम का कारण है महाभारतीय साख्य का सेश्वर होना और यहाँ प्रकृति का ईश्वर से पृथक् तत्त्व होने पर भी उसके सर्वथा अधीन होने के कारण अश, शरीर, कार्य इत्यादि रूप मे कल्पित और कथित है। यही भ्रम शकरभाष्य के टीकाकार गोविन्दानन्द कृत 'रत्नप्रभा'[५९] मे भी व्यक्त होती है। यहाँ टीकाकार ने दो प्रकार के साख्य माने है (1) वैदिक साख्य और (2) अवैदिक साख्य। इसी प्रकार पद्मपुराण मे दो कपिल का उल्लेख है, जिसमे एक को वैदिक साख्य का और दूसरे को अवैदिक अर्थात् वेदविरूद्ध साख्य का उपदेश देते हुए बताया गया है।[६०] इसका कारण है ब्रह्मसूत्रभाष्य[६१] मे श्वेताश्वरउपनिषद्[६२] के सम्बन्ध मे श्वेताश्वर कथित साख्य को वेद विरुद्ध कहा गया है, और इससे सम्बद्ध कपिल को विष्णु अवतार वासुदेव कपिल, जिसे अनेक ग्रन्थो मे साख्य प्रणेता माना गया है, से भिन्न माना गया है।

प्रकृति या ज्ञान के साधन को महत्व देने वाले पुराण एव महाभारत म प्रकृतिवादी कहा गया है, जो साख्य का ही वाचक है।[६३] विष्णुपुराण, जिसे डा० राधाकृष्णन महापुराणो मे मानने का आग्रह करते है, गे शिव और ब्रह्म दोनो प्रकृति को ही सक्रिय तथा पुरुष को निष्क्रिय मानने वाले सिद्धान्त को 'साख्य' कहते है।[६४] इसी प्रकार गुणरत्न 'षड्दर्शनसमुच्चय' मे मौलिक साख्य को बहुप्रधानवादी माना गया है।[६५] प्रकृति और पुरुष के सयोग से प्रथमोत्पादित 'महत्' तत्त्व का उल्लेख 'विश्वात्मा' के रूप मे पुराणादि[६६] मे मिलता है जो साख्य की प्रकृति सिद्धान्त के अनुकूल है, यथा मत्स्यपुराण[६७] मे ब्रह्मा–विष्णु–महेश को 'महत्' से उत्पन्न माना गया है, जो क्रमश रजस–सत्व–तमस गुण की प्रधानता से युक्त है। इसी तरह वायु पुराण[६८] मे भी साख्य प्रतिपादित 'महत्' को ईश्वर या ब्रह्म माना गया है जो अपने अन्दर समस्त जीवनो और शरीरो को धारण किए हुए है तथा प्रत्येक व्यक्तित्व रूप जीव इस अनत विश्वात्मा का अशमात्र है। महाभारत[६९] मे प्रकृति जो परिवर्तित होती है को अविद्या और पुरुष जो सभी प्रकार के परिवर्तनो से उन्मुक्त है, को 'विद्या' कहा गया है।

श्रीमद्भागवद् पुराण के 'साख्य प्रकरण' मे महर्षि कपिल माता देवहूति से कहते है "माँ! जो पुरुष मुझमे चित्त लगाकर श्रद्धापूर्वक एक बार भी इस-साख्य ज्ञान को सुन लेता है अथवा दूसरे के

प्रति कथन करता है, वह मेरे परम पद को प्राप्त करता है'' ।[१००] यही नही, महत् तत्त्व को 'मत्स्यपुराण' मे ब्रह्मा की उपाधि भी माना गया है, जिससे वे सर्वज्ञ, रार्वेश्वर, सर्वकर्ता, सर्वपालक तथा रार्वराहर्ता कहलाए।[१०१] महाभारत के शातिपर्व मे भी कहा गया है ''साख्य के समान कोई ज्ञान नही और योग के समान कोई बल नही[१०२] शकराचार्य साख्य दर्शन और उपनिषद् के बीच निहित भेदो को व्यक्त करते है, जैसे कि उपनिषद् के ईश्वरवाद के विपरीत साख्य निरीश्वरवादी है, उपनिषद् के प्रज्ञानात्मक ब्रह्माद्वयवाद के विपरीत साख्य का द्वैतवाद, उपनिषद् के विवर्तवाद के विपरीत प्रकृतिपरिणामवाद और उपनिषदीय एकात्मवाद को विपरीत साख्य का पुरुषबहुतत्त्ववाद। फिर ब्रह्मसूत्रभाष्य[१०३] मे कहते है ''अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियो के होने पर भी साख्ययोग स्मृतियो मे ही निराकरण मे प्रयत्न किया गया है क्योंकि ये दोनों लोक मे परमपुरुषार्थ के साधन के रूप मे प्रसिद्ध है शिष्ट महापुरुषो द्वारा गृहीत है तथा ''तत्कारण साख्ययोगभिपन्न ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै[१०४] इत्यादि श्रौत लिगो से युक्त है। प्रो० गार्बे का मत है कि साख्य दर्शन का उद्भव उपनिषदो के 'प्रज्ञानाद्वैतवाद' के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी।[१०५] लेकिन यह मत उचित नहीं है, क्योकि कारिकाओ से पूर्व का साख्य मत औपनिषदीय धारणा के काफी करीब है फिर ऐसी मान्यता मात्र शकराचार्य की है कि उपनिषदो मे मात्र प्रज्ञानाद्वैतवाद ही है। जबकि ब्रह्मदत्र, भर्तृप्रपच भाष्कर इत्यादि वेदान्तियो ने औपनिषदीय धारणा को ब्रह्मपरिणामवादी बताया है, फिर प्रकृतिपरिणामवाद का विरोध कहॉ तक उचित है?

महाभारत मे अनेक स्थलो पर साख्य के राम्बन्ध मे ईश्वरवादी होने के साक्ष्य मिलते है। यहॉ तक कि शातिपर्व मे आचार्य आसुरि को अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादक बताया गया है[१०६] और साख्य दार्शनिक के सम्बन्ध मे उनका 'यथा श्रुतिनिदर्शिन', 'ब्राह्मणस्तत्त्वदर्शिन'[१०७] इत्यादि कथन ईश्वरवादी होने की पुष्टि करता है। गीता मे भी साख्य के प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप मे ईश्वर का कथन हुआ है – जैसे हे अर्जुन! मेरी अध्यक्षता मे ही प्रकृति चराचर जगत को उत्पन्न करती है और इस कारण से सृष्टिचक्र सदा घूमता रहता है।[१०८] इस प्रकार पुराण, महाभारत और गीता मे प्रकृति को परमेश्वर से अभिन्न बताते हुए उसका ही एक रूप या अश अथवा उससे ही उत्पन्न माना गया है। यही कारण है कि अनेक विद्वान इस साख्य परम्परा को विशुद्ध मौलिक साख्य मानने से इकार करते है। इस विषय मे लोकमान्य तिलक का मत है कि – ''महाभारत मे साख्य मत का निर्णय कई अध्यायो मे किया गया है। परन्तु उसमे वेदान्त

मतो का भी सम्मिश्रण हो गया है। इसलिए साख्य के शुद्ध साख्यमत को जानने के लिए दूसरे अन्य ग्रन्थो को भी देखने की आवश्यकता है। इस काम के लिए उक्त साख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अन्य अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस सम्बन्ध मे उपलब्ध नही है।[१०६] यही नही, और आगे कहते है। गीता मे साख्यवादियो के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुई है'।[११०] उक्त मत का समर्थन करते हुए प्रो० गार्बे भी मानते है कि साख्य एक स्वतत्र मस्तिष्क की उपज होने के साथ –साथ महाभारत के रचना के पूर्व ही विकसित हो चुका था।[१११] प्रो० जैकोबी साख्य दर्शन को भौतिकवादी मानते हुए इसका विकास औपनिषदीय परम्परा से मानने का विरोध करते है, लेकिन डा० कीथ इसके विरुद्ध कहते है, स्पष्टत साख्य विशुद्ध अमिश्रित भौतिकवादी विचारधारा से कदापि कथमपि विकसित नही हो सकता। इसका जन्म तथा विकास ऐसे भौतिकवाद से मानना पडेगा जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा हो। इस प्रकार फिर वही समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि भौतिकतत्वो के विरुद्ध पुरुषो की सत्ता स्थापित करने वाली विचारधारा कहॉ से आई? इसका सरल और स्पष्ट उत्तर है कि यह विचारधारा उपनिषदो से ही विकसित हुई है।[११२] जैकोबी महोदय का यह विचार कि साख्य एक पूर्ववर्ती भौतिकवादी सप्रदाय का ही परिष्कृत रूप है, प्रमाणित नही होता है। परमार्थ सत्ता तथा आत्मा के स्वातत्र्य पर आग्रह रहने के कारण साख्य ने मानसिक प्रतीति सबधी समस्त भौतिकवादी विचारो के विरुद्ध प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया साख्य के विकास मे हमे कोई भी अवस्था ऐसी प्रतीत नही होती। जहॉ पर इसका भौतिकवाद के साथ साम्य प्रदर्शित किया जा सके।[११३]

अश्वघोष के 'बुद्धचारित' मे हमे महात्मा बुद्ध तथा उनके भूतपूर्व शिक्षक 'अराड' की भेट का वर्णन मिलता है, जो साख्यसिद्धान्तो को मानता था। यद्यपि उनमे ईश्वरवादिता का प्रभाव था। यह अधिक संभव प्रतीक होता है कि साख्य का सबसे पूर्व का रूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वरवाद था, जो उपनिषदो के विशिष्टाद्वैत के समीप पहुॅचता है। साख्य के इस प्रकार के रूप को तो उपनिषदो के उपदेशो का युक्तियुक्त परिष्कृत रूप माना जा सकता है। किन्तु द्वैतवादी साख्य को, जो पुरुषो के अनेकत्व तथा प्रकृति की स्वतत्रता पर बल देता है, और परमतत्व के वर्णन को बिल्कुल छोड देता है, उपनिषदो की शिक्षाओ के अनुरूप किसी भी अवस्था मे नही कहा जा सकता। प्रश्न उठता है कि साख्य ने तो परमतत्त्व के सिद्धान्त को

सर्वथा छोड दिया, वह कैसे हुआ क्योकि इसको साथ लेकर ही तो साख्य दर्शन को सतोष जनक माना जा सकता था। बौद्धदर्शन के उदय के पश्चात् तक साख्य ने एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूप धारण नही किया था। जब बौद्धधर्म ने यथार्थवाद को चुनौती दी, तो साख्य ने उस चुनौती को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप साख्य ने आत्माओ तथा प्रमेय पदार्थो की यथार्थता के पक्ष मे युक्तियुक्त आधार पर तर्क उपस्थित किया। जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियुक्त आधार पर हुआ तो इसे बाध्य होकर यह स्वीकार करना पडा कि ईश्वर की सिद्धि मे कोई प्रमाण नही है।[११४] 'विष्णुसहस्रनाम' की व्याख्या करते हुए शकराचार्य 'व्यास स्मृति' के एक श्लोक[११५] को उद्धृत करते है, जिसके अनुसार साख्य 'शुद्धात्मतत्त्व विज्ञान' है। अपने सैद्धान्तिक पर्यवेक्षण के द्वारा आत्मा को निष्फल, निष्क्रिय, निरवद्य, प्रकृति व्यतिरिक्त आदि सिद्ध करने के कारण साख्यशास्त्र का यह नाम अन्वर्थक है।

ब्रह्मसूत्र के रचनाकार महर्षि बादरायण और उसके भाष्यकार शकराचार्य ने तर्कपाद मे साख्य का युक्तिपूर्वक खडन करने के साथ कई स्थानो पर साख्य के उपनिषदमूलक होने का भी खण्डन किया है।[११६] शकराचार्य साख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' (प्रमुख प्रतिपक्षी) मानते है। उनके अनुसार साख्य द्वैतवादी होने के कारण श्रुतिमूलक (उपनिषद्) नही है इस खण्डन विवाद का कारण ऐसा लगता है कि साख्य इसके पूर्व श्रुतिमूलक माना जाता रहा हो। अत सभावना है कि सांख्य अपने प्रारभिक रूप मे श्रुतिमूलक और ईश्वरवादी रहा हो। बाद मे बौद्ध–जैन के प्रभाव के कारण निरीश्वरवादी और वस्तुवादी हो गया हो।[११७] यद्यपि साख्य निरीश्वरवादी और द्वैतवादी भले हो गया हो। लेकिन (14वी–16वी सदी) मे साख्य को उसके श्रुतिमूलक होने की धारणा शंकराचार्य के एक अन्य खण्डन विद्या मे झलकती है।[११८] यह अवश्य है कि साख्य मत का जो एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है, वह 'साख्य कारिका' है। जो द्वैतवादी, निरीश्वरवादी और वस्तुवादी साख्य का उल्लेख करती है, फिर सांख्य परम्परा उपनिषदीय परम्परा से भी पुरानी थी। अत उसके कुछ मामलो मे उत्तर होना स्वाभाविक है। एक लम्बे समयोपरान्त सांख्यप्रवचनसूत्र और उसके भाष्य (१४वी–१६वी सदी) मे साख्य को ईश्वरवादी मानने की वकालत की गई थी।

स्पष्ट है कि साख्य के प्रारम्भिक स्वरूप के सबध मे मतभेद है। लेकिन यह सच है कि साख्यदर्शन अपने अस्पष्ट वैज्ञानिक स्वरूप के साथ अत्यन्त प्रचीन काल से विद्यमान रहा है। फिर भी किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव मे इसका उद्भव काल का निर्धारण मुश्किल ही नही, असम्भव भी प्रतीत होता है।

पाद टिप्पणी .

१ – द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्योऽभि चाकशीति।।

ऋग्वेद – १/१६४/१२०।।

२ –Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp -81-85

३ – ऋग्वेद १०/२७/१६

४ – Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 6-7

५ – Journal of Vadic studies, vol-I, Pt -II, The Vedas and their religious teaching, vol -I, pp-1-19

६ – शास्त्री, प० उदयवीर, साख्य दर्शन का इतिहास, पृ० – ६

७ – भागवद् पुराण – ३/२५/१

८ – महाभारत और पुराणो में साख्य दर्शन, पृ० – ३

९ – Origin & development of Samkhya system of thought, pp-25-28, 38-39, 44, 106

१०– History of Indian Philosophy, vol -I, pp-216-218, vol -III, pp- 470-475

११– वृहदा० उप० – २/४ व १४, ३/४ व २, ४/३ व १५, मुण्डकोपनिषद्–३/१

१२– कठोपनिषद् – ३/१६ व ११, ६/७ से ११

१३– प्रश्नोपनिषद – जिसके सोलह तत्त्वो की सत्ता के साथ साख्य के सूक्ष्म शरीर की तुलना। ऋग्वेद १०/१२/१, महाभारत – १२/३११,३

१४– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-129, Keith, Samkhya system, pp-14-15, E.N

नृसिंहतापनीय – 'गर्भ' तथा 'चूलिका मे सब साख्य के सिद्धान्तो से अत्यन्त प्रमाणित है।

१५– मैत्रायणी उप० – ३/२, छान्दोग्य उप० – ६/३

१६– मैत्रायणी उप० – २/५, ५/२ कुछ विद्वान तीनो गुणो के विचार को छान्दोग्य उपनिषद मे वर्णित तीन रगो से सबध समझते है, जिनकी पुनरावृत्ति श्वेताश्वर उपनिषद मे भी की गई है।

१७– मैत्रायणी उप० – ६/१०, Keith, Samkhya system, pp-60, साख्य मे ऐसा विषय विवरण सहित कम है, जो उपनिषदो मे किसी न किसी स्थान पर न मिल सके।

१८– Samkhya system, pp-59-61

१९– Samkhya system, pp-60, The great epic of India, pp-81ff, Garbe Samkhya Philosophy pp-3ff

२०– Origin & development of samkhya system of thought pp-26-29

२१– Glimpses of Upnishad, C H I, Vol-I, pp-64-71

२२– छान्दोग्य उपनिषद्– ४/१/४

२३– Glimpses of Upnishad, C,H,I, Vol-I, pp-70-74

२४– छान्दोग्य उपनिषद्– ६/३/३ और ४

२५– साख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४०–४१

२६– गीता रहस्य, पृ०– १५४–१६०

२७– वृहदारण्यक उपनिषद्– १/४/३

२८– वृहदारण्यक उप०– १/२/५ व १/४/६

२९– Evolution or Samkhya school of thought, pp-59-69, Birds eye view of Upnisad, Cambrindge history of India, Vol-I, pp-41-62

३०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-213-214

३१– Samkhya system, p-7

३२– मिश्र, डॉ० आद्याप्रसाद, साख्य दर्शन का इतिहास, पृ०– २२–२५

३३– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-409-411

३४– महाभारत– १४/५०व८

३५– महाभारत–१२/३०६, ३६–४०

३६– महाभारत–१२/३०७, २०

३७– महाभारत – १२/३५०, २५–२६, १२/३५१, २–४

३८– महाभारत –१४/४०–४२

३६– महभारत –१२/२१६, १२/३२१,६६–११२,

४०– महाभारत– १२/२७४

४१– साख्य प्रवचन भाष्य– १/१२७

४२– योगभाष्य और तत्त्ववैशारदी– योगसूत्र १/३६ पर

४३– साख्य प्रवचन भाष्य– ६/६८

४४– मिश्र, डॉ० आद्याप्रसाद, साख्यदर्शन का इतिहास, पृ०– २७

४५– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

४६ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१

४७– श्वेताश्वर उप०– ५/२

४८– श्वेताश्वर उप०– ६/१३

४६– Samkhya system, p-46 ff

५०– Samkhya system, p-16

५१– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/८, १/६व ४/५, १/१०, ४/१० और ४/६

५२– साख्यरात्र– ५/१२

५३– श्वेताश्वर उपनिषद् भाष्य–'इदानीं तेजोऽबन्न लक्षण प्रकृतिछान्दोग्योपानिषत्प्ररिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति अजामेकामिति'

५४– ब्रह्मसूत्रभाष्य– १/४/६; श्वेताश्वर उपनिषद्– १/१ और १/३

५५– श्वेताश्वर उपनिषद्– ४/१०

५६– श्वेताश्वर उपनिषद्– ४/११

५७– कठोपनिषद्– ३/१०/११, साथ मे ६/७/११

५८– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/६,४/५,१/१०

५६– छान्दोग्य उपनिषद्– ६/२/१३

६०–मिश्र, डॉ० आद्याप्रसाद, साख्य दर्शन का इतिहारा, पृ०– ३४–३५

६१– सत्यार्थ प्रकाश, खण्ड II, अध्याय IV-'प्रकृति ओर तीन गुण'

६२– Samkhya system, pp 18-20

६३– Origin & development of Samkhya of thought, ff 35-37

६४– Indian Philosopsy ,Pt- II , pp 250-251

६५– Samkhya system, p- 39 &fn

६६– Bhandarker commemoration vol, p-160

६७– गीता रहस्य, पृ०– ५२७–५२८

६८– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/४

६९– Samkhya system, p-11

७०– छान्दोग्य उपनिषद्– एष आत्मा अपहतयाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपास (८/१/५)

७१– छान्दोग्य उपनिषद्– योऽशनायापिपासशोक मोह जरा मृत्युमत्येति (३/५/१)

७२– साख्य सूत्र –नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्(१/१५४), नाद्वैतमात्मनो लिगात् तद्भेद प्रतीते (५/६१),

न श्रुति विरोधो रागिण वैराग्याय तत्सिद्धे (६/५१)

७३– नैकस्यानन्दाचिद्रपत्वे द्वयोर्भेदात् ।।साख्सूत्र–५/६६।।

७४– दुखनिवृत्तेगौर्ष· ।।साख्सूत्र–५/६७।।

७५– विमुक्ता प्रशसामन्दानाम् ।।साख्यसूत्र–५/६८।।

७६– गीता रहस्य, पृ०– १४६–१५०

७७– Philosophy of Ancient India, p- 30

७८– Six system of Indian Philosophy, p- 320 ff

७९– Studies in the Epics and Puranas, p-14

८०–"नास्तिको वेद निन्दक"।। मनु स्मृति– २/११६।।

८१– Indian philosophy vol -II, p 20

८२– तन्त्रवार्त्तिक – १/३/४

८३– महाभारत– १२/२१८

८४– Indian philosophy, Vol-II, p-253 fn3

८५– Outline of Indian philosophy, p- 267

८६– Indian philosophy, vol -II p-23, Outline of Indian Philosophy, p-267

८७– गीता रहस्य, पृ०– १५२–१५३

८८– महाभारत. शातिपर्व– २१८/२०, २१ और ३००/२ की टीका पर

८९– ''कपिल शब्द मात्रेण साख्यकर्त्ता श्रौत इति भ्रान्तिरयुक्ता, तस्य द्वैतवादिन सर्वज्ञत्व भोगात्। अत्र च सर्वज्ञान सम्भृतत्त्वेन श्रुत कपिलोवासुदेवाश एव। स हि सर्वात्मत्वज्ञान वैदिक साख्यमुपदि शतीति सर्वज्ञ इति भाव''

९०– ब्रह्मसूत्र भाष्य – २/१/१ पर डॉ० बेल्भकर की टिप्पणी, पृ० – ४

९१– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१ ''यातु श्रुति कपिलस्य ज्ञानातिशय प्रदर्शयन्ति, न तया श्रुति विरुद्धमपि कपिल मत श्रद्धातुशक्यम्, कपिलमति श्रुति सामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणा प्रतप्तुर्वा सुदेवनाम्न स्मरणात्।

९२– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

९३– ज्ञानव्यक्तमित्युक्त ज्ञेयो वै'पचविशक। तथैव ज्ञानमव्यक्तविज्ञातापचविशक।।ब्रह्मपुराण,२४३–२४६, महाभारत– १२/३०६/४० व १२/३०७/६

९४– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-II, pp-664,Fn-3

९५– 'मौलिक साख्या हि आत्मानमात्मान प्रति पृथक् प्रधान वदन्ति'

९६– भागवत पुराण– १/३/२२३, अविज्ञेय ब्रह्माग्रे समवर्तत– विष्णुपुराण

९७– सविकारात् प्रधानातु महत्तत्व प्रजायते। महानित्य यत ख्यातिर्लोकाना जायते सदा। गुणेभ्य क्षोभ्यमानेभ्यस्त्रयो देवा विजाज्ञिरे। एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।।

९८– चौथा अध्याय, वायुपुराण

९९– महाभारत– १२/११४१६

१००– श्रीमद्भागवद् पुराण– ३/३२/४३

१०१– सविकारात्प्रधानात्तु महत्त्वमजायत। महानिती अत ख्यातिर्लोकाना जायते तदा।। मत्स्यपुराण।।

१०२–नास्ति साख्यसमज्ञानं, नास्ति योगसम बलं ।। महाभारत शातिपर्व–३१६/२।।

१०३–ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/४

१०४— श्वेताश्वर उपनिषद्— ६/१३

१०५— Samkhya,pp-189, XI of Encyclopeadia of Religious & Ethics

१०६— महाभारत शान्तिपर्व — २१८/१४

१०७— महाभारत शान्तिपर्व — ३०२/२१

१०८— श्रीमद्भागवत् गीता — ६/१०

१०६— गीता रहस्य, प्रकरण "कपिल साख्य शास्त्र", पृ० — १६१

११०— १०६— गीता रहस्य, प्रकरण "कपिल साख्य शास्त्र", पृ० — १७५

१११— Samkhya Philosophy, pp-54-59

११२— Samkhya system, pp-58, Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-251

११३— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-217

११४— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-219

११५— शुद्धात्मात्त्वविज्ञानम् साख्यमिति अभिधीयते — व्यासस्मृति

११६—ब्रह्मसूत्र भाष्य — १/४/१—३, १/१/५—११, २/१/१—३

११७— शर्मा, सी० डी०, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृ० — १३७

हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २६७

११८—ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/२/१—१०

द्वितीय अध्याय

सांख्य दर्शन का विकास

साख्य दर्शन दार्शनिक विचारो के उदाहरण भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्राप्त होती है। जिसमे साख्याचार्यों की एक लम्बी गुरू–शिष्य परम्परा वेदिक काल से ही श्रुति प्रमाणित हे। साख्यमत की प्रतिष्ठा परमर्षि कपिल द्वारा माना जाता हे, तदोपरान्त अनेक साख्याचार्यों ने इस मत को पोषित ओर पल्लवित किया, किन्तु आचार्य ईश्वर कृष्ण आज एक मात्र प्रमाणित कृतिकार हे, जिसके द्वारा साख्यमत की सुसवद्ध सेद्धान्तिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई,, साख्यमत के प्रमुख आचार्यों सवधी विवरण इस प्रकार हे –

(I) महर्षि कपिल

साख्य मत का प्रवर्तक महर्षि कपिल को माना जाता है, यद्यपि उनकी ऐतिहासिकता को लेकर अनिश्चय की स्थिति है। डा० कीथ[1] यह मानते हे कि महाकाव्य मे दार्शनिक विवेचन के सन्दर्भ मे महर्षि कपिल का स्थान महत्वपूर्ण हे। किन्तु वे महर्षि कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नही मानते। उनके मत मे 'कपिल' पद का प्रयोग शकराचार्य ने 'हिरण्यगर्भ' के रूप मे किया हे तथा सस्कृत साहित्य मे कपिल की एकात्मकता अग्नि, विष्णु शिव आदि से की जाती है। डॉ० हरिदत्त शर्मा[2] भी मानते हे कि कपिल की ऐतिहासिकता के सवध मे कोई प्रबल प्रमाण नही मिलता। डा० एस० राधाकृष्णन् की ब्रह्मसुत, अग्न्यावतार, विष्णवातार आदि अनेक प्रकार के वर्णन देखकर महर्षि कपिल को आख्यानात्मक अर्थात् काल्पनिक ही मानते है। डा० कविराज[3] के अनुसार नाथ सम्प्रदाय तथा प्राचीन रसायनशास्त्र के अनुयायियो के साहित्य मे भी उनको 'सिद्ध' माना गया है। ऐसा ही मत भगवद्गीता मे भी मिलता हे। किसी न किसी रूप मे किए गये अपने वैयक्तिक प्रयत्नो से प्राप्त हुई, जन्म–सिद्धि के दृष्टात रूप से उनका प्रायेण उल्लेख किया जाता है। योगसूत्रभाष्य मे एक सूत्रात्मक उद्धरण[4] प्राप्त हुआ, जिसे आचार्य वाचस्पति मिश्र पचाशिखाचार्य को मानते है। जिससे स्पष्ट होता हे कि कपिल महर्षि ने 'तन्त्र' अर्थात् गूढ ज्ञान (नागत साख्य सिद्धान्त अथवा षष्टितन्त्) का उपदेश अपने जिज्ञाशु शिष्य को दिया था। निर्माणकाय की कल्पना से ध्वनित होता हे कि गुरू का अपना कोई भौतिक शरीर नही था और इसलिए शिष्य आसुरि के सम्मुख उनका प्रकट होना कोई ऐतिहासिक घटना नही है किन्तु इस

अर्थ मे यह घटना नि सन्देह ऐतिहासिक थी कि शिष्य आसुरि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिनके द्वारा साख्य मत का उद्धार काल विशेष मे होने वाली वास्तविक घटना थी। जिसका उल्लेख भागवद् पुराण[५] मे किया गया है।

डा० कविराज 'निर्माण चित्तधिष्ठाय'– के कारण महर्षि कपिल को लोक स्वीकृत अर्थ मे ऐतिहासिक नही मानते है। वे निर्माणचित्त पद का अर्थ निमार्णकाय करते है, इसे 'पाद टिप्पणी– मे स्पष्ट करते हुए कहते है कि 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' वास्तव मे एक ही है। आचार्य पतजलि, व्यासदेव, पचशिख, उदयन आदि 'निर्माणकाय' का प्रयोग इसी अर्थ मे करते है। यही नही बौद्ध लेखको ने भी प्रचलित 'काय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। वास्तव मे सिद्ध चित् और काय की आश्चर्यजनक एकता उत्पन्न कर देती है, परिणामस्वरूप उससे उत्पन्न वस्तु 'चित्त' और 'काय' दोनो ही कही जा सकती है। निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व महर्षि कपिल ने एक सिद्ध देह धारण किया था तथा शिष्य आसुरि को साख्य ज्ञान का रहस्य प्रदान करने के लिए उनके सम्मुख प्रकट हुए थे।[६] लेकिन अन्य अवतारो को ऐतिहासिक मानकर विष्णु को इस पञ्चम् अवतार, जिसका विस्तृत जीवन–परिचय भागवत पुराण के तीसरे स्कन्ध मे मिलता है, को अनैतिहासिक कैसे माना जा सकता है। दूसरी तरफ शिख्योपदेश घटना को ऐतिहासिक मानना परन्तु गुरू को अनैतिहासिक मानना अत्यन्त विरोधाभासपूर्ण हे। डा० कविराज महर्षि कपिल को सिद्ध–पुरुष मानकर स्वरचित अयोनिज शरीरवाला मानते है किन्तु शरीर को अभोतिक मानना सगतपूर्ण नही है।[७]

महर्षि पतजलि, व्यासदेव और वाचस्पति मिश्र निर्माणचित्त और निर्माणकाय को परस्पर भिन्न मानते है तथा निर्माणकाय अर्थात् सिद्ध देह को भी वे भौतिक ही मानते है। योगसूत्र मे[८] पॉच प्रकार के सिद्धियो–जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि का वर्णन है। इसमे प्रथम जन्मसिद्धि का उल्लेख महर्षि कपिल के सबध मे होता है। इसके स्वरूप के सबध मे योगसूत्रभाष्य मे 'देहान्तरिताजन्मनासिद्धि'[९] अर्थात् किसी जन्म गे सम्पादित एक अथवा अनेक विशिष्ट कर्मो के फलस्वरूप जन्मान्तर मे किसी दृष्ट साधन अथवा प्रयास के बिना ही परिचिन्तज्ञता, दूरदर्शन आदि विशिष्ट शक्तियो का अविर्भाव[१०] कहा गया है। यहॉ योगभाष्य[११] का मत है कि सिद्धि योगी जब अपने विद्यमान शरीर और इन्द्रियो मे परिणत करना चाहता है, तब उस दूसरी योनि के

शरीर और इन्द्रियो की प्रकृतियॉ–उनके उपादान कारण–उनकी उत्पत्ति मे सहायक होती है। इस सबध मे आचार्य वाचस्पति मिश्र भी मानते है कि साख्ययोग के अनुसार सभी शरीरो की प्रकृति पृथ्वी इत्यादि भूत है और समस्त इन्द्रियो की प्रकृति 'अस्मिता' (अहकार) है और सिद्धि योगी भी अयोनिज सिद्ध देह की रचना पृथ्वी आदि भूतो से ही करता है। ऐसे ही इनके निमार्णचित्त होते है, जो मौलिकचित्त से भिन्न होते है। जेसा कि योगसूत्र मे माना गया है, इसके भाष्यकार व्यासदेव[१२] कहते है कि चित्त के उपादान कारण 'अस्मिता' को लेकर सिद्धयोगी स्वरचित शरीरो के लिए पृथक्–पृथक् चित्त की रचना करते है।

उदयनाचार्य भी मानते है कि निर्माणकाय को निर्माणचित्त का उपलक्षण समझना चाहिए, उससे अभिन्न नही है।[१३] इसके समर्थन मे भाष्यकार वात्स्यायन ने भी योगी के पृथक्–पृथक् इन्द्रियो तथा शरीरो की रचना का उल्लेख किया है।[१४] नैयायिक मन को नित्य मानकर मन और शरीर को पृथक् करते है और कहते है कि जब योगी सिद्धि के बल पर अयोनिज शरीर एव इन्द्रियो की रचना करता है, तो वह मुक्त आत्माओ के बेकार हुए मनो को लेकर पूर्वकृत कर्मो के फल के रूप मे विषयोपलब्धियो का भोग कर लेता है। अत निर्माणकाय और निर्माण चित्त एक नही है। आचार्य हरिहरानन्द आरण्यक[१५] महर्षि कपिल को ऐतिहासिक मानते हुए शकराचार्य के उद्धवरण पर 'कपिल' को 'हिण्यगर्भ' से तादात्म्य कर अनैतिहासिक मानने का खण्डन करते हुए कहते है कि भगवान हिरण्यगर्भ योग के मूल वक्ता है, जैसा कि 'हिण्यगर्भोयोगस्यवक्ता–नान्यन पुरातन' इत्यादि उद्धरण महाभारत मे मिलते है। इस कथन मे 'हिरण्यगर्भ' शब्द परमर्षि कपिल का ही नामान्तर है, जैसाकि 'विद्यासदायवन्तमादित्यस्थ समाहित' इत्यादि अन्य महाभारतीय कथन मे कहा गया है कि 'हिरण्य' अर्थात् अत्युज्ज्वल प्रकाशशील ज्ञान है, 'गर्भ' अर्थात् आन्तरिक सार जिसका वह पूर्ण सिद्ध विश्वाधीश 'हिरण्यगर्भ' है। जन्मसिद्ध, धर्मज्ञान आदि गुणो की समता के कारण महर्षि कपिल का एक नाम 'हिरण्गर्भ' भी था।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे महर्षि कपिल के अनेक रूपो का उल्लेख है। अत उनका व्यक्ति परिचय विवादास्पद रहा है। महर्षि कपिल को अग्न्यावतार अथवा ब्रह्मसुत अथवा विष्ण्वातार माना जाता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे साख्य दर्शन एव महर्षि कपिल का उल्लेख

साथ–साथ हुआ है।[१६] महाभारत के गीता[१७] ओर शान्तिपर्व[१८] मे महर्षि कपिल को साख्य मत का प्रवर्तक कहा गया है। वनपर्व के सगरोपाख्यान मे महर्षि कपिल को वासुदेव कहा गया है,[१९] तो वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड[२०] मे सगरपुत्र ओर वासुदेव कपिल–सबधी घटना का सविस्तार वर्णन हुआ है। यही नही, भागवद् पुराण मे कर्दम ऋषि ओर देवहुति से उत्पन्न 'कपिल' को विष्णु अवतार माना गया है, जो साख्य प्रवर्तक के रूप मे प्रसिद्ध हुए।[२१] लेकिन दूसरी और महाभारत[२२] और वायुपुराण[२३] के आधार पर महर्षि कपिल को अग्न्यावतार माना जाता है, तो महाभारत[२४] मे ही महर्षि कपिल को भगवान ब्रह्मा के सप्तपुत्रो मे से एक मानते है उन्हे साख्य विशारद द्वारा सज्ञापित किया गया हे। इस महाभारती मत के समर्थन मे गोडपादाचार्य 'साख्यकारिकाभाष्य मे 'इह' भगवान 'ब्रह्मसुतो कपिलोनाम' कहा है। द्वविशति–सूत्री 'तत्त्वसमास' की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका मे भी महाभारत की भॉति कपिल नामक दो पृथक्–पृथक् ऋषियो का उल्लेख है, जिसमे एक को 'तत्त्वसमास' का रचयिता तथा दूसरे को 'साख्यप्रवचनसूत्र' का रचयिता कहा गया है। इसमे पहले को विष्णु और दूसरे को अग्नि का अवतार माना गया है। प० श्री कृष्णशास्त्री तैलग महर्षि कपिल को ब्रह्मसुत मानते है, परन्तु अपने स्रोत का कोई उल्लेख नही करते, और न ही ऐसा मत ही कही मिलता है। क्योकि साख्यसग्रह ओर एशियाटिक सोसायटी बगाल के सग्रह मे सुरक्षित पाण्डुलिपि 'कपिलसूत्रवृत्ति' मे भी 'ब्रह्मसुत' पद का उल्लेख नही है। स्वय आचार्य भिक्षु अपने षड्अध्यायी 'साख्यप्रवचनसूत्रभाष्य' मे कहते है कि महर्षि कपिल वास्तव मे विष्णवतार ही थे ओर अग्नि तेज के कारण वे अग्न्यावतार वैसे ही कहलाये, जैसे श्रीकृष्ण को काल कहा गया। ऐसा लगता है कि महाभारत मे भी सगर पुत्रो को भष्म करने के कारण ही महर्षि कपिल अग्न्यावतार कहलाये, यही सहितार्थ भी था।[२५] प० उदयवीर शास्त्री भी यही मानते हुए अग्न्यावतार का निराकारण कर भगवान ब्रह्मा से वरदान और ज्ञान प्राप्त करने के कारण वे 'ब्रह्मसुत' नाम से लोकश्रुत हुए मानते है, जबकि वास्तव मे महर्षि कपिल, जो साख्य प्रवर्तक थे, विष्णु के अवतार थे।[२६]

शकराचार्य का मत है कि श्वेताश्वर उपनिषद्[२७] के आधार पर जिस कपिल का उल्लेख होता है, वेद विरुद्ध है। अत 'कपिल' नाम साम्य के आधार पर इन्हे साख्यप्रवर्तक नही माना जा सकता । वास्तव में यहॉ सगर पुत्रों को भष्म करने वाले वासुदेव 'कपिल' से भिन्न कपिल का

उल्लेख है।[२८] लेकिन टीकाकार आनन्दगिरि[२९] शकरभाष्य का अर्थ लगाते है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे वासुदेव कपिल का उल्लेख है, जो अवैदिक साख्य प्रणेता महर्षि कपिल से भिन्न है। लेकिन यह मत असगत है क्योकि महाभारत, भागवतपुराण आदि के कथन साख्य प्रणेता महर्षि कपिल को वेद विरुद्ध नही मानते है। यही कारण है कि प० उदयवीर शास्त्री ने उक्त मत मे भाष्यकार का स्वरूप नही माना है।[३०] शकराचार्य अपने भाष्य मे कहते है कि श्रुति[३१] मे आये कपिल का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' है। लेकिन इसी पद का इस अर्थ के विकल्प रूप से लोक प्रसिद्ध परमर्षि कपिल अर्थ भी शकराचार्य करते है और अपने समर्थन मे विष्णु पुराण आदि से प्रमाणो को भी उद्धृत किया है।[३२] इस विरोधा पूर्ण स्थिति पर प० उदयवीर शास्त्री कहते है कि "इसलिए शकराचार्य ने ब्रह्मसुत्र भाज्य मे एक प्रसग[३३] के अनन्तर एक पक्ति 'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहिस्यासाधकत्वात्', लिख दी है जिससे उनके ह्रदय का स्पष्टीकरण हो जाता है। स्पष्ट है कि इस श्वेताश्वर श्रृति मे साख्य का प्रसिद्ध प्रणेता महर्षि कपिल ही उपादेय है भले ही उसका उल्लेख प्रसगवश आया हो। वास्तव मे शकराचार्य के अनुसार उक्त दोनो अर्थ हिरण्यगर्भ और महर्षि कपिल से साख्यविदो का यह अभिप्रेत कथमपि सिद्ध नही होता कि साख्य दर्शन और उसके उपदेष्टा महर्षि कपिल श्रृति मे प्रामाणिक घोषित किए गये है लेकिन इससे शकराचार्य महर्षि कपिल की ऐतिहासिकता को अवश्य स्वीकार करते है। षड्दर्शन के व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति मिश्र 'परमर्षिणा'[३४] का अर्थ कपिलेन करते है और सासाद्धिक भावो का उदाहरण देते हुए 'यथा सर्गादावादि विद्वान भगवान कपिलो -----------[३५] लिखते है। वही 'तत्त्ववैशारदी'[३६] मे महर्षि कपिल को विष्णु का पचम अवतार मानते हुए साख्य प्रणेता आदि विद्वान के रूप मे स्वीकार किया गया है, जिन्होने लोककल्याणार्थ आचार्य आसुरि को साख्य मत का उपदेश दिया था।

महर्षि कपिल की ऐतिहासिक स्वीकृत के बावजूद उनका काल निर्धारण एक कठिन कार्य है, परन्तु यह माना जाता है कि आप वर्तमान कल्प के किसी आदिम अर्थात् प्रागैतिहासिक काल मे अवतीर्ण हुए थे। किन्तु इनके जन्म स्थान के सबध किसी प्रकार का निश्चय करना अत्यन्त दुष्कर है, फिर यहॉ ऐसे विषयेतर प्रसग का उल्लेख करना उचित भी प्रतीत नही होता।

पचशिखसूत्र की पक्ति "आदिविद्वान निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्यादभगवान् परमर्षिरासुरये

जिज्ञासमानाय तत्र प्रोवाच'' सर्वाधिक प्राचीन ओर प्रामाणिक उद्धरण है, जिसमे महर्षि कपिल के उपदेश को 'तत्र' को कहा जाता है। इराके समर्थन मे आचार्य ईश्वर कृष्ण भी इस ज्ञान को 'तत्र' कहते है।[३७] आगे की दो अन्तिम कारिकाओ[३८] मे स्पष्ट करते है कि शिष्य परम्पराओ से प्राप्त हुए इस ज्ञान को आचार्य ईश्वर कृष्ण ने प्रस्तुत सत्तर आर्याओ द्वारा सक्षेप मे रख दिया है। इन सत्तर कारिकाओ मे जो पदार्थ निरूपित है, वे नि सदेह समस्त 'षष्ठितत्र' नामक ग्रन्थ के ही प्रतिपाद्य विषय है। केवल उसकी आख्यायिकाए तथा परमत खण्डन इसमे नही है । अत स्पष्ट है कि उक्त 'तत्र' का तात्पर्य ''षष्ठितत्र'' स ही है, जिसके महर्षि कपिल प्रथम उपदेष्टा थे। अत्यन्त प्राचीन टीका 'मुक्तिदीपका' मे भी कपिलोक्त दर्शन के लिए 'तत्र' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[३९] जिसमे 'पारमर्षस्यतत्रस्य' मे 'पारमर्ष' महर्षि कपिल के लिए आया है, और तत्र शब्द उनके दर्शन के लिए। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शकराचार्य[४०] 'स्मृति' की व्याख्या करते हुए महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत तत्र नामक स्मृति का उल्लेख करते है।

'कल्पसूत्र' नामक जैनग्रन्थ के प्रथम प्रकरण मे महावीर स्वामी को 'सट्ठितन्त्र विसारये' कहा गया है, जिसका अर्थ व्याख्याकार यशोविजय 'षट्टितन्त्र कपिलशास्त्र तत्र विशारद पण्डित' अर्थात् महावीर स्वामी ने कपिलशास्त्र षष्टितंत्र मे विशेष योग्यता प्राप्त की, करते है। पाचरात्र की सर्वप्रसिद्ध कृति अहिर्बुध्न्यसहिता[४१] के बारहवे अध्याय मे कहा गया है कि 'अत्यन्त प्राचीन काल मे भगवान विष्णु का सकल्प साख्य रूप मे कपिल ऋषि से जिस प्रकार से प्रकट हुआ था, वह सब मुझसे सुनो। महामुनि का वह 'साख्य' नामक शास्त्र साठ भागो वाला स्मृतितत्र कहा जाता है, यहॉ 'षष्टि भेद स्मृत तत्र' से षष्टितन्त्र ही अभिप्रेत है।

विद्वान गुणरत्न[४२] षष्टितत्रोद्धार का उल्लेख करते हुए आचार्य आसुरि द्वारा प्रचारित और आचार्य पचशिख द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरीय साख्य सिद्धान्त को महर्षि कपिल की रचना मानते है, लेकिन इसका कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता । आचार्य द्वय वाचस्पति मिश्र और नारायण तीर्थ के अनुसार 'षष्टितत्र' किसी निश्चित मत का ग्रन्थ न होकर साठ विषयो का समूह अथवा योजना का उल्लेख मात्र था। षष्टितत्र के सबध मे यही मत जैन ग्रथ 'अनुयोगद्वारसूत्र' मे भी मिलता है। अहिर्बुध्न्यसहिता[४३] के अनुसार साख्य ईश्वरवादी दर्शन है, जिसमे साठ विभाग है,

इस विभाग के भी दो भाग है, एक मे बत्तीस विभाग प्रकृति के और दूसरे मे अट्ठाइस विभाग विप्रकृति के है। तत्त्वकौमुदी[४४] मे राजवार्तिक का एक दृष्टान्त है, जिसके अनुसार षष्टितत्र नाम प्रकृति सबधी साठ विषयो का इसके एकत्व का ओर पुरुष से भेद आदि का प्रतिपादन करने के कारण पडा। एक चीनी परम्परा मे षष्टितत्र का रचनाकार आचार्य पचशिख को माना गया है तो कुछ अन्य लोग आचार्य वार्षगण्य को इसका कृतिकार मानते है।[४५]

कुछ लोगो के मत मे षष्टितत्र के कृतिकार महर्षि कपिल नही है, अपितु आचार्य पचशिख थे। पण्डित रामावतार शर्मा का मत है कि कारिका का 'बहुदाकृति तन्त्र'[४६] और 'समाख्यात'[४७] के आधार पर स्पष्ट है कि महर्षि कपिल ने केवल उपदेश दिया था, जबकि 'तन्त्र' की रचना आचार्य पचशिख ने किया था। यही नही, चीनी परम्परा मे भी षष्टितन्त्र को आचार्य पचशिख की कृति मानी गई है। लेकिन डॉ० कीथ[४८] और डॉ० हरदत्त शर्मा[४९] इसे भ्रान्तिपूर्ण मानते है। पडित उदयवीर शस्त्री के दो तर्क[५०] इस सबध मे अतिमहत्वपूर्ण है, एक तो उक्त कारिकाश मे 'बहुदा' शब्द है, जो गुरू–शिष्य की लम्बी परम्परा का द्योतक है, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका और माठरवृत्ति मे भी हुआ है। दूसरे आचार्य पचशिख स्वय अपने परम गुरू महर्षि कपिल के उपदेश को 'तत्र' कहते है। साख्यसप्तति की जयमगला द्वारा और स्पष्ट करते हुए इस विषय मे कहा है[५१] कि षष्टितत्र द्वारा प्रपिपादित साठ पदार्था की आचार्य पचशिख ने एक एक खण्ड मे व्याख्या किया था। इस प्रकर आचार्य पचशिख 'तन्त्र' व्याख्याकार थे, कृतिकार नही। जबकि दूसरी ओर योगसूत्र के भाष्य[५२] पर टीका करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी की अवतरणिका मे 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि' और ब्रह्मसूत्रभाष्य[५३] की व्याख्या करते हुए आचार्य मिश्र भामती की अवतरणिका मे 'अतएवयोगशास्त्र व्युत्पादयिताहस्य भगवान वार्षगण्य' लिखा है। उक्त दोनों के आधार पर वालराम उदासीन प्रभृति विद्वान षष्टितन्त्र के रचयिता आचार्य वार्षगण्य को मानते है, परन्तु यह कथन पूर्वोक्त विवेचन के विरुद्ध है। प्रो० हिरियन्ना[५४] और पडित उदयवीर शास्त्री[५५] भी मानते है कि षष्टितन्त्र के कृतिकार आचार्य वार्षगण्य नही, महर्षि कपिल थे। आचार्य वार्षगण्य भी आचार्य पचशिख की भॉति षष्ठितन्त्र के व्याख्याता हो सकते है। फिर भी यदि हम आचार्य पचशिख अथवा वार्षगण्य को तन्त्र का रचनाकार मान ले तो इससे तन्त्र को गद्यात्मक कृति माननी पडेगी। क्योकि योगभाष्य आदि ग्रन्थो मे उक्त दोनों

आचार्यो के जो उद्धारण मिलते है वे गद्य मे है। जबकि षष्टितन्त्र के प्राप्त उद्धरण श्लोकात्मक पद्य मे है जो आचार्य वाचस्पति मिश्र के तत्त्ववेशरदी ओर भामती मे उद्धृत है।

स्पस्ट है कि षष्टितन्त्र के मूलकृतिकार महर्षि कपिल ही थे। लेकिन मूल षष्टितत्र के उपलब्ध न होने के कारण प्रश्न उठता है कि वर्तमान मे कोन–सा ग्रथ इसका प्रतिनिधित्व करता है? आचार्य ईश्वर कृष्ण का मत है कि महर्षि कपिल द्वारा आचार्य आसुरि को दिया गया उपदेश का सक्षिप्त रूप साख्यकारिका मे उद्धृत है।[५६] जवकि सबसे पृथक् प० उदय वीर शास्त्री का मत है, जो षडाध्यायी 'साख्यप्रवचनसूत्र' को महर्षि कपिल कृत 'षष्टितन्त्र' मानते है और साख्यकारिका को इसी का सक्षिप्त रूप। क्योकि आचार्य ईश्वर कृष्ण की अडसठ कारिकाओं का सिद्धान्त भूत प्रतिपाद्य विषय साख्य–षडाध्यायी के प्रथम तीन अध्यायो का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिसका आचार्य ईश्वर कृष्ण ने उसी अनुपर्वो के साथ सक्षेप दिया है। स्वय आचार्य ईश्वरकृष्ण कहते है, मैने षष्ठितन्त्रोक्त आख्यायिकाओ और परवादो को छोड दिया है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय मे आख्यायिका तथा पचषष्ठ अध्यायो मे पर वादो का वर्णन है।[५७] प० शास्त्री दो बातो के आधार पर साख्यसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध करते है–एक तो साख्यसूत्र के उद्धरण प्राचीन ग्रथो मे नही मिलते और दूसरे साख्यसूत्र मे अनेक अर्वाचीन आचार्यो के नाम, उनके विचारो एव सिद्धान्तो का अनेकश उल्लेख हुआ।

ईस्वी चौदहवी शताब्दी के बाद साख्यसूत्र की रचना मानने के विपरीत पन्द्रहवी सदी के वृत्तिकार अनिरुद्ध ने इस पर 'वृत्ति' नाम से सर्वप्रथम व्याख्या करते हुए गथ के प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट[५८] कर देते है कि सूत्र के रचनाकार महर्षि कपिल ही है। इनके पश्चात् ऐसा ही मत आचार्य विज्ञानभिक्षु 'श्रुत्य विरोधिनीरूप पत्ती षडध्यायीरूपेण विवेक शास्त्रेण कपिलमूर्ति भगवानुपदिदेश' कहते हुए मानते है। टीकाकार आचार्य अप्यय दीक्षित[५९] १/७६ और १/१६ व १/७ को उद्धृत करते हुए महर्षि कपिल को ही साख्यसूत्र का कृतिकार मानते है। साख्यसूत्र का 'सत्वरजसतमसासाम्यावस्था प्रकृति'[६०] का उल्लेख सूत्रसहिता के टीकाकार माधवाचार्य 'तात्पर्यदीपिका' में 'अतएव साख्यरुच्यते सत्त्वरजस्तमोगुणाना साम्यवस्था मूलप्रकृति इति'' और साख्यकारिका मे टीकाकार गौडपाद 'सत्वरजस्त्मसा साम्यावस्था प्रधानम्' व 'प्रकृति सत्वरजस्तमसा

साम्यावस्था' कहकर व्याख्या करते है। यहॉ प० उदयवीर शास्त्री के अनुसार जो अर्थ सूत्र और कारिकाओ मे समान रूप से उपलब्ध होते है, उनके निर्देश के लिए माधवाचार्य ने अधिक प्रचार के कारण कारिकाओ को ही उद्धृत किया है, परन्तु जो अर्थ केवल सूत्रो मे ही है, उनके लिए सूत्र को उद्धृत करना पडा है।[६१] जैनाचार्य सिद्धर्षि जिनका समय नवी शदी का उत्तरार्द्ध है, ने 'उपमितिभव प्रपञ्चकथा' और न्यायवार्तिककार उद्योतकर जो छठी शदी के है, ने न्यायसूत्र ४–१–२१ भाष्य मे साख्य सूत्र के १/६१ के पूर्वोक्त अश का उल्लेख करते है। यही नही बल्कि इरा रूत्र का उल्लेख सुश्रुतराहिता[६२] और पाचरात्र के अहिर्बुध्न्यसहिता[६३] मे भी किया गया है।

एक अन्य सूत्र 'अणुपरिमाणतत्'[६४] के सन्दर्भ मे नैषधचरित मे विद्वान माल्लिनाथ ने 'अणुपरिमाणमनिसूत्रणात्'[६५] लिखा है। स्पष्ट है कि यहॉ साख्यसूत्र की ही बात की गयी है क्योकि न्यायवैशेषिक मन को विभु रूप मानते है। साख्यसूत्र की प्राचीनता का सबसे निश्चित और प्रबल प्रमाण न्यायसूत्र के आचार्य वात्स्यायन कृत भाष्य मे मिलता है। न्यायसूत्रभाष्य[६६] मे मन को भी इन्द्रिय बताकर तज्जन्य ज्ञान को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न माना गया है । लेकिन प्रश्न उठता है कि न्यायरात्र गे गन को इन्द्रिय नही गाना गया है औन न ही योगरात्र मे अथवा न ही अन्य किसी भारतीय दर्शन मे, साख्य दर्शन को छोडकर , आचार्य वात्स्यायन के अनुसार 'तत्रान्तर रागाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यग' अर्थात् 'दूरारे तन्त्र या शास्त्र मे ऐरा मिलता है' इससे स्पष्ट है कि यहॉ तन्त्र का अर्थ कारिका नही है क्योकि आचार्च वात्स्यायन आचार्य ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती थे, अत यहॉ साख्यसूत्र का ही सन्दर्भ है क्योंकि साख्सूत्र[६७] के 'कर्मेन्द्रिय बुद्धिन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्' और 'उभयात्कम्मन ' के अनुसार मन को इन्द्रिय भी माना गया है। साख्याचार्य देवल, जिनकी प्राचीनता का प्रमाण पुराण, महाभारत और ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वारा सिद्ध है, के नाम से एक उद्धरण याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य[६८] भी देते है। इस उद्धरण के 'अशक्तिरष्टाविशतिधा', 'तुष्टिर्नवधा' और 'सिद्धिरष्टधा' साख्यसूत्र[६९] मे तथा 'षोडश विकारा ' दशमूलिकार्था त्रिविधोवन्ध ' और 'त्रिविधिदु खम', तत्वसमाससूत्र[७०] मे अक्षरस मिलते है, इसके साथ ही थोडे भेद के साथ अनेक सूत्र, साख्यसूत्र और तत्त्वसमाससूत्र मे मिलते है। आचार्य देवल का उद्धृत सन्दर्भ विद्वान अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त प लक्ष्मी धर भट्ट के 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ के मोक्ष काण्ड मे भी उपलब्ध है और दोनो स्थलो के पाठो मे

कोई अन्तर नही है। पुनश्च साख्यप्रवचनसूत्र अर्थात् साख्य सूत्र की अर्वाचीनता को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क दिये जाते है –

(१) साख्यप्रवचनसूत्र मे कई ऐसे सूत्र है जो अन्य ग्रन्थो मे ज्यों के त्यो मिलते है। यथा 'आवृत्ति –रस' 'कृदुपदेशात्'[७१] ब्रह्मसूत्र का ४/१/१, 'वृत्तय पञ्चतथ्य क्लिष्टाक्लिष्टा'[७२] योगसूत्र का १/५, 'हेतुमनित्यमव्यपि सक्रियमनेकमाश्रितम् लिगम्'[७३] दसवी साख्यकारिका की प्रथम पक्ति, 'सामान्यकरणवृति प्राणाद्या पञ्चवायव,'[७४] उन्नीसवी साख्यकारिका की द्वितीय पक्ति 'सात्विकमेका दशकम् प्रर्वतते वैक्रितादहकारात्,'[७५] पच्चीसवी साख्यकारिका की प्रथम पक्ति जिसमे 'सात्विकैकादशक' मिलता है और आदेऽशन्ति योगइतिपचशिख' व 'अविवेक निमित्तो वा पञ्चशिख' आचार्य पञ्चशिख के नाम इन दो सूत्रो[७६] का उल्लेख किया जाता है, उक्त उद्धरण के आधार पर साख्यप्रवचनसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है। प्रो० मैक्समूलर के अनुसार तत्त्वसमाससूत्र तो प्राचीन है किन्तु साख्यदार्शनिको द्वारा जिस श्रुति की अपेक्षा की जाती थी उसी की साख्यूत्रो मे बार–बार दुहाई दी गयी है।[७७] लेकिन यह मत असगत है श्रुतियो की अपनी स्वतन्त्र समझ के कारण साख्य को अवैदिक श्रुति विरुद्ध घोषित कर उसकी निन्दा की जाती है। इसी दृष्टि से देखने के कारण साख्यप्रवचनसूत्र मे श्रुति प्रमाण की मान्यता उस पर वेदान्त आदि श्रौत दर्शनो के परवर्ती प्रभाव का फल प्रतीत होता है। यही करण है कि प्रो० मैक्समूलर प्रभृति इसे अर्वाचीन मानते है। ऋषि वामदेव की प्राचीनता, प्राचीनतम् उपनिषद् वृहदारण्य मे 'तद्वयततपश्यन ऋर्षिवामदेव प्रतिपदेहमनुर्भवसूर्यश्य'[७८] से सिद्ध है। ऋषि वामदेव के ब्रह्म दर्शन के साथ होने वाले सर्वात्मभाव के लिए परोक्ष भूतकाल की सूचना देने वाले विहरुप 'प्रतिपदै' का ही प्रयोग हुआ है। जबकि ऋषि सदानन्द ब्रह्मसुत होने से और आचार्य पचशिख होने से महर्षि कपिल के समकालीन होगे।[७९]

(२) अर्वाचीन नगरो के नामोल्लेख वाले सूत्र[८०] जो वास्तव मे प्रक्षिप्त प्रतीत होते है, जैसे नवायाभ्यान्तर योरूपस्योपरंजकभावोपि देशभेदात् सुध्नपाटलिपुत्रस्थमोरि व'।

(३) जिन सूत्रो मे परवर्ती न्याय वैशेषिक आदि के नाम मत आदि के उल्लेख के साथ

खण्डन–मण्डन किया गया है। उसे उनके उदभव काल को देखते हुए साख्यप्रवचनसूत्र मे प्रक्षिप्त ही माने जा सकते है। प्रथम अध्याय के २५व सूत्र मे वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया गया है। प्रथम अध्यााय के एक से छठे सूत्र तक म मोक्ष ओर सात से १६वे तक मे बन्ध के स्वरूप पर विचार किया गया है।' 'ननित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावस्य तद्योगस्तयोगादृते'[८१] जिसका अर्थ है स्वभावत शुद्ध बुद्ध और मुक्त आत्मा का तद्योग (तद्+योग) अथार्त् बन्ध–योग अर्थात प्रकृति–योग के बिना नही हो सकता है लेकिन प्रश्न है कि बिना निमित्त के यह प्रकृति योग कैसे सम्भव है? जिसके उत्तर मे सूत्रकार 'तद्योगाऽप्यविवेकान्तसमानत्वम्'[८२] अर्थात् तद्योग अविवेक के कारण होता है। शब्दकृत ओर अर्थकृत दोनो ही सबधो के आधार पर पहले सूत्र के ठीक अनन्तर दूसरा सूत्र आना चाहिए, इसलिए नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि २०वे से ५४वें सूत्र तक कुल ३५ सूत्र प्रक्षिप्त है। ये सूत्र प्रकरण विरुद्ध तथा पुनरुक्त आदि दोषो से मुक्त है, यही नही, इनकी पारस्परिक असंबद्धता इनके प्रतिपाद्य विषयो पर सामान्य दृष्टिपात करने से भी स्पष्ट हो जाती है।[८३] जेसे अन्तिम सूत्र जिसमे न 'कर्मणाप्यतधर्मत्वात्'[८४] और 'अतिप्रसक्तिस्यधर्मत्व'[८५] को एक ही साथ १/१६ मे 'तथा न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रशक्तेश्च' और 'निर्गुणादिश्रुतिविरोद्धश्चेति'[८६] को एक ही सूत्र मे 'असगोऽयम् पुरुषेति'[८७] कहा गया है। उक्त सूत्रो की पुनरुक्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार अनिरुद्ध वृत्ति मे १/५२, १/५३, १/५४ क्रम है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु १/५३ के 'इति' पाठ के असगत के कारण इसे १/५४ कर दिया है एव अनिरुद्धवृत्ति के १/५४ को १/५३ किया गया है। फिर भी 'इति' पाठ प्रसग से सगतपूर्ण नही है।[८८]

साख्यसूत्र का पाचवॉ प्रकरण 'मुक्ति' प्रकरण हे जो ७४ से ११६ वे सूत्र तक चलता है इसमे ७६, ८० और ८४ से ११५ तक सूत्र प्रक्षिप्त जान पडते है। ७६ वॉ एव ८० वॉ सूत्र क्रमश ७८ व ८३वे सूत्र के समान भाववाले है जबकि इनमे ८४वॉ सूत्र २/२०वे और १०३वॉ सूत्र ३/११ व १२ के आधार पर पुनरुक्ति है। इसी प्रकार १०४ से ११० तक सूत्र २/२०–३३ के सूत्रो के पुनरुक्ति है, जो इन्द्रिय, उनकी वृत्ति तथा रचना रा सम्बन्ध होने के कारण प्रकरण से असगत है। १०२ वॉ सूत्र साख्य मत के विरुद्ध है, क्योकि इसके अनुसार स्थूल शरीर पचभूतनिर्मित नही है।[८९] इसी प्रकार १११ और ११२ वा सूत्र साख्यगत का नही हो सकता है,[९०] क्योकि इनके

अनुसार शरीर भेदो के साथ शरीर को पार्थिक मानकर चार भूतो से निर्मित माना गया है। ८५ से १००वें सूत्र मे न्याय–वैशेषिक, बौद्धादि मत का विवरण और खण्डन है, जबकि ये मत साख्य की स्थापना के बहुत बाद के है। इसी प्रकार १०१वे सूत्र का प्रकरण से पूर्वापर कोई सबध नही रख्ता है। ११३ से ११५ वे सूत्र मे शरीर के साथ प्राण के सबध का निरूपण किया गया है। ११४ और ११५ वॉ सूत्र परस्पर विरोधी[९१] होने के साथ ११३वे सूत्र की भाति ही प्रकरण के पूर्वापर सूत्रो से कोई सबध नही रखता है। इस प्रकार उपरोक्त मुक्तिप्रकारण मे ३४ सूत्र प्रक्षिप्त है।

साख्यसूत्र के १/२४, २/१८ और २/३१ को साख्य कारिका के कमश १०, २५ और २६वे का पररचित मानकर साख्यसूत्र को साख्यकारिका के आधार पर निर्मित मानते है, परन्तु हम आगे देखेगे कि यह अतार्किक और असगत है जैसे कि सूत्र हेतुमदनित्य सक्रियमनेकमाश्रित लिगम्'[९२] ही अनिरुद्धवृत्ति मे भी दिया गया है। किन्तु आचार्य विज्ञानमिक्षु के भाष्य मे 'हेतुमदनित्यमव्यादि ---------' रूप मिलता है। अत प्रतीत होता है कि अव्यायि बाद मे जुडा है, अन्यथा आचार्य अनिरुद्ध इतने महत्वपूर्ण पद की व्याख्या अवश्य करते, अत इसे कारिका[९३] से अनुकृत नही माना जा राकता है। इरी प्रकार रात्र 'सात्विकमेकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्'[९४] को कारिका 'सात्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्'[९५] नहीं माना जा सकता है, क्योकि सूत्र मे 'सातिवकमेंकादशक' पूर्वसूत्र के आधार पर नपुसकलिग मे है।[९६] जबकि कारिका का उद्धरण अपनी पूर्व कारिका के आधार पर पुलिग मे है। आगे कारिकाकार को पूर्वार्ध मे 'सर्ग' तथा उत्तरार्ध मे 'गण' पद का ही प्रयोग करना पडा।[९७] लेकिन सूत्रकार के लिए किसी प्रकार की छन्द सबधी विवशता नही थी। अत या तो सूत्र को कारिका के समान होना चाहिए था या फिर अन्य सूत्रो की भाति उससे पर्याप्त भिन्न होता, केवल लिग भेद का कोई प्रयोजन नही दिखाई देता है। अन्त मे' सामान्याकरणवृत्ति प्राणाद्या वायव पञ्च'[९८] सूत्र को सामान्यकरण वृति प्राणाद्यावायष पञ्च'[९९] इस कारिका की अनुकृति कहा गया है, लेकिन ब्रह्मसूत्र २/४/६ के भाष्य मे पूर्वपक्ष की व्याख्या करते हुए 'तत्रान्तरीय याभिप्रायात् समस्तकरणवृत्ति प्राण इति[१००] प्राप्तम्। एव तत्रान्तरीया आचक्षते–सामान्याकरण वृत्ति प्राणाद्या वायव पञ्च' इति कहा गया है। यहॉ पूर्वपक्ष के दो भाग है, एक श्रुति पर आधारित है, दूसरा तन्त्रान्तर (वेदान्त से भिन्न शास्त्र विशेष) पर। 'आचक्षते' तथा 'इति' पदो के प्रयोग से सर्वदा स्पष्ट है कि सामान्याकरणवृति---

-----------' शास्त्र विशेष का अक्षरस उद्धरण है। उक्त कारिकाजन्य पाठ हिन्दी अनुवाद के छपे हुए शाकरभाष्य सस्करणों[१०१] मे ही मिलता हे, जबकि साख्यसूत्र का मौलिक प्रामाणिक पाठ 'सामान्याकरण वृति -----------' ही है।

इस प्रकार साख्य सूत्र २/३३ और योगसूत्र १/५ दोनो मे 'वृत्तय पञ्चतथ्य क्लिष्टा' तथा साख्यसूत्र ४/३ और ब्रह्मसूत्र ४/१/१ दोनो मे आवृत्तिरस 'कृदुपदेशात' ही है। यह मूलत साख्यसूत्र का ही उद्धरण है जिसे बाद मे अन्य सूत्रकारो ने स्वीकार कर लिया था। यद्यपि सम्पूर्ण 'साख्यप्रवचन सूत्र' महर्षि कपिल की कृति नही हे परन्तु प्रक्षिप्तो को छोडकर शेष सूत्रो मे ही परमर्षिकी कृति समाविष्ट है। लेकिन प० उदयवीर शास्त्री[१०२] अहिर्बुध्न्यसहिता मे उल्लिखित 'षष्टितत्र' पर विचार करते समय 'साख्यकारिका' और उसके व्याख्याकार आचार्य द्वय वाचस्पति मिश्र और नारायण तीर्थ के व्याख्यान का आश्रय लेते है, न कि साख्यसूत्र (साख्यप्रवचनसुत्र) का। इसी प्रकार बुद्धचरित के 'अराडवृत्तात' मैं आए साख्यसिद्धान्त की विवेचना 'तत्त्वसमास' के आधार पर करते है न कि साख्यसूत्र के आधार पर प० शास्त्री[१०३] जिस सूत्र[१०४] के द्वारा विशेष रूप से साख्यसूत्र की प्राचीनता सिद्ध कर इसे महर्षि कपिल की कृति मानते है, किन्तु आगे इस ग्रथ का सशोधन आयुर्वेद के सश्रुतिसहिताकार द्वारा स्वीकार करते है।

ऐसा लगता है कि षष्टितत्र के वाद 'तत्त्वसमास'[१०५] की रचना हुई और तत्पश्चात् उसकी व्याख्या के रूप मे साख्यसूत्र की प्रस्तुति की गयी। पण्डित शास्त्री तत्त्वसमास एव साख्यसूत्र दोनो को प्राचीन मानते है। लेकिन प्रश्न उठता है कि यदि षष्टितत्र एव तत्त्वसमास महर्षि कपिल प्रणीत होकर भी प्रक्षिप्तों से बचे रह गये तो फिर साख्य सूत्र क्यो प्रक्षिप्त रूप मे ही रह गया। अत यह माना जा सकता है कि साख्यसूत्र प्राचीन भले मान लिया जाय किन्तु वह महर्षि कपिल की कृति नही हो सकती । इस वात को सभी स्वीकार करते है कि तत्त्वसमास एव साख्यसूत्र के बीच शताब्दियो का अन्तर है।[१०६] साख्यसूत्र मे अचेतन वर्ग को ''सात एक सोलह'' या 'प्रकृति विकृति' 'प्रकृति केवल विकृति' के रूप में उल्लेख किया गया है है जो कारिकानुसार[१०७] है। पण्डित शास्त्री द्वारा साख्यसूत्र को तत्वसमास के एकीकृति मानना सगति पूर्ण नही लगता,

एक तो यहाॅ मनुस्मृति, महाभारत, पुराण ,बुद्धचरित चरक सहिता , आचार्य पचशिख द्वारा तत्त्वसमास की कृति के साथ उसमे निहित सदर्भो के उल्लेख को नजरन्दाज कर दिया गया है, दूसरे जब तत्त्वसमास का उल्लेख हुआ तो वहाॅ उसकी सहकृति साख्यसूत्र का उल्लेख क्यो नही किया गया? यहाॅ तक कि साख्यसूत्र के प्रथम तीन अध्याय साख्यकारिका के क्रमश एक, बीस, इक्कीस, सैतीस और अडतीस–उनहत्तर कारिकाओ के अनुरूप है, फिर भी जहा सूत्र ईश्वरवादी gSogh d kfjd k fujh'ojoknh gS a d hFk[१०८] और कार्वे[१०९] दोनो २/१८, २४ और ३१ वे सूत्र के आधार पर साख्यसूत्र को कारिका का अनुभागी मानकर उसकी अनुकृति मानते है तो दूसरी ओर मैक्समूलर,[११०] प्रो० हिरिएन्ना,[१११] डॉ० राधाकृष्णन,[११२] पुलिनबिहारी चक्रवर्ती[११३] प्रभृति विद्वान भी साख्यसूत्र को अर्वाचीन कृति ही मानते है। इस मत के समर्थन मे पण्डित राजाराम शर्मा[११४] साख्य सूत्र के पाचवैं अध्याय के मगल विषयक सूत्र को नव्य न्याय के अनुरुप मानते है।

साख्यसूत्र के छ अध्यायो मे से तीन अध्याय मे साख्य सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है। चौथे मे दृष्टान्त रूप मे कहानियाॅ, पाचवे मे अन्य भारतीय दार्शनिको के मतो का खण्डन और अन्तिम अध्याय उपसहार का है। साख्यसूत्र मे एकेश्वरवादी के प्रति अधिक समन्वयात्मक प्रकृति दिखाई देती है उक्त सबध मे गोर्वे[११५] के अनुसार विशेषकर सूत्रो के रचनाकार उस अत्यन्त असभव स्थापना के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने मे अथक प्रयास करते है। साख्य दर्शन की शिक्षाए एक शरीरधारी ईश्वर के सिद्धान्त, ब्रह्म की एक सर्वतोग्राही एकता के सिद्धान्त, ब्रह्म को आनद स्वरूप मानने के सिद्धान्त ओर दिव्य लोक की प्राप्त को उच्चतम लक्ष्य मानने के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध नही है, जिन्हे १/९५ व १/५४, ५/६४, ६८ व ११० तथा ६/५१, ५८, ५६ मे स्पष्टत देखा जा सकता है। नि सन्देह साख्यसूत्र मे अनेक स्थानो पर सरलता के साथ दिखाई देने वाले वेदान्त के प्रभाव के परिणाम मिलते है। सबसे अधिक स्पष्ट रूप मे ४/३ सूत्र[११६] मे जो वेदान्त सूत्र (ब्रह्म सूत्र) ४/१/११ की क्रमश पुनरावृत्ति है और ५/११६ वे सूत्र[११७] मे साख्य के प्रसिद्धवाक्य के स्थान पर वेदान्त की परिभाषिक सज्ञा 'ब्रह्म रूपता' का प्रयोग किया गया है। अत ऐसा माना जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य साख्य और ईश्वरवादी वेदान्त के अन्तर को न्यून करना था। सभवत यही कारण हे कि अधिकाश विद्वान इसका रचना काल १४वी शताब्दी मानते है। यही नही, इस ग्रथ का उल्लेख कारिका के प्रथम टीकाकार

आचार्य गौडपाद, माधवायार्य[११८] और गुणरत्न[११९] प्रभृति विद्वान नही करते है, जबकि ये साख्यकारिका का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है। साख्यसूत्र पर पहला भाष्य १६वी शताब्दी मे लिखा गया । अत प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि यह पहले से ही विद्यमान था तो उसका उल्लेख अथवा उसकी व्यख्या पहले क्यो नही हुई? फिर इसमे अन्य दर्शनो का सुचारु रूप से खण्डन किया गया है जिनका उद्भव साख्यसूत्र के बहुत बाद हुआ। आचार्य वाचस्पति मिश्र उससे अभिज्ञ नही है। यहाँ तक कि इतिहासविद् अलबरुनी जो ११वी सदी का है, आचार्य ईश्वर कृष्ण और गौडपाद के ग्रथो का उल्लेख करता है किन्तु साख्यसूत्र का उल्लेख कहीं भी नहीं करता।[१२०] साख्यप्रवचनसूत्र अर्थात् साख्यसूत्र क साथ तत्त्वसमास[१२१] को भी महर्षि कपिल की कृति माना जाता है। लेकिन दोनो मे निहित विचारो और प्रमाणाभाव मे ऐसा मानना सगतिपूर्ण नही है।[१२२] अत साख्यसूत्र, जिसे महर्षि कपिल की रचना माना जाता है, निश्चय ही यह उचित प्रतीत नही होता। हो सकता है महर्षि कपिल ने किसी साख्यसूत्र की रचना की हो, लेकिन जो इतिहास के गर्त में विलीन हो चुकी है।[१२३]

(II) आचार्य आसुरि

आचार्य आसुरि महर्षि कपिल के शिष्य तथा प्रथित आचार्य पचाशिख के गुरु थे। इनका प्राचीनतम् उल्लेख 'पञ्चशिख सूत्र' मे मिलता है, जो भाष्यकार व्यासदेव[१२४] द्वारा उद्धृत है, आदि विद्वान ''निमार्णचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तत्र प्रोवाच'' अपने गुरू के विषय मे शिष्य का यह कथन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इस सबध मे आचार्य ईश्वरकृष्ण आसुरिप पचशिखायतेन--------------- द्वारा आचार्य आसुरि का उल्लेख करते है।[१२५] महाभारत[१२६] ओर भगवद् पुराण[१२७] मे भी आचार्य आसुरि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। किन्तु इन सबके बावजूद डा० कीथ[१२८] इन्हे ऐतिहासिक व्यक्ति नही मानते है, इनके अनुसार यदि हम भाष्यकार व्यास के उपरोक्त मत्र और आचार्य वाचस्पति मिश्र[१२९] के वचन को प्रमाणिक मान ले तो तदनुसार आचार्य पचशिख ने अपने उपर्युक्त वचन मे महर्षि कपिल को 'आदि विद्वान' कहा है और यह भी कहते हैं कि उन्होंने ने आचार्य आसुरि को उपदेश दिया था। लेकिन वे यहाँ यह नही कहते है कि वे स्वंय उन आचार्य आसुरि के शिष्य थे, अत इससे सत्तरवी कारिका का

कथन अप्रामाणिक अर्थात् अविश्वसनीयहो जाता है। लेकिन यह मत ठीक नही प्रतीत होता, यहॉ ठीक है कि पचशिख वचन मे आचार्य आसुरि को आचार्य पचशिख के गुरू होने की बात नही कही गई है। परन्तु यहॉ उनके कपिल शिष्य होने की बात स्वीकार की गई है, फिर आचार्य आसुरि अनैतिहासिक व्यक्ति कैसे हुए?

साख्यकारिका की टीका 'माठरवृत्ति'[१३०] तथा 'जयमगला'[१३१] मे साख्याचार्य आसुरि के गृहस्थाश्रम से सन्यास लेने का वर्णन है। जिसका साम्य शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित आचार्य आसुरि से सबधित वर्णनो मे देखा जा सकता है। माठरवृत्ति के प्रारम्भ मे ही महर्षि कपिल और आचार्य आसुरि के सवाद से स्पष्ट है कि प्रवज्या से पूर्व आचार्य आसुरि सहस्रायाजी गृहस्थ ब्राह्मण और महायाज्ञिक आचार्य थे। सत्तरवीकारिका की वृत्ति[१३२] मे भी यही कहा गया है। अत डा० रिचर्ड गार्बे का यह कहना है कि साख्यशास्त्र के आसुरि और शतपथ ब्राह्मण को आसुरि परस्पर भिन्न है,[१३३] निराधार है।

चूँकि आचार्य आसुरि की कोई कृति उपलब्ध नही है। अत उनके विचार यत्र–तत्र सग्रह के रूप मे मिलते है। इनके प्रवज्या ग्रहण करने पर बुद्धि के धर्म, ज्ञान, वेराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अवैराग्य, अज्ञान और अनैश्वर्य, इन आठों भावों के सासिद्धिक (जन्मसिद्ध) प्राकृतिक और वैकृतिक प्रकारो को स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिका[१३४] मे आचार्य आसुरि के वैराग्य को प्राकृतिक कहा गया है। क्योंकि परमर्षि की कृपा से आचार्य आसुरि मे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसके फलस्वरूप अशुद्धि जाती रही और प्रकृति का शुद्धि स्रोत फूट निकला। जिससे अनुग्रहीत होने पर दु खत्रय मे अनेकश प्रहार से पीडित होकर उसकी निवृत्ति के उपायो को जानने की उन्हे इच्छा हुई और परिणामत उन्होने प्रवज्या ग्रहण की।

जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के साख्य प्रकरण मे आचार्य आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत है "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे (स्वच्छो) यथा चन्द्रमसोऽम्भसि।।" अर्थात् जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल जल मे चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार असग अर्थात शुद्ध चिद्रूप पुरुष मे बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है। उस समय

जो बुद्धि का दृक् रूप मे परिणाम होता है उसे ही पुरुष का भोग कहा जाता है। इसका उल्लेख बाद मे 'स्याद्वादमजरी' तथा 'बादमहार्णव' जैनग्रथो मे भी हुआ है। इसके अनुसार श्रवणादि ज्ञानेन्द्रियो तथा वागादि कर्मेन्द्रियो के द्वारा आहार्य विषयो को लेकर पुरुष के सन्निध्य से दृक् अर्थात् चेतन रूप मे परिणत हुई, बुद्धि पुरुष मे समर्पित करती है और इस प्रकार उसका भोग सिद्ध करती है। साख्यकारिका[१३५] मे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ईश्वर कृष्ण भी करते है। जिसमे दस आतरिक तथा तीन बाह्य करणो मे बुद्धि की प्रधानता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि चूँकि समस्त विषयो के सबध मे होने वाले पुरुष के योग को बुद्धि ही सम्पादित करती है। वही अन्तत प्रकृति एव पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है, इसलिए वही प्रधान है। तात्पर्य यह है कि पुरुष का सुख–दु खादि भोग स्वत न होकर बुद्धि के कारण सपन्न होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र[१३६] ने इसे अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। साख्यसूत्र[१३७] मे इसी विषय का स्वीकार किया गया है। उसमे यह कहा है कि जिस प्रकार लाल जपा कुसुम से समीपस्थ–स्वच्छ श्वेत स्फटिक मणि लाल हो जाती है और उसको हटाने पर फिर स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि के सानिध्य से उसके विषय भोग आदि धर्म–निधर्मक पुरुष मे सक्रान्त अर्थात् आरोपित हो जाते है। इसी बात को 'पचशिखसूत्र' मे इस प्रकार कहा गया है "अपरिणामिनी हि शोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणाभिन्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्त चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रत या बुद्धिवृत्यविशिष्टा ही ज्ञानवृत्तिराख्यायते।" इस प्रकार ये सभी अपरिणामी पुरुष मे आहार्य भोग ही मानते है, वास्तविक नही। लेकिन आचार्य विन्ध्यवासी के अनुसार पुरुष मे यह आहार्य भोग भी नही होता है, अपितु यह भोग पुरुष की सानिध्य से चेतन–सी प्रतीत होने वाली बुद्धि मे ही होता है।

आगे आचार्य आसुरि कहते है कि 'आद्य' तत्त्व अर्थात् प्रकृति सत्व रजस्तमो रूप है। प्रधान से महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहकार और अहकार से एकादश इन्द्रियॉ तथा पुन पचमहाभूत उत्पन्न होते है। ये तेइस तत्त्व 'मध्यम' अर्थात् मध्य के है, पच्चीसवॉ तत्त्व पुरुष है। पुरुष के अधिष्ठातृत्व मे ही प्रकृति अपने सृष्टि कार्य मे प्रवृत्त होती है। आधुनिक विद्वान महाभारत मे वर्णित कपिल आसुरिसवाद को साख्य दर्शन के अनुरूप नही मानते है, परन्तु यह धारणा सुसगत नही है। विद्वान परमार्थ ने आसुरि आचार्य को दी गई शिक्षा का जिस प्रकार

वर्णन किया है, वह माठरवृत्ति और जयमगला के अनुरूप है। जिसके अनुसार पहले 'तम' तथा बाद मे 'क्षेत्रज्ञ' उसमे प्रविष्ट हुआ। क्षेत्रज्ञ और तम क्रमश पुरुष और प्रकृति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यहॉ प्रयुक्त 'तमस' ऋग्वेद[१३८] के 'तमस' का स्मरण कराता है। महाभारत[१३९] मे भी तमस का प्रयोग प्रकृति के अर्थ मे ही किया गया है। इस प्रकार आचार्य आसुरि साख्य दर्शन के पदार्थो का जो उल्लेख करते है उसका महर्षि कपिल के मत से विरोध नही प्रतीत होता।

(III) आचार्य पंचशिख

आचार्य पचशिख, आचार्य आसुरि के शिष्य थे, जो साख्यकारिका की ७०वी कारिका से स्पष्ट होता है। जिससे यह भी स्पष्ट सकेत मिलता है कि महर्षि कपिल से आचार्य पचशिख तक पहुँचे हुए उस ज्ञान–सम्प्रदाय की 'सज्ञातत्र' अथवा 'षष्टितत्र' थी। स्वय आचार्य पचशिख कहते है "आदिविद्वाननिमार्णचित्तमधिष्ठाय कारुणाद्भगवान् परमर्षिराणुये तत्र प्रवाच।"[१४०] लेकिन आचार्य ईश्वरकृष्ण की बहुधाकृत तत्र[१४१] और 'समाख्यातम्'[१४२] के पदो के आधार पर महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा और चीनी परम्परा षष्टितत्र का रचनाकार आचार्य पचशिख को मानती है। लेकिन 'कृततत्रम्' के साथ 'बहुधा' पद इस मत का समर्थन नही करता है। वास्तव मे आचार्य पचशिख तक एक शिष्य होने की परम्परा रहा होगी ओर उनके पश्चात् अनेक शिष्य जैसे इनके जनक, वशिष्ठ आदि शिष्य थे, होने लगे। तत्र पहले से ही विद्यमान था, आचार्य पचशिख ने केवल उसका अध्ययन किया था। उक्त दोनो मतो का समर्थन माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका[१४३] मे भी किया गया है। अत यह हो सकता है कि महर्षि कपिल प्रणीत सक्षिप्त षष्टितत्र का विस्तार एव सवर्द्धन आचार्य पचशिख के हाथो ही सम्पन्न हुआ हो।

आचार्य पचशिख की प्रासगिकता स्वयसिद्ध है। इसीलिए विद्वान वेबर ने साख्य को भारतीय दर्शनो मे सबसे प्राचीन माना है।[१४४] स्वय शकराचार्य ने वृहदारण्यक मे उद्धृत 'असभूति' पद[१४५] को साख्य की प्रकृति के अर्थ मे स्वीकार कर इसकी प्राचीनता को सिद्ध किया है। महाभारत के अनुसार आचार्य पचशिख पराशरगोत्र[१४६] के थे और वे मानसयज्ञी थे।[१४७] मन के उहापोह अथवा तर्क–धर्म मे निष्णात वे पचरात्र विशारद पचज्ञ, पचकृत और पञ्चगुण भी थे।

उन्होने नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त की थी। उनकी सर्वज्ञता अनुत्तम थी। आचार्य नीलकण्ठ शास्त्री ने भारतभावदीप[१४८] के उक्त उपाधियो की व्याख्या करते हुए कहते है कि आचार्य पचशिख का पचशिख नाम इसलिए पडा कि वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एव आनदमय—इन पच पुरुषों के शिखास्वरूप पुच्छरूप सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के ज्ञाता थे। इस प्रकार 'पचशिख' सासारिक नाम न होकर ज्ञानार्जित नाम था। पचत्रज्ञ एव पचकृत पचशिख नाम धारण करने के पूर्ण कहलाये। ज्ञान एव उपासना की इस समस्त साधना के लिए साधक को शम, दम, उपरति, तितिक्षा एव समाधान इन श्रुत्युक्त पचगुणो से सुसज्जित होना परमावश्यक है। इसी से उन्हे 'पचगुण' भी कहा गया है। 'पचरात्र विशारद' इन सबसे पूर्व की अवस्था थी, किंतु पचज्ञ, पचकृत आदि विशेषणो का प० नीलकण्ठ कृत व्याख्यान आचार्य पचशिख को वेदान्तसम्प्रदामानुयायी सिद्ध करता है। प० नीलकण्ठ प्राचीन साख्य को उपनिषादीय अर्थात् वेदान्तीय मानते हैं। उनके अनुसार महाभारतीय पद 'पुरुषावस्थामव्यम्त्म् पुरुषार्थन्यिवेदमत्' मे अव्यक्त का अर्थ अव्याकृत पुरुष[१४९] है और वही परामार्थ है। अपने मत के समर्थन मे महाभारत के १४ वें श्लोक 'यतदेकाक्षर ब्रह्म नानरूप प्रदृश्यते। आसुरिमण्डले तस्मिन् प्रतिपेद तद्व्ययम्' को उपस्थित करते है। वस्तुत महाभारत एव भागवत पुराणादि में उल्लिखित साख्य विद्वान कपिल, आसुरि, पचशिख आदि का प्राचीन साख्य सेश्वर है, परन्तु उससे उसको वेदान्त से अभिन्न समझना निराभ्रम ही, क्योंकि इसमे त्रिगुणात्मक प्रधान या प्रकृति एव पुरुष साख्यशास्त्रीय कल्पना प्रकृति एव पुरुष के वस्तुत भिन्न तत्त्व होने मे कोई अन्तर नही आता। यहॉ वेदान्तीय प्रभाव देखने का मूल कारण ही उस समय वेदान्तीय विचार का सर्व प्रभावित होना और साख्याचार्य की कोई स्वीकृति का मूर्त रूप न ले पाना, जिसके कारण अन्य लेखको के प्रभाव आ गये है, ऐसा लगता है।

योगभाष्य[१५०] मे आचार्य व्यासदेव तथा साख्यतत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आचार्य पचशिख का सर्वप्रसिद्ध वचन "स्मात् स्पल्प सकर सपरहिार सम्प्रत्यवमर्ष कुशलस्य नामकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलम् हि मे वह्वन्यदस्ति यत्रायमावाय गत स्वर्गेप्यपकर्षमल्पम् करिष्यति" उद्धृत किया है।जिससे स्पष्ट होता है कि आचार्य पचशिख मानते थे कि वेदो के द्वारा विहित यज्ञो मे अनिवार्य रूप से होने वाली हिसा भी पाप उत्पन्न करती है। अत. आचार्य पचशिख के मत मे अहिसा हो मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है। यही पचरात्र

मत की समस्त साधना का रहस्य एव उस साधना की सफलता का मूलमत्र था। ज्ञान एव अहिसा को मोक्ष प्राप्ति का सर्वाधिक हितकारी और अनिवार्य साधन मानने के कारण इन्हे 'पचरात्रविशारद' कहा गया। यही मत साख्य मे भी आगे चलकर मान्य हुआ। आचार्य ईश्वरकृष्ण का वैदिक यज्ञ के सन्दर्भ मे "दृष्टवदानुश्रविक सह्य विशुद्धि क्षयातिसमयुक्त" कथन आचार्य पचशिख की मान्यता का ही समर्थन करता है और मीमासकों का इनके विरुद्ध "तद् विपरीत श्रेयान्" कथन साख्य मत की स्थापना करता है। योग दर्शन मे भी अहिसा को सार्वभौम धर्म कहा गया है जैसा की योगसूत्र[१५१] मे अष्टयोगपद्धति मे प्रमुख पच यमो मे अहिसा को प्रथम स्थान दिया गया है।

यद्यपि आचार्य पचशिख का कोई ग्रथ उपलब्ध नही है, तथापि उनके सिद्धान्तो एव विशिष्ट मतों के उद्धरण साख्ययोग के प्राचीन ग्रन्थो मे मिलते है। सबसे अधिक उद्धरण आचार्य व्यास कृत योगभाष्य मे मिलते है जो 'तथा चोक्तम्' तथा 'च सूत्रम' इत्यादि शब्दो के साथ दिये गये है, जिनके आधार पर इन्हे आचार्य पचशिख के सूत्र माना गया है। तत्त्ववैशारदी टीका मे तथा आचार्य भिक्षु आदि परवर्ती टीकाकारो के आधार पर निम्न वचन आचार्य पचशिख के माने गये है, जिनका उल्लेख 'योगभाष्य' मे मिलता है –

(i) एकमेव दर्शनख्यातिरेव दर्शन –१/४

(ii) तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत् सम्प्रजानीते–१/३६

(iii) व्यक्तमव्यक्त वा सत्त्वमात्मस्वेनाभि प्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्यसम्पद मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्या–त्मव्यापद मन्य मान स सर्वोऽप्रतिबुद्ध –२/५

(iv) बुद्धित पर पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन–२/६

(v) रूपातिशया वृत्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशये सह प्रवर्तन्ते –२/१५ और ३/१३

(vi) तत्सयोगहेतु विवर्ज्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दु खप्रतीकार २/१७ (ब्रह्मसूत्र २/२/१० के शारीरकभाष्य की भामती)

(vii) अय तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तष्वकर्तारि च पुरुषे तुल्यातुल्य जातीये चतुर्थेतात्क्रियालाक्षिण्युयनीयमानान् सर्वभावा नुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छकते–२/१८

(viii) अपारिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामीन्यर्थो प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपया बुद्धि वृत्तेरनुकामात्रतया बुद्धि कृत्य विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्याते–२/२०

(ix) धर्मिणामनादिसयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादि सयोग–२/२२

(x) तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्व सर्वेषा भवति ३/१४

उक्त उद्धरण सख्या (i) (iii) (iv), (vii) आरै (x) एक ही विषय से सबधित है। ये सभी एक ही तथ्य को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रतिपादित करते है। उद्धरण नम्बर एक का तात्पर्य है कि व्यवहार काल मे एक मात्र बुद्धि कृति ख्याति ज्ञान या दर्शन ही रहता है वही पुरुष का भी ज्ञान या दशर्न बन जाता है। चौथे उद्धरण के अनुसार यद्यपि नित्यज्ञानरवरूप होने के कारण पुरुष मे किसी भी प्रकार का परिणाम सभव नही है। तथापि अविवेक के कारण वह रवभावत प्रतिक्षण परिणामिनी त्रिगुणात्मिका बुद्धि (चित्त) की वृत्तियो व्यापारो या परिणमों को देखता हुआ तादात्मक या तद्रूप–सा प्रतीत होता है। इस प्रकार बुद्धिकृत विविध ज्ञानो को वह रवकृत ही कार्य समझता है परकृत नही। स्त्री पत्नी पुत्र भोजन कुर्सी आदि को अविवेकवश रवकीय मानता हुआ इसी समृद्धि को अपनी समृद्धि और विपत्ति को अपनी विपत्ति समझता है जो उसका अज्ञान या गोह है ओर ज्ञान इच्छा क्रिया सुख दु ख भोग इत्यादि अनेक व्यावहारिक धर्मो से युक्त जिस एक पुरुष रूपधर्मी को हम सब जानते व समझते है वह परमार्थत एक वस्तु या तत्त्व नही है। यद्यपि आम आदि दर्शन इन युक्त धर्मो को एम मात्र आत्मा या पुरुष के ही विशिक्त गुण मानते है एव इन अनेक धर्मो से उन एक का ही अनुमान करते है, तथापि साख्य दर्शन की ऐसी मान्यता नही है। साख्य के अनुसार व्यवहारिक मनुष्य मुख्यता तो निगुर्ण एव अपरिणामी पुरुष तत्व तथा नित्यपरिणामी त्रिगुणात्मक प्रकृति तत्व का किन्तु प्रकृति के बुद्धि अहकार मन अदि विकारो को पृथक्– पृथक लेने पर इन अनके तत्त्वो का अद्भुत मिश्रण ही इन सबकी विचित्र समाप्ति है। नित्य ज्ञान पुरुष अथवा आत्मा का रवरूप भूत धर्म ही तथा सकल्प इच्छा क्रिया सुख दु खादि प्रकृति के उक्त विकारो के धर्म ही। सातवे उच्चारण मे पुरुष के सारूप्य–वैरूप्य तादात्म्य दोनो ही कथित है। त्रिगुणात्मक बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण करने गे पुरुष के अनादि अविवेक के अतिरिक्त उसका बुद्धि से सर्वथा विरूप न होना सर्वदा

रवरूप न हाने पर भी कुछ सरूप होना ही कारण है। रजत खण्ड से विरूप या भिन्न तथापि उसके रारूप का सदृभ शुक्ति मे ही रजत खण्ड का आरोप होता है अन्यत्र कही नही। इस प्रकार रपष्ट है कि पुरुष का अनादि अविवेक ओर बुद्धि के साथ उसका सादृश्य दोनो ही तादात्म्य के कारण ही। ८वे उद्धरण मे भी दोनों का यही तादात्म्य बताया गया हे। इसमे उल्लिखित ज्ञानवृत्ति पद चित्तशक्ति अर्थात् चिन्मात्र पुरुष का बोधक है। इसमे सारूप्य की बात भी रपष्ट है। अनादि अविवेक के कारण परिणामिनी बुद्धि मे असक्रान्त भी सक्रान्त सा लगता है। परिणागरवरूप वह बुद्धि की भॉति ही परिणागी प्रतीत होता है। बुद्धि चिदवभास या चितप्रतिबिम्ब को प्राप्त करके पुरुष के समान चैतन्य प्रतीत होने लगता है। इस समय रारूप्य के कारण पुरुष व्यवहारकाल मे बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण कर बैठता है। इसी बात को उक्त उदाहरण के तरमाश्च प्राप्त ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते । अन्तिम पक्ति मे कहा गया है। रपष्ट है कि तादात्म्य दोनो के सानिध्य से होता है और इस सानिध्य का कारण अविवेक है। आचार्य पचशिख के मत मे अविवेक अनादि है। इनके इस मत का उल्लेख साख्यसूत्र मे अविवेक निमिन्तोवापचशिख[१५२] कहकर किया गया है।

उद्धरण स० २ मे मन की विषयवती और अस्मितामात्रा' नामक द्विविध ज्योतिषमती स्थिति की द्वितीय कोटि का वर्णन है। इस स्थिति मे मनरूपादि समस्त विषयो से हीन होकर अन्य समस्त वृत्तियो से शून्य अह बोध रूपवृत्ति के रवरूप मे स्थित हो जाता है। इसी को सास्मित सम्प्रज्ञात कहते है क्योकि इसमे अहमस्मि इत्याकारक आत्मविषयक ज्ञान होता रहता ही। पाचवे उद्धरण मे गुणो के पररपर विरुद्ध रवभाव की बात कही गयी है। बुद्धि के सत्व गुण के धर्म वैराग्य ज्ञान एव ऐश्वर्य मे चार रूप है। तमो गुण को भी अधर्म अवैराग्य या राग अज्ञान तथा अनैश्वर्य चार रूप ही सुख दुख एव मोह इनकी वृत्तिया है। ये परस्पर विरोधी है। इसलिए लगातत्रिार दीर्घ समय तक न तो अहिराा सत्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म ही प्रबल रूप से चलते ह ओर न ही हिराा असत्य मैथुन आदि अधर्म। कभी एक प्रबल रहता है तो कभी दूसरा इसी प्रकार सुख या दुख लगातार नही रहते। हॉ इनके सामान्य रूप विशिष्टि या प्रबल रूपों के साथ अवश्य रहते है जैसे प्रबल सुख के साथ दु ख भी गौण रूप से रहता है अथवा प्रबल दु ख के साथ गौण रूप से सुख का रहना। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के तीनो गुणो के चचल

या क्षिप्र परिणामी होने के कारण बुद्धि या चित् के भाव और व्यापार प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते है। इस प्रकार इसकी अस्थिरता के कारण विवेकीजनो एव योगियो को सब कुछ दु ख ही प्रतीत होता है।

उध्वरण सख्या ६ को रपष्ट करते हुए आचार्य पचशिख कहते है कि सयोग के नष्ट हो जाने पर समरत दु खो की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। क्योकि अनादि अविवेक के फलभूत आदि सयोग के फलरवरूप ही सारे दु ख अनादि काल से होते आ रहे है। विवेक ज्ञान के न उत्पन्न होने पर तो अविद्या प्रलय काल मे रवीकार्य अधारभूत चित्त के साथ प्रधान मे निरुद्ध होकर सरकार रूप से पडी रहता है और सृष्टि काल आने पर पुन स्वीकार्य चित्त की उत्पत्ति का बीज बनती है। ६वे उध्वरण को आर्चाय भिक्षु एव हरिहरानन्द आरण्यक स्पष्ट आचार्य पचशिख का वचन मानते है तथा आचार्य वाचरपति मिश्र इसे आगमिनामुनुमतिम् कहते हैं। जिसका अर्थ है कि धर्मो अर्थात परिणाम नित्य सत्व इत्यादि तीनों गुणो का कूटस्थ नित्य पुरुषो के साथ अनादि सयोग होने के कारण अधर्मियो के महत इत्यादि समस्त धर्मो अथवा परिणामो का पुरुषो के साथ अनादि सयोग होता है। इरी सयोग निमित्तजन्य होने के कारण नित्य नही है। इसी सयोग के रवरूप के सम्बध मे योगसूत्र मे कहा गया है कि रवशक्ति अर्थात दृश्य एव रवागिशक्ति अर्थात द्रष्टा इन दोनों का सयोग–बुद्धि एव पुरुष का सयोग– दर्शन कार्य का हेतु है।[१५३] यहॉ दर्शन का दो रूप ही एक तो द्रष्टा पुरुष द्वारा दृश्य बुद्धि का अविवेकपूर्वक दर्शन जिसे भोग कहा जाता है और दूसरा विवेकपूर्वक दर्शन जिसका व्यवहित फल भोग ही भाष्य से रपष्ट है कि इस अनादि सयोग का अन्त विवेकज्ञान द्वारा होता है अन्यथा वह जन्मजन्मान्तर तक चलाता रहता है।

रवरवामि शक्तयो रवरूपोपलब्धि हेतु सयोग [१५४] को मूलत महर्षि कपिल[१५५] और आचार्य पचशिख का सिद्धान्त कहा गया है साख्यसूत्र मे इसी को अविवेक निमित्तो व पचशिख [१५६] कहा गया है इसे आचार्य भिक्षु भी रवीकार करते है। वरतुत भोक्तृभोगय भाव' अर्थात बुद्धि एव पुरुष के अनादि सम्बध का मूलभूत कारण अविवेक ही है। इस प्रकार आचार्य पचशिख का मत समीचीन है, जिसे कीथ[१५७] ने भी रवीकार किया। आचार्य पचशिख के व्यक्ति

सम्बन्धी मत के समर्थन मे साख्यसूत्र मे आधारोभूक्ति भोग इतिपचशिख[१५८] का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पाचवें अध्याय के गुण से ५६वे सूत्रतक मे जगत उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रधान की सिद्धि त्रिविध प्रमाणो के आधार पर की गयी है। इनमे सर्वप्रथम अनुमान फिर शब्द और अन्त मे प्रत्यक्ष प्रभाव के द्वारा जगत उपादान के रूप मे प्रकृति की सिद्धि की गयी थी। साख्य का दृष्टिकोण मुख्यत बुद्धिवादी है। वह अपने प्रधान पुरुष आदि मूलभूत प्रमेयो की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का ही आश्रय लेता है तथा उसका साख्य नाम भी उसकी इस दृष्टि रो परिचायक है। प्रस्तुत प्रकरण मे भी महत्व कम की दृष्टि से तीनो प्रमाणो मे सर्वप्रथम अनुमान का विरतारपूर्वक फिर शब्दों का उनसे कम विस्तार मे तथा अन्त मे प्रत्यक्ष का सक्षेपत उल्लेख है। जब साख्य दर्शन मे अनुमान का महत्व इतना अधिक है तब उसके प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त व्याप्ति आदि अर्थों के निरूपण को परवर्ती काल के शास्त्रान्तरो के प्रभाव का फल नही है। साख्यसूत्र मे व्याप्ति के सबध मे विस्तृत विवेचना की गयी है।[१५९] अत साख्य मे व्याप्ति सम्बधी धारणा महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत ही रही है। साख्यसूत्र में व्याप्ति के लक्षण का उल्लेख करते हुए नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्ति [१६०] कहा गया है किन्तु आगे[१६१] उल्लिखित है कि व्याप्ति भिन्न तत्व नही है। क्योकि भिन्न तत्व होने पर उसके आश्रय रूप मे साध्य एव साधन से भिन्न पदार्थ की कल्पना करनी होगी जो सर्वथा असत्य होगा। क्योंकि व्यक्ति का आश्रय तो साध्य एव साधन अथवा केवल साधन ही होता है उनसे भिन्न कुछ भी नही।[१६२] आचार्य अनिरुद्ध कृत वृत्ति मे भी ऐसा ही माना गया है। लेकिन निजशक्त्युद्भवमित्याचार्या [१६३] के सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु पर–मत और आचार्य अनिरुद्ध स्व–मत का उल्लेख करते है। आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार अग्नि एव धूम की उत्पत्ति विशिष्ट शक्ति है। जिसका ग्रहण दोनों साथ–साथ देखने से होता है यही व्यक्ति है।[१६४]

आचार्य भिक्षु के अनुसार व्यक्ति की रवशक्ति से उत्पन्न शक्ति विशेष रूप तत्त्वान्तर ही व्यक्ति है। लेकिन आचार्यों के मत मे रवशक्ति मात्र व्याप्ति नही है। क्योकि द्रव्य की रवशक्ति द्रव्य मात्र मे ही सीमित रहती है और उसे ही व्याप्ति मान लेने पर तो अग्नि के स्थान से उठकर अन्य स्थान मे फैले हुए धूम का भी अग्नि व्याप्यता नही सिद्ध होती है। यहॉ आचार्य भिक्षु का उत्तर है कि उत्पत्तिकालावच्छिन को धूम का विशेषण कर देने से दूसरी अव्याप्यकता की

शका नही उठेगी।[१६५] वेदान्ती महादेव भी आचार्य भिक्षु की भॉति स्वशक्ति से उत्पन्न शक्ति को ही व्यक्ति कहा है लेकिन वे इसे आचार्य अनिरुद्ध की भॉति स्वमत ही मानते है।[१६६] यही कारण है कि ५/३१ वे सूत्र मे प्रतिपादित रवमत के कारण ही आचार्य अनिरुद्ध ५/३२वे प्रतिपादित आचार्य पचशिख के मत को एकदेशि मत कहते हे। आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार यद्यपि सूत्रकार ५/३६वे सूत्र मे सिद्धान्त के साथ इसका समन्वय करते है। यहा आचार्य भिक्षु का मत ३२वे ओर ३६वे सूत्र मे रपष्ट नही होते जबकि आचार्य अनिरुद्ध की व्याख्या कही अधिक स्पष्ट एव सन्तोषजनक है। डॉ० रिचर्ड गार्वे ने ५/३२ वें सूत्र को रपष्ट किया है।[१६७] अधेयशक्तियोग पचशिख [१६८] का अर्थ आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार पचशिखाचार्य के मत मे पदार्थों पर आरोपित शक्ति के साथ सम्बध का नाम व्याप्ति है। यदि यह व्याप्ति निज या सहजशक्ति होता है आरोपित न होती तो किसी अव्युत्पन्न या अज्ञ व्यक्ति को भी वरतु का प्रत्यक्ष होने पर उस व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था परन्तु ऐसा होता नही। इसलिए व्यक्ति को पदार्थ मे आरोपित शक्ति मानना चहिए प्राकृतिक अथवा सहज नही। यद्यपि शक्ति के वास्तविक होने पर किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष के साथ उसकी उस वास्तविक या सहज शक्ति का प्रत्यक्ष होना चाहिए तथापि पदार्थों की सभी शक्तियो का रवत ग्रहण असेम्भव है जैसे पिता पुत्र का पाररपरिक सबध वास्तविक होने पर भी बिना बताये दोनों को देखने मात्र से नही ज्ञात होता। दूसरे शब्दो में व्याप्ति पदार्थों की शक्ति के साथ सम्बन्ध का नाम है चाहे वह कल्पित हो अथवा सहज।

भावागणेश कृत तत्वयाथार्थ्य–दीपन गे पचशिखाचार्य के चार श्लोको का उल्लेख उसकी प्रामणिकता के साथ किया गया है।[१६९] तत्त्वसमास–सूत्रो की प्राचीनतम टीका क्रमदीपिका मे भी वे श्लोक मिलते है और प० उदयवीर शारत्री[१७०] उक्त धारणा की सभावनाओ को स्वीकार करते है। उक्त चारों श्लोक निम्नवत है –

(१) पचविशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रये वरान।
    जटी गुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र राशय।।[१७१]

(२) तत्त्वानि मो वेदयते यथावद् गुण रवरूपाण्याधि दैवत च।

विमुक्ता पाप्मा गतदोषसघो गुणास्तु मुक्ते न गुणै स भुज्यते।।[१७२]

(३) प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते।।[१७३]

(४) आद्यौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसक्षयात।
कृच्छक्षयान्तृतीयस्तु व्याख्यात मोक्षलक्षणम।।[१७४]

इस प्रकार पहले एव दूसरे उद्धरण मे समस्त तत्त्वो के ज्ञान के फल सम्बधी कथन है जिसमे अध्यास मे त्रयोदशकरण अधिभूत मे कारणो के त्रयोदश विषय तथा अधिदेव मे करणो के त्रयोदश देवताओ की व्याख्या कर इन्हे रवरूपभूत चित् से भिन्न माना गया है। तीसरे उद्धरण मे त्रिविध बन्धन प्राकृत बध अष्ट प्रकृतियो (अव्यक्त महत् अहकार एव पचतन्मात्राए) द्वारा वैकारिक बन्ध प्रकृति के शब्दादि विकार युक्त मन द्वारा और दाक्षिणा द्वारा का उल्लेख है, जबकि चोथे मे त्रिविध मोक्ष तत्वज्ञान द्वारा प्राकृत बध से राग क्षय द्वारा वैकारिक बध से और धर्माधर्म क्षय द्वारा दाक्षिणाबन्ध से मुक्ति पाने का उल्लेख है।

महाभारत के शान्तिपर्व के २१६वे अध्याय मे पचशिख वाक्य जो वेदान्त सिद्धान्तो से प्रभावित एव मिश्रित है। ये जनदेव जनक के प्रश्न का उत्तर आचार्य पचशिख इस प्रकार देते है– यह मनुष्य– शरीर, इन्द्रिय एव चित्त का समाहार मात्र है। तात्पर्य यह है कि अनादि अविवेक के कारण असग एव अपरिणामी चित्त पुरुष का परिणामी तथा अचित्– चित् या बुद्धि एव उसके शरीरेन्द्रिय आदि कार्यो के साथ अनादि सयोग होने से मनुष्य नामक समाहार बनता है। ज्ञान होने से न तो इसका अन्त अभाव मे होता है और न किसी भाव मे केवल अनादि सयोग के नष्ट हो जाने पर यह समाहार नष्ट हो जाता है और अपने विशुद्ध चितरूप मे पुरुष प्रतिष्ठित हो जाता है।[१७५] यह शरीर भी एक नही अपितु अनके तत्त्वो का समाहार है[१७६] मे तत्त्व पाच है अकाश, वायु अग्नि जल एव पृथ्वी।[१७७] इन्द्रियॉ भी पाच है श्रवण रपर्श जिह्वा चक्षु एव घ्राण मूर्त रूपी द्रव्यो के साथ शब्द रपर्श रूप रस एव गन्ध इन इन्द्रियो के ग्राह्य विषय है।[१७८] इस समस्त गुण समाहार को आत्मरूप से देखते हुए पुरुष का असत् दृष्टि से होने वाला अनत दु ख सान्त नही होता है।[१७९] द्रष्टा आत्मा अर्थात पुरुष मे देखे जाने वाला दृश्य अनात्म ही है। क्योकि जो

द्रष्टा है वही दृश्य कैसे हो सकता है? इसी दुखात्मक अनात्मा के आरोप से दृक् आत्मा अपने को दुखी मानता है ।अत इस सबका त्याग ही दु ख का आत्यन्तिक विनाश है।[१८०] पचकर्मेन्द्रिय मन प्राण तथा पचकर्मेन्द्रिय स्वरव विषयो के सहित त्याज्य है।[१८१] यह समस्त अनात्म पदार्थ मूलत सत्व रजस एव तमस नाम तीनो गुणो का ही उपज है। इनमे सत्व के लक्षण या कार्य प्रहर्ष प्रीति आनान्द सुख शान्ति आदि रजत के लिग अतुष्टि परिताप लोभ अक्षमा आदि तथा तमस के लिग अविवेक मोह प्रमाद स्वप्न आलस्य आदि है।[१८२]

आचार्य पचशिख तीनों गुणो की प्रकल्पना[१८३] को मानते है और पुरुष को आणविक आकार का इनके अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्बध का आधार कर्म नही अपितु भेद का अभाव है।[१८४] उपरोक्त विवरण के सम्बध मे आचार्यगण वाचस्पति मिश्र विज्ञानभिक्षु तथ हरिहरानन्द आरण्यक के अतिरिक्त अन्य भाष्यटीकाकारों ने भी आचार्य पचशिख का वचन होने की बात मानी गयी है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे वचन भी हैं जिसके सबध मे उक्त विद्वानगण भले ही उन्हे पचशिख वचन मानने मे सन्देह करे। किन्तु स्वमत सामन्जस्य के अतिरिक्त योग भाष्यकार के उद्धृत करने के समान ढग से भी उन्हे पचशिखसूत्र मानना उचित होगा जो कि इस प्रकार है –

(१) स खल्वय ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा प्रमादकृतेभ्यो हिसादिनिदानभ्यो निवर्तमानस्तामेवावादात रूपामहिसा करोति[१८५] इसे आचार्य भिक्षु अत्रैवागमिकाना सम्मतिमाह आदि शब्दो द्वारा प्रस्तुत करते है तो आचार्य भिक्षु ने योगभाष्यकार के यथा चोक्ता शब्दो को दुहरा दिया है।

(२) महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशील सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्ते[१८६] आचार्य भिक्षु इसे अत्रैवागामिनामनुमतिमाह आदि द्वारा तो आचार्य भिक्षु पूर्वाचार्यवाक्य प्रमाणयाति और विद्वान हरिहरानद आरण्यक पूर्वाचार्यसम्मतिमाह आदि द्वारा प्रस्तुत करते है।

(३) तपो न पर प्राणायामात ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य[१८७] इसे आचार्य मिश्र अत्राप्यागमिनामनुमतिमाह द्वारा तो आचार्य भिक्षु इस पर कुछ नही कहते है।

(४) जलभूम्यो पारिणामिक रसादिवैश्वरूप्य स्थावरेषु दृष्ट तथा स्थावराणा जगमेषु जगमाना स्थावरेषु [१८८] इसके प्रस्तुतीकरण मे आचार्य मिश्र ने तदेवोपपादयति शब्द तो आचार्य भिक्षु ने अतार्थ पूर्वाचार्यैरिद वक्ष्यमाण प्रमाण मुक्तम शब्दादि द्वारा प्रस्तुत किया है।

(५) एक जाति समान्विमानामषा धर्ममात्रव्यावृति [१८९] मे उद्धृत भाष्य शब्दावली तथा चोक्त का ही उल्लेख आचार्य मिश्र ने किया है जबकि आचार्य भिक्षु इसके स्थान पर पूर्वाचार्य वचन कहा है।

(६) ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिना विहारस्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मान प्रकृष्ट धर्ममभिनिर्वतयन्ति [१९०] भाष्य मे उद्धृत तथा चोक्तम का ही प्रयोग आचार्य भिक्षु करते है तो आचार्य मिश्र इसके स्थान पर सम्मातिमाचार्याणामाह इत्यदि शब्दो का प्रयोग करते है।

(७) रवभाव मुक्त्वा दोषाद् येषा पूर्वपक्षे रुचिर्भवति अरुचिश्च निर्णये भवति [१९१] इसे अनधि ाकारिणभागामिना वचनेन दर्शयति द्वारा आचार्य मिश्र तो उक्त पूर्वाचार्यै आदि द्वारा द्वारा आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है।

डॉ० दासगुप्ता महाभारत[१९२] ओर मत्रयपुराण[१९३] मे उल्लिखित २६वें तत्त्व के रूप मे ईश्वर सबधी मत को देखकर परम्परया साख्य को सेश्वर मानते है। लेकिन २४वे तत्त्वो वाले मत को मौलिक साख्य मानते हुए इसे पचशिख साख्य मत कहते है।[१९४] परन्तु जिस मौलिक राख्य को डॉ० दारागुप्ता आर्चाय पचशिख का गत गानते है। डॉ० राधाकृष्णन्[१९५] और कीथ[१९६] उसका विरोध यह कहते हुए करते है कि उक्त आर्चाय पचशिख को साख्यचार्य नही मान सकते। क्योकि इनके मत मे आचार्य पचशिख ब्रह्मसिद्धात के समर्थक अथवा प्रवर्तक थे। किन्तु यह मत उचित प्रतीत नही होता। क्योकि महाभारत[१९७] से सिद्ध है कि वह आचार्य पचशिख ही थे। जिन्होने महार्षि कपिल के शिष्य आचार्य आसुरि से उपदेश प्राप्त किया। चीनी परम्परा मे एक पचशिखाचार्य का उल्लेख मिलता है। लेकिन उन्हे महर्षि कणाद् जो वैशेषिक दर्शन के सस्थापक थे, का शिष्य बताया गया है। अत वे साख्याचार्य पचशिख से भिन्न है।[१९८] इस प्रकार महाभारत के जनकपचशिखसवाद परिच्छेद व अन्य उद्धरणो के साथ साख्ययोग दर्शन से

सबधित विभिन्न ग्रन्थों मे उपलब्ध पचशिख वचनो मे प्रतिपादित सिद्धात प्रायेण एक ही है। अत आचार्य पचशिख साख्यमत के ही प्रतिपादक है।

(IV) आचार्य वार्षगण्य

आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व[१६६] के महावल्म्भ जनक सवाद मे मिलता है। साख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका[२००] मे आचार्यों का उल्लेख जो कालक्रमानुसार नही हुआ है– सक्षपैणतुद्वाव------------ हारीतवाद्धलिकैरात पौरिकर्षभेश्वर पञ्चादिकरण पतजलिवार्षगण्यकौण्डिण्य– मूलादिक शिष्य परम्पारयागम---------------। पडिण्त उदयवीर शारत्री के अनुसार वार्षगण्य अर्थात वृषगणगोत्र मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति गोत्रनाम प्रतीत होता है सासकारिक नाम नही।[२०१] जैसा कि आसुरि आचार्य के विषय मे माना जाता है। उसकी सिद्धि वृषगण पद से मानी गयी जो गर्गादिगण[२०२] मे पठित है। आचार्य वार्षगण्य का समय महर्षि पाणिनि से प्राचीन सभवत भारत युद्ध काल से भी पूर्व माना जाता है।[२०३]

षष्टितत्र का रचना को लेकर जो विवाद रहा है कुछ लोग आचार्य वार्षगण्य को उसका कृतिकार मानते है। परन्तु प्रो० हिरियन्ना एव पण्डित शास्त्री ऐसा नही मानते है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी उपसहारात्मक कारिकाओ मे जहॉ महाषि कपिल आचार्य द्वय असुरि एव पचशिख इन तीन सर्व प्राचीन प्राचार्यों का साक्षात् उल्लेख कर तत्र विकसित करने मे आचार्य द्वय आसुरि एव पचशिख के योगदान की प्रशसा की है। वही आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख भी नही किया गया है। वारतव मे महार्षि कपिल प्रवर्तित साख्यशास्त्र के अर्न्तगत आचार्य वार्षगण्य की अपनी एक अलग एक विशिष्ट विचारधारा थी जैसे आपके अनुसार करण ग्यारह प्रकार के होते है।[२०४] जबकि महर्षि कपिल तेरह प्रकार के करणो को रवीकार करते है।[२०५] इरा प्रकार आचार्य वार्षगण्य त्रिविध अत करण–बुद्धि मन एव अहकार मे केवल बुद्धि को ही रवीकार करते है। उसी प्रकार आचार्य ईश्वरकृष्ण एव आचार्य वार्षगण्य प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण को अलग–अलग ढग से प्ररतुत करते है। युक्तिदीपिकाकार ने आचार्य वार्षगण्य द्वारा प्रतिपादित लक्षणो का निर्देश इस प्रकार किया है– श्रोतादिवृत्तिरितिवार्षगणा,'[२०६]

उसी प्रकार का प्रत्याख्यान न्यायवार्तिक की टीका न्यायवार्तिकतात्पर्य मे आचार्य वाचरपति मिश्र ने लिखा है– वार्षगण्यास्यापि लक्षणमयुक्तमित्याहसोत्रारिवृत्तिरिति ।[२०७] जबकि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने ५वी कारिका के प्रथम चरण मे दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रतिविषयाध्यवसाय दिया है।

प्रो० हिरियन्ना[२०८] मायेव और मायैव मे अन्तर कर प० उदयवीर शास्त्री के इस वाक्य का विरोध करते है कि अमरकोश मे भी इव और एव पदो को समानार्थक माना गया है। प्रो०हिरियन्ना के मत मे यह विशेष परिस्थिति मे सामान्यीकरण करने का प्रयास है।[२०९] क्योकि तत्त्ववैशारदी मे मायेव का अर्थ इस प्रकार है कि गुणो का मूल रूप अर्थात अव्यक्त अथवा प्रधान जो कि दृष्टिपथ मे नही आता माया से विपरीत धर्म वाला होने के कारण नित्य ही परमार्थ है। उसके विपरीत जो दृष्टिपथ मे आने वाला गुणो को व्यक्त रूप अथवा उसके विकार है वे सर्वथा माया तो नही किन्तु माया की तरह अवश्य ही आर्विभाव – तिरोभाव वाले अर्थात अनित्य का विनाश है।[२१०] इसी प्रकार अतएव योग शारत्रमत्युत्पादमिताहरम भगवान् वार्षगण्य गुणानाम ------------------ सुतुच्छकम् इति मे मायैव का अर्थ है कि गुणो गुणात्मक प्रधान का ग्रहण योग की व्युत्पत्ति के लिए निमित्त या द्वार से ही किया गया है स्वरूप अर्थात् वास्तविक प्रतिपाद्य के रूप मे नही क्योकि गुणो मे तत्त्व का वरतु कुछ भी नही है वे सर्वथा अतात्त्विक रवरूपत शून्य का माया मात्र है। इस प्रकार मायेव का अर्थ जगत की विनाशशीलता है और मायेव का अर्थ काल्पनिकता है। अत दोनो एक नही है। प्रो० हिरियन्ना यहॉ पर मायेव पाठ षष्टितत्र रो गानकर गायैव को आचार्य वार्षगण्य का गानते है।

प्रो० हिरियन्ना ने आचार्य वाचरपति मिश्र की भामती[२११] मे आचार्य वार्षगण्य के नाम उद्धृत गुणानाम् परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति। यन्तुदृष्टिपथ प्राप्ततन्मायैव सुतुच्छकम् श्लोक के आध ार पर आचार्य वार्षगण्य को ब्रह्मपरिणामवादी कहा है। लेकिन प० उदयवीर शास्त्री[२१२] इसका खण्डन करते हुए कहते है कि आचार्य वार्षगण्य मूल उपादान कारण को चेतन नही अपितु अचेतन प्रधान[२१३] को मानते है जो जगत का मूल है। वास्तव मे आचार्य वाचरपति मिश्र ने भामती मे इच्छानुसार मूल मायेव का मायेव मे परिवर्तित कर दिया पर एक बात नही भूले कि इसका

उल्लेख आचार्य वार्षगण्य के साथ किया है। यही कारण है कि प्रो० हिरियन्ना मायेव और मायैव का जो महत्वपूर्ण भेद माना है वह आचार्य वाचरपति मिश्र के व्याख्यानो से भी समर्थित है। अत मायैव पाठ एव उसका पाठ जो कुछ दिखाई पडता है वह माया है। प्रधानवादी वार्षगण्य के मत रो अरागत है। क्योकि प्रधानवाद के अनुरार जगत आर्विभाव – तिरोभाव धमर्क होने के कारण मायेव ही कहा जा सकता है मायैव नही। योग भाष्यकार व्यासदेव के साक्ष्य के आधार पर भी आचार्य वार्षगण्य प्रधानवादी साख्य योगाचार्य सिद्ध होते है। यथा– अतउक्तम्– मूर्तिव्यवधिजाति–भेदाभावान्नास्ति गूलपृथकत्व इति वार्षगण्य ।[२१४] इसकी जो व्याख्या आचार्य मिश्र[२१५] करते है वह भी उक्त मत का ही समर्थन करती है। भामती मे आचार्य वार्षगण्य के नाम उद्धृत गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति की व्याख्या भामतीकार रपष्ट नही करते क्योकि दृष्टिपथ मे न आने वाला गुणो का परम रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त का प्रधान के अतिरिक्त ब्रह्म इत्यादि कुछ भी नही हो सकता है। अपनी विशिष्टता के कारण हो सकता है कि आचार्य वार्षगण्य साख्याचार्य होने पर भी स्थूल जगत को माया मानते हो परन्तु वे ब्रह्मवादी कदापि नही हो सकते।[२१६]

साख्यकारिका का प्रचीन वाक्य युक्तिदीपिका मे आचार्य वार्षगण्य के साख्ययोग विषयक कुछ विशिष्ट मत निम्नवत है –

(i) तथा च वार्षगणा पठन्ति –

तदेतत त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति न सत्त्वात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। ससर्गाच्चास्य सौक्ष्म्य सोक्ष्म्याच्चानुपलब्धि तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाश । सतु द्विविध – आसर्गप्रलयात् तत्त्वाना कालान्तरावस्थानादितरेषाम् इति [२१७]

(ii) तथा च भगवान् वार्षगण्य पठति–

रूपतिशमा वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि तातिशमै स वर्तन्त[२१८]

(iii) तथा च वार्षगणा पठन्ति –

बुद्धिवृच्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुष [२१९] इति

(iv) वार्षगणाना प्रधानात् महानुत्पद्यते[२२०]

(v) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ते एकोत्तराणीति वार्षगण्य [२२१]

(vi) करण एकादशविधामिति वार्षगणा [२२२]

(vii) यदि यथा वार्षगणा आहु –

लिगमात्रो महानसवेद्य कार्यकारणरूपेणाशिविष्टो

विशिष्टलक्षणेन तथा रयात्तत्वान्तरम् [२२३]

(viii)वार्षगणाना तु यथा रत्रीपुशरीराणामचेतनानामुछिश्येतरेतर

प्रवृत्तिस्तथा प्रधानरयेत्यय दृष्टान्त [२२४]

सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह सिद्धात है जिसमे आचार्य वार्षगण्य ने आदिम सर्ग मे प्रधान की प्रवृत्ति को चेतन पुरुष की सहायता के बिना ही माना है। आचार्य वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को युक्तिदीपिका[२२५] मे उद्धृत किया गया है। अर्थात् प्रधान की प्रवृत्ति आदि सर्ग मे ज्ञानपूर्वक नही होती है पुरुष रो ऊपर गृहीत अर्थात् चेतनानिरपेक्ष की प्रकृति रवकार्य मे प्रवृत्त होती है। इस प्रकार आचार्य वार्षगण्य का मत चेतन–निरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। परन्तु इसके विपरीत माठरवृत्ति एव गौडपादभाष्य मे षष्टितत्र नाम से उद्धृत पुरुषाधिष्ठितम् प्रधान प्रवर्तते वाक्य मे चेतन पुरुष से परिगृहीत या मुक्त प्रकृति की प्रवृत्ति का ही सिद्धान्त प्रतिपादित है। यह वाक्य सभावत आचार्य पचशिख का है इसमे कथित सिद्धान्त साख्यसूत्र के 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम् मणिवत मे भी प्रतिपादित है इस प्रकार आचार्य वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख साख्ययोग दर्शन के प्राचीन साहित्य मे मिलता है। सर्वाधिक उल्लेख साख्यकारिका की प्राचीन टीका मुक्तिदीपिका मे है एक उल्लेख व्यासभाष्य मे है तो छिटपुट विचार भामती साख्यतत्त्वकौमुदी न्यायवार्तिक आदि मे मिलता है यथा –

(i) अतएव पचपर्वा अविद्या इत्याह भगवान् वार्षगण्य [२२६]

(ii) सम्बन्धादेकस्मात प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमान [२२७]

(V) आचार्य ईश्वरकृष्ण

आचार्य ईश्वरकृष्ण का उल्लेख जैनग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र मे उल्लिखिल जैनेतर ग्रन्थो मे

से एक कनगसत्तरी के सन्दर्भ मे किया जाता है जो कि साख्यसप्तति अर्थात् साख्यकारिका का ही एक नाम था। चीनी यात्री कुईची के मत मे उक्त ग्रन्थ के रचयिता को पारितोषिक के रूप मे तीन लाख स्वर्ण मुद्राए प्राप्त होने के कारण इसका नाम हिरण्यसप्तति अर्थात् कनकसप्तति कहा गया। परन्तु डॉ० वेल्बाल्कर के अनुसार हिरण्यसप्तति[२२८] एक व्याख्यान् ग्रथ है जो आचार्य विन्ध्यवास की थी।[२२९] किन्तु डॉ० बेल्बाल्कर ने योगवृत्ति मे उदधृत विन्ध्यवास वचन के आधार पर जो उक्त मत दिया है वह ग्रथ गद्यात्मक है तब ऐसे व्याख्यान ग्रथ का नाम हिरणसप्तति कैसे उचित होगा? क्योकि सप्तति यह गणनापरक शब्द पद्य के सबध मे प्रयुक्त होती है अत बेल्बल्कर का मत असगत है। आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत साख्यकारिका साख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रचलित एव सर्वविदित ग्रथ है[२३०]। यह ग्रन्थ छन्दोबद्ध कारिकाओ से युक्त है जो वस्तुत सूत्र ही जान पडती है। सूत्रो की भाति ये कारिकाए भी सारवद्विश्वतोमुखम् ही है थोडे मे विविध अर्थजात इनमे भरा हुआ है। यही कारण है कि ये गुरु गम्भीर और दुरुह रही परिणामरवरूप ग्रथ रचना के बाद ही से व्याख्यान ओर टीकाए लिखी जा रही है।

साख्यसप्तति की टीका माठरवृत्ति के चीनी अनुवाद मे आचार्य ईश्वरकृष्ण को साख्यसप्तति का रचयिता और पो–पो–ली का शिष्य कहा गया है। पो–पो–ली का हिन्दी अनुवाद शिष्यपरम्परयागत पद की व्याख्या करते हुए जापानी विद्वान डॉ० तकाकुसु वर्ष अर्थात (पोपोली > पोसोली > पोलिसो > वरीसो > वर्ष) वार्षगण्य मानते है, किन्तु आचार्य द्वय ईश्वरकृष्ण और वार्षगण्य मे ऐतिहासिक कालक्रम का इतना अन्तर है कि ये गुरु–शिष्य परम्परा मे नही गाने जा सकते। इसका खण्डन डॉ० बेल्बाल्कर करते हुए पोपोली का राबध आचार्य देवल से मानते है क्योकि माठराचार्य[२३१] के द्वारा उल्लिखित आचार्यो मे आचार्य देवल अन्तिम है इस आधार पर यहॉ आचार्य ईश्वरकृष्ण का गुरु आचार्य देवल को माना है। लेकिन प० शास्त्री इसके विरुद्ध कहते है कि आचार्य देवल के पश्चात प्रभृति और उसके बाद तेभ्य आया है। जिससे रपष्ट है कि आचार्य द्वय देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच भी कई आचार्य हुए यद्यपि पोपीली का अर्थ 'कपिल करना उचित होगा क्योकि एक तो आचार्य ईश्वरकृष्ण जिस ग्रथ तत्र अर्थात् षष्टितत्र का सक्षेप किया है उसका साक्षात् सबध महर्षि कपिल से है और दूसरे माठरवृत्ति मे सर्वप्रथम साख्याचार्य कपिल का साक्षात निर्देश है कपिलादासुरिणा

प्राप्तम । अत परम्परा का मूल आचार्य होने के कारण महर्षि कपिल को आचार्य ईश्वरकृष्ण का गुरु मानना शिष्यपरम्परयागत और ऐतिहासिक व तार्किक दृष्टि से भी सगतपूर्ण है।

सामान्यत आचार्य ईश्वरकृष्ण के सप्तत्या किल येऽर्थास्तेऽर्था कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य[२३२] स्वकीय कथन से ही कारिकाओ साख्यविषयक विवाद का साधान हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नही हुआ। वर्तमान मे बहत्तर कारिकाए उपलब्ध है जबकि उक्त कथनानुसार सत्तर कारिकाए होनी चाहिए। अत प्रश्न उठता है कि ऐसी कौन–सी दो कारिकाए है जो प्रक्षिप्त हो सकती है। लोकमान्य तिलक विल्सन महोदय[२३३] की इस बात से सहमत है कि साख्यकारिका मे सत्तर कारिकाए ही थी तथा गौडपादभाष्य मे उनहत्तर कारिका तक का ही भाष्य मिलता है यहॉ बीच की एक कारिका लुप्त हो गई है।[२३४] लोकमान्य तिलक अपने समर्थन मे कहते है कि गौडपादभाष्य[२३५] मे भी सत्तर कारिका की बात कही गई है। लुप्त कारिका के लिए गौडपादभाष्य के आधार पर इकसठवी कारिका के बाद की कारिका होना बताया है। क्योकि इकसठवी कारिका का[२३६] जो भाष्य मिलता है उसमे एक नही दो कारिकाओ का भाष्य सम्मिलित है। इसमे एक तो इकसठवी कारिका की जिसमे प्रकृति के सुकुमारत्व का वर्णन है और दूसरी कारिका जो इसके बाद की होनी चाहिए जिसमे ईश्वरादि कारणता का उल्लेख है। उक्त लुप्त कारिका इस प्रकार की हो सकती– कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा। प्रजा कथ निर्गुणता व्यक्त काल स्वाभावश्च' क्योकि पूर्वकाल मे स्वभाव काल एव ईश्वर भी जगत के कारण माने जाते थे यह बात श्वेताश्वर उपनिषद् के स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिगुह्यमाना। देवस्यैष तु लोके ये नेद भ्राम्यत बाहाचक्रम मत्र से स्पष्ट होती है। किंतु एस० सूर्यनारायण शास्त्री ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि इकसठवी कारिका के गौडपादभाष्य[२३७] और माठरवृति[२३८] के अन्तिम भाग मे किया गया है सुकुमारतम शब्द का परामर्श इस सभावना का सर्वथा निराकरण कर देता है कि इकसठवी कारिका के भाष्य का उत्तरार्ध किसी अन्य का भाष्य है क्योकि सुकुमारतम पद इकसठवी कारिका मे ही स्थित है। फिर ईश्वर–निषेध वाली कारिका के लुप्त होने की तो कारिका से लुप्त होने के साथ भाष्य से भी लुप्त करनी चाहिए थी जो गौडपादभाष्य के साथ माठरवृति मे भी उलट–फेर करनी पडती। डॉ० हरदत्त शर्मा[२३९] का तर्क है कि तत्र सुकुमारतर वर्णयति के अनतर न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' पक्ति आनी

चाहिए न कि के चिदीश्वर कारण ब्रूवते क्योकि ईश्वरादि की कारणता का कथन प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन नही है। इकसठवी कारिका के बाद बासठवी कारिका मे आचार्य ईश्वरकृष्ण ने जो विषय प्ररतुत किया है उसमे भी क्रमबद्धता और विषयरूपता है। अत इनके बीच लोकगान्य तिलक का एक नई कारिका जो ईश्वर कारणता का निषेध करती है की आशा करना अतार्किक और काल्पनिक है।

विद्वान अय्यारवामी शास्त्री[२४०] का मत है कि चीनी भाषा मे अनुदित सरकृत टीका मे अपनाई गई सोलह विकारो की उत्पत्ति की पद्धति साख्यकारिका से सर्वथा भिन्न है। २२वे और २५वे कारिका से रपष्ट है कि एकादश इन्द्रिया व पचतन्मात्राए अहकार से तथा पचतन्मात्राओ से पचमहाभूत उत्पन्न होते है। किन्तु ३ ८ १० १५ ५६ ५६ और ६८वी कारिका की व्याख्या मे चीनी अनुदित सरकृत टीका सोलह विकारो (एकादशेन्द्रिय और पचमहाभूत) को पचतन्मात्राओ से निकला हुआ बताते है। जबकि यह २१ २५ २६ ओर २७ वी कारिकाओ इस विषय मे विरोध नही करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण के समय तक और कुछ समय बाद तक भी विकारो की उत्पत्ति प्रक्रिया अनिश्चित थी। क्योकि उनके समकालीन एव कुछ पूर्ववर्ती व परवर्ती ग्रथो मे भी इससे नितान्त भिन्न विवरण प्राप्त होते है। यही नही साख्यकारिका की २२ २४ २५ और ३६ वी कारिका के आधार पर सूक्ष्मशरीर को अटठारह तत्त्वो से बना हुआ माना जाता है। गौडपादभाष्य के अतिरिक्त टीकाए भी यही मानती है। किन्तु चीनी अनुदित सस्कृत टीका सूक्ष्मशरीर को सात तत्त्वो (महत् + अहकार + पचमन्मात्र) से निर्मित मानती है। इस बात का समर्थन गौडपादभाष्य के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही मिलता। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए छ प्रकार के अवलोकन या विचार ओर आठ प्रकार के बुद्धभग जिनकी कोई भी चर्चा किसी भी टीका मे नही मिलती। इसलिए यह कहना गलत नही होगा कि इन तथ्यो का उद्भव या आरम्भ–पष्टितत्र जैसे कुछ अत्यन्त प्रचीन ग्रथो से हुआ हो। लकिन इस सबध मे प० उदयवीर शास्त्री[२४१] के अनुसार आचार्य ईश्वरकृष्ण ने पदार्थो के प्रादुर्भाव तथा उनके क्रम की एक ही निश्चित रीति को रवीकार किया है और यह भी आचार्य ईश्वरकृष्ण के लेखानुसार निश्चित है कि वही रीति षष्टितत्र मे भी रवीकृत की गई है। पचाधिकरण के अतिरिक्त अन्य सभी उपलब्ध साख्याचार्यो के लेखो मे इन्द्रियो को अहकारिक ही माना गया है भौतिक नही। इसके बिपरीत

अन्य अनेक दार्शनिक सप्रदाय जैसे—न्याय वैशेषिक बौद्ध शाकरवेदान्त आदि इन्द्रियो को भौतिक ही मानते है। साख्याचार्य पचाधिकरण भी यही मानते है। फिर जिस चालीसवी कारिका के आधार पर चीनी अनुवाद मे सूक्ष्मशरीर को सात तत्वो वाला माना गया है। उसी के आगे १० ४१ ४२ और ६२वी कारिका के चीनी अनुवाद मे सूक्ष्मशरीर के अटठारह तत्त्व स्वीकार किये गऐ है।[२४२] जबकि बयालिसवी कारिका के गौडपादभाष्य मे सूक्ष्मशरीर को अट्ठारह तत्त्वो का माना गया है। अय्यास्वामी शास्त्री आगे कहते है कि परमार्थ के साक्ष्य के आधार पर हमे स्वीकार करना पडेगा कि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने केवल सत्तर ही कारिकाए लिखी थी न एक कम और न एक अधिक। क्योकि वसुबन्धुचरित मे लिखा है कि आचार्य वसुबन्धु ने सुवर्णसप्तति अर्थात् साख्यकारिका का खण्डन करने के विशिष्ट अभिप्राय से ही उसका अनुकरण करते हुए सत्तर कारिकाओ का अपना परमार्थसप्तति नामक ग्रथ लिखा। कारिका तिरसठ जिसका अनुवाद परमार्थ ने नही किया है तथा कारिका बहत्तर जिसे चीनी अनुवाद मे किसी मेधावी की उक्ति कहा गया है। चूँकि यह कारिका चीनी भाषा मे अनुदित नही हुई है और इस कारण से परमार्थ के समय के बाद का प्रक्षेप प्रतीत होता है।[२४३] लोकमान्य तिलक को छोडकर सोवानी अय्यारवामी ओर विल्सन बहत्तरवी कारिका को प्रक्षिप्त मानते है जबकि कारिकाओ के सत्तर होने की अकाटय सूचना बहत्तरवी कारिका से ही प्राप्त होती है अत यह मत असगत है। लेकिन सोवानी के मत मे भी असगति है जब वे सत्तरवी को उनहत्तरवी से कम महत्वपूर्ण नही समझते जो साख्य के प्राचीन आचार्यों की परम्परा एव उसके अविच्छिन्न सप्रदाय को बताने के लिए आवश्यक है।[२४४] प० उदयवीर शास्त्री ने चीनी अनुवाद के मूल जो ५५७–५६६ ईस्वी के बीच मानी जाती है से भी प्राचीन माठरवृत्ति को सिद्ध किया। जिसमे अन्तिम तीनो कारिका पर टीका है। अत गौडपादाचार्य के बाद का इन्हे प्रक्षिप्त मानना नितान्त असगत है।

सम्भव है कि अन्तिम तीन कारिकाओ का दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण न होने के कारण आचार्य गौडपाद ने इसका उल्लेख न किया हो। फिर भी यदि साख्यकारिका के प्रथम टीकाकार आचार्य गौडपाद के भाष्य के आधार पर उक्त तीनो कारिकाओ को प्रक्षिप्त मानकर हटा दिया जाये तो सत्तरहवी और इकहत्तरवी कारिका का मूल ग्रथ मे सम्मिलित न होने पर उनहत्तरवी कारिका के वर्णन के अनुसार साख्यकारिका के रचयिता महर्षि कपिल होगे और

तब साख्यकारिका की प्रामाणिकता पर प्रभाव पडेगा। क्योकि सत्तरवी कारिका प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्देश करती है एव इकहत्तरवी कारिका शिष्य–परम्परा द्वारा मूल शास्त्र के आचार्य ईश्वरकृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है। जबकि बहत्तरवी कारिका इस ग्रथ की रचना का कथन करके इराकी पूर्व प्रतिपादित प्रामाणिकता को सुदृढ करती है। यहाँ प० शास्त्री[२४५] के अनुसार इन चारो कारिकाओ का परस्पर तार्किक सामजस्य इतना सगठित और सतुलित है कि उसमे से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु हो सकता है। बहत्तरवी कारिका मे उद्धित सप्तति का शब्दार्थ सत्तर अवश्य है परन्तु इसका अभिप्राय यहाँ लगभग सत्तर ही है ठीक सत्तर नही। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रथ का नाम सप्तति समझना चाहिए केवल सिद्धान्तपरक सत्तर कारिकाओ का नही। सबसे बडी बात यह है कि युक्तिदीपिका[२४६] मे भी साख्यकारिका को सप्तति कह कर भी पूरी बहत्तर कारिकाओ की व्याख्या की गई है। वास्तव मे साख्यकारिका मे बहत्तर कारिका होने पर भी उसको सप्तति वेसे ही माना गया है जैसे भर्तृहरि की श्रृगारशतक जिसमे १०२ श्लोक है हाल की गाथासप्तशती जिसमे ७०३ पद है अथवा साम्ब की साम्बपचाशिका जिसमे ५३२ श्लोक है का नामोल्लेख किया जाता है।

प्रक्षिप्त अशो को छोड दे तो सूत्र और कारिका के बीच कई विषयो यथा सृष्टिक्रम, सूक्ष्म व स्थूल शरीरो के घटकावयव प्रकृति व पुरुष के रूप मे दो मूल तत्त्व के साथ कुल पच्चीस तत्त्वो के सबन्ध मे समानता है।[२४७] यद्यपि साख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका से स्पष्ट होता है कि कुछ साख्यचार्य प्रधान और महत के बीच एक और सूक्ष्म तत्त्व मानते है लेकिन पचाधिकरण वार्षगण्य आचार्यगण सूत्र और कारिका की भाति ही प्रकृति से सीधे महत् तत्त्व की उत्पत्ति मानते है। अहकार से पचतन्मात्रो की उत्पत्ति प्राय सभी आचार्य मानते है किन्तु आचार्य विन्ध्यवासी महत से छ तत्त्वो (अहकार + पचतमात्र) की उत्पति मानते है। साख्यसूत्र[२४८] मे स्पष्टत इन्द्रियो के भौतिकत्व का खण्डन तथा अहकारिकत्व का कथन किया गया है। प० उदयवीर शास्त्री[२४९] के अनुसार साख्यसूत्र और साख्यकारिका मे महत्वपूर्ण भेद ईश्वर की मान्यता को लेकर है। आचार्य भिक्षु के अनुसार वर्तमान साख्यसूत्र ईश्वर की नित्य सत्ता का खण्डन करता है तथापि यह खण्डन वास्तविक नही। अपितु विशेष अभिप्राय या कारण से किया गया होने के कारण अवास्तविक है। ब्रह्मसूत्रो मे स्वतत्र प्रधानकारणवाद का खण्डन होने से प्रतीत होता है

कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व व्यास से पूर्व साख्य निरीश्वरवादी था एव उपलब्ध साख्यसूत्रो मे ईश्वर विषयक एकाध सूत्र तो ऐसे है जिन्हे ईश्वर खण्डनपरक मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। आचार्य ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका मे प्रत्यक्षत ईश्वर का खण्डन तो नही किया गया है तथापि कही भी उन्होने उसका प्रतिपादन भी नही किया है। यहॉ तक कि प्रकृति से सृष्टि मानी गई है और ज्ञानाभ्यास के सन्दर्भ मे भी ईश्वर का उल्लेख नही किया गया है। अत आचार्य ईश्वरकृष्ण अनीश्वरवादी ही थे। परन्तु लोकमान्य तिलक पुरुष को उपादान कारण न मानने के कारण निरीश्वरवादी आचार्य ईश्वरकृष्ण को जडवादी मानते है लेकिन यह मान्यता अनुचित है। क्योकि यह ठीक है कि साख्यकारिका[२५०] मे प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन ईश्वर की कारणता का कथन नही है किन्तु के चिदीश्वर कारण ब्रुवते-------तस्मात कालो न कारण नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारण न प्रकृते कारणन्तरमरतीति पूरा भाष्य[२५१] जिसमे ईश्वर काल और स्वभाव की सृष्टि कारणता का पहले पूर्वपक्ष के रूप मे उसके निषेध तथा प्रधान की सृष्टि कारणता का कथन है अवश्य ही प्रधान की सुकुमारता का वर्णन है। जैसा कि ऊपर उद्धृत भाष्याश के ठीक बाद की न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य इत्यादि भाष्य पक्ति से रपष्ट है। क्योकि पुरुष जब प्रधान के उस वारतविक रवरूप सृष्टि के प्रति उसके उपादानत्व को जान लेता है तो मानो प्रकृति यह जानकर कि पुरुष ने मेरे रवरूप को पहचान लिया है पुन उसके समक्ष नही आती लज्जावती सुकुमारी को भाति उसके निवृत्त या पराडमुख हो जाती है। यह प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन है। इसी वर्णन का उपसहार स्वाभाविक रूप से न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषरय इस पक्ति मे किया गया है। अत लोकमान्य तिलक का यह मनना कि कोई ऐसी कारिका थी, जिसमे ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया था लुप्त हो गई है मानना सगतपूर्ण नही है। आचार्य ईश्वरकृष्ण सृष्टि के उपादान अथवा निमित्त कारण किसी भी रूप मे ईश्वर को न मानने के कारण निरीश्वरवादी आचार्य है और पुरुष को सृष्टि का उपादान कारण न मानते हुए भी निमित्त कारण मानने से आचार्य ईश्वरकृष्ण पुरुषवादी और आध्यात्मवादी है जडवादी कदापि नही। क्योकि आचार्य ईश्वरकृष्ण मोक्ष का हेतु विवेकज्ञान को ही रवीकार करते है।[२५२]

साख्यदर्शन के विकास मे महर्षि कपिल और आचार्यगण पचशिख, जनक जैगीषव्य आदि ने अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया यद्यपि उनमे से अधिकाश की कृतिया

कालकवलित हो चूँकी है। किन्तु यह सत्य है कि साख्यदर्शन के समूचे विकास मे साख्यसिद्धान्तो का आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत प्रतिपादन एव व्याख्यान अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्बन्ध मे आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत साख्यकारिका एक अति महत्वपूर्ण प्रकाशमान ज्ञानदीप है। साख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय वही है जो महर्षि कपिल कृत प्राचीन साख्यग्रथ षष्टितत्र का था। सख्यकारिका मे षष्टितत्र के केवल सिद्धान्तो को ग्रहण कर उनकी आख्यायिकाओ और व्याख्यानो को छोड दिया गया है। वर्तमान मे साख्यदर्शन का जो स्पष्ट और सामान्य धारणा है उसके लिए साख्यकारिका एक दर्पण है जिसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

साख्यकारिका का प्रारम्भ इस अकाटय सत्य की स्वीकृति से होती है कि जीवन दुखमय है और प्राणिमात्र उससे छुटकारा (मुक्ति) प्राप्त करना चहता है दूसरी कारिका मे मुक्ति के साधन के रूप मे व्यक्त अव्यक्तज्ञ विवेकपरक तत्त्वज्ञान के महत्व को स्वीकार कर वेदोक्त यज्ञादि कर्म की अज्ञानता का निर्देश है। तीसरी कारिका मे व्यक्ताव्यक्तज्ञ नाम त्रिविध साख्यीय तत्त्वो को अन्य प्रकार से चार कोटियो मूल प्रकृति (प्रकृति) प्रकृति–विकृति (सात = महत + अहकार + पचतन्मात्राए) केवल विकृति (सोलह तत्त्व = एकादशेद्रिया + पचमहाभूत) और न प्रकुति न विकृति रूप पुरुष का उल्लेख है। जबकि चौथी से छठी कारिका मे ज्ञानमीमासीय स्वरूप की विवेचना है जिसमे त्रिविध प्रमाणो को बताया गया है। सातवी कारिका मे उन आठ स्थितियो का वर्णन है जिनके कारण विद्यमान वस्तुओ का भी प्रत्यक्ष नही होता। लेकिन आठवी कारिका प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्मता के कारण उनका प्रत्यक्ष नही अपितु सामान्यऽतोदृष्ट अनुमान से ज्ञान प्राप्त करते है। नवी कारिका से सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है तो दसवी और ग्यारहवी कारिका मे व्यक्त और अव्यक्त के भेद एव दोनो के परस्पर सादृश्य और पुरुष का उनसे वैषम्य दिखया गया है। बारहवी और तेरहवी कारिका मे गुणो का स्वरूप का वर्णन है तो चौहदवी कारिका मे अविवेकत्व विषयत्व आदि धर्मो के आश्रय के रूप मे अव्यक्त की सिद्धि के साथ पद्रहवी और सोलहवी कारिका अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करने के साथ सृष्टि और प्रलय की व्याख्या करती है। सहत्रहवी से उन्नीसवी मे पुरुष की सत्ता अनेकत्व और स्वरूपत्व की विवेचना है। बीसवी कारिका अकर्ता को कर्ता समझने और इक्कीसवी कारिका प्रकृति–पुरुष के परस्पर सयोग होने का उल्लेख करता है। बाइसवी कारिका मे सृष्टि विकास

क्रम के तेइस तत्त्वो के और तेइसवी कारिका मे बुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। चौबीसवी कारिका मे अहकार तत्त्व का उल्लेख है पचीसवी मे अहकार से उत्पन्न होने वाले एकादशेन्द्रियॉ और पचतन्मात्राओ को बताया गया है। २६वी कारिका मे दस इन्द्रियो की तथा २७वे मे मन की स्पष्ट विवेचना की गई है। अटठाइस से सैतीसवे कारिका मे पचज्ञानेन्द्रियो के व्यापार त्रिविध अन्त करण के लक्षण कर्मेन्द्रिय त्रयोदशकरण आदि और उनके विषयो आदि का विवेचन किया गया है। अडतीसवी कारिका मे तन्मात्रा का उल्लेख है तो ३६ से ४३वी कारिका मे सूक्ष्मशरीर (लिगशरीर) ओर स्थूलशरीर के स्वरूप को बताया गया है। चवालिस और पैतालिसवी कारिका मे धर्म–अधर्म की गति और ४६ से ५२वी कारिका मे बुद्धि के धर्मादि आठ भावो का विस्तृत वर्णन किया गया है। ५३वी कारिका मे तन्मात्रा सर्ग के वर्णन मे देव तीर्थक और मनुष्य सृष्टि के प्रकार का उल्लेख है ५४वी कारिका मे लोको को गुणो के आधार पर बाटा गया है। ५५वे कारिका द्वारा दु ख के मूल कारण को तथा ५६वे द्वारा सृष्टि के प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है। इकसठ से छासठवी कारिकाओ मे प्रकृति कृत सृष्टि का पर्यवसान मोक्ष मे दिखाया गया है। ६७ से ६८वी कारिका के अनुसार शरीरपात होने पर भोग और अपवर्ग दोनो ही प्रयोजन तथा प्रकृति से निवृति द्वारा पुरुष की आत्यन्तिक मुक्ति का उल्लेख है। इस प्रकार साख्यकारिका मे एक से अडसठवी कारिका तक मे साख्य दर्शन के प्रतिपाद्य विषय अर्थात् सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है। जबकि ६६वी के महर्षि कपिल को साख्यमत का मूल उपदेष्टा ७०वी मे गुरु–शिष्य परम्परा ७१वी मे कृतिकार ने साख्य परम्परा को ग्रहण कर प्रस्तुत करने की आत्म स्वीकृति है और ७२वी कारिका मे कृति के मूलस्रोत षष्टितत्र का उल्लेख किया गया है।

लेकिन साख्यकारिका की सम्यक विवेचना से स्पष्ट है कि इस कृति मे साख्य दर्शन के मूल स्वरूप मे असगति दिखाई देती है जो प्रकृति और पुरुष के स्वरूप और उनके सबधो के सदर्भ मे स्पष्ट होने के साथ पुरुष के स्वरूप और पुरुषबहुत्व सम्बधी धारणा के विवेचन मे परिलक्षित होती है।

पाद टिप्पणी

१ – Samkhy systcm, P- 9&47to 49, A History of Samsknt Literature, P- 488

२ – साख्यतत्त्व कौमुदी भूमिका पृ०– १४

३ – जयमगलाटीका पृ०– २व३

४ – आदि विद्वान निर्माणचित्तधिष्ठाय कारुणावाद् भगवान परमर्षि रासुरये जिज्ञासमानाय तत्र प्रोवाच

५ – भगवद् पुराण– १/३/११ गरुण पुराण– १/१/१८

६ – शर्मा डॉ० हरिदास जयमगलाटीका जयमगला सहित साख्यकारिका

७ – साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०– ५५व५६

८ – जन्मौषधिमत्रतप समाधिजा सिद्धय ।।योगसूत्र– ४/१/४।।

६ – योगसूत्र भाष्य– ४/१

१०– आरण्यक हरिहरानन्द भास्वती (योगसूत्र भाष्य पर टीका) पृ०– ३६२

११– जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूरात ।।४/२–योगसूत्र भाष्य।।

१२– निर्माणकार्य चित्तान्यास्मिता मात्रात् ।।योगसूत्र–४/४।।

१३– क्लेश कर्म विपाकाशयैरूपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रर्वतकोऽनुग्राहकश्चेति पातजला

।। प्रारभिक भूमिका– न्यायकुसुमाजलि।।

१४– योगी खलुत्र्रृद्धौप्रादुर्भूताया विकरणधर्मा निर्माय सोन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपद् ज्ञेयान्युपलभते

।। ३/२/१६ न्यायसूत्र पर भाष्य।।

१५– टीका–भास्वती पृ०– १

१६– श्वेताश्वर उपनिषद् को छोडकर महर्षि कपिल का उल्लेख अन्य किसी श्रुति मे नहीं मिलता।

१७– गीता– १०/२६

१८– कपिल साहुराचार्या साख्यनिश्चितनिश्चया– ३३६/६८ साख्यस्य वक्ता कपिल परमर्षि स उच्यते–

३५०/६५ ।।शातिपर्व।।

१६– वनपर्व– १०७/२६से३३

२०– बालकाण्ड बाल्मीकि रामायण– ४०/२५से३०

२१– भागवद् पुराण– १/३/११ और ३/२४/१६ गरुण पुराण– १/१/१८

२२– वनपर्व– २२१/२१

२३– वायुपुराण– ५/४५

२४– शाातिपर्व– ३४०/६६ ७० व ७२

२५– वनपर्व– १०७/२६

२६– शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०– १

२७– ऋषि प्रभूत कपिल यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभार्तै जायमान च पश्येत ।।श्वेताश्वर उपनिषाद्–५/२।।

२८– ब्रह्मरात्र भाष्य– २/१/११

२६– आनन्दगिरि ब्रह्मसूत्र भाष्य पर टीकाकार

३०– शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०– १३

३१– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

३२– साख्याना कपिलो देवो रुद्राणायसि शकर इति परमार्षि प्रसिद्ध ।।५/२–श्वेताश्वर उप० भाष्य।।

३३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१

३४– साख्यतत्त्वकौमुदी– ६६वीं कारिका पर

३५– साख्यतत्त्वकौमुदी– ४३वीं कारिका पर

३६– योगसूत्र भाष्य– १/२५

३७– साख्यकारिका– ७०

३८– साख्यकारिका– ७१व ७२

३६– युक्तिदीपिका– ३व १४

४०– ब्रह्मसूत्र– २/१/१

४१– अहिर्बुध्न्यसहिता– १२१/ १६

४२– तर्करहस्यदीपिका

४३– अध्याय– १२

४४– अध्याय– ७२

४५– भामती– २/१/३ Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-213-214

४६– साख्यकारिका– ७०

४७– साख्यकारिका– ६६

४८– Samkhya system, p-48

४६– साख्यतत्त्व कौमुदी भूमिका पृ०– १६

५०– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ८३

५१– बहुधा कृत तत्र षष्टितत्राख्य षष्टिखड कृतमिति। तत्रैव ही षष्टिरर्था व्याख्याता – जयमगला पृ० ५

५२– ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान ।। ४/१३– योगसूत्र भाष्य।।

५३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/३

५४– General of Oriental Rsearch, Pt-III, pp-107-112

५५– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ८७से६१

५६ - साख्यकारिका– ७१

५७– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १०४

५८– अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुछिधीर्षु कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाण प्रथमसूत्र चकार – अनिरुद्धवृत्ति

५६– श्री कण्ठभाष्य ब्रह्मसूत्र– २/२/१ के सन्दर्भ मे साख्यसूत्र– १/७६ और ब्रह्मसूत्र– २/२/८ के सन्दर्भ मे साख्यसूत्र – १/१६ व १/७ प्रधानकारणवादे पक्षपाहेतु परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादान इत्यादि कपिलसूत्रोक्त सूचयन पूर्वपक्षयति प्रधानेति ।

६०– साख्यसूत्र– १/६१

६१– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १८५

६२– सुश्रुतसहिता अध्याय– १ सत्त्वरजस्तमोलक्षणम् अव्यक्त नाम ।

६३– अहिर्बुध्न्यसहिता– ६/१७व१८

६४– साख्यसूत्र– ३/१४

६५– नैषधचरित– १११/५६११

६६– न्यायसूत्र भाष्य – १/१/४

६७– साख्यसूत्र– २/१६ व २६

६८– प्रायश्चित प्रकरण श्लोक– १०६

६६– साख्यसूत्र– ३ /१८ ३६ व ४०

७०— तत्त्वसमास— २ १६ १६ और २२

७१— साख्यसूत्र— ४/३

७२— साख्यसूत्र— २/३३

७३— साख्यसूत्र— १/१२४

७४— साख्यसूत्र— २/३१

७५— साख्यसूत्र— २/१८

७६— साख्यसूत्र— ५/३२ और ६/६८

७७— The six Systems of Indian Philosophy

७८— वृहदारण्यक उपनिषद्— १/४/१०

७९— मिश्र डा० आधा प्रसाद साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०— १०२

८०— साख्यसूत्र

८१— साख्यसूत्र— १/१६

८२— साख्यसूत्र— १/५५

८३— साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— २४० और २४२ से २४६

८४— साख्यसूत्र— १/५२

८५— साख्यसूत्र— १/५४

८६— साख्यसूत्र— १/५३

८७— साख्यसूत्र— १/१५

८८— मिश्र डा० ए० पी० साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०— १०४

८९— न पाचभौतिक शरीर बहूनामुपादानायोगात्

९०— साख्यसूत्र— ५/१११ और ५/११२

९१— भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसगात भृत्यद्धारा स्वाम्भधिष्ठितिर्नैकान्तात्

९२— साख्यसूत्र— १/१२४

९३— हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिगम। सावयव परतत्र व्यक्त विपरीतमव्यक्तम्।।१०।।

९४— साख्यसूत्र— २/१८

९५– साख्यकारिका– २५

९६– एकादश पचतन्मात्र तत्कार्यम्– २/१७ कार्यम् नपुसकलिग है और तत पर से पूर्वसूत्र मे स्थित अहकार का परामर्श होता है।

९७– अभिमानोऽहकारस्तास्माद् द्विविध प्रवर्तते सर्ग। एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पचकश्चैव।२४।। यहॉ गण शब्द पुलिग है।

९८– साख्यसूत्र– २/३१

९९– साख्यसूत्र– २६

१००– ब्रह्मचारी विष्णु कृत हिन्दी अनुवाद वेदान्त केसरी

१०१– ब्रह्मसूत्र भाष्य पृ०– ५७७ अन्य समस्त प्रामाणिक सस्करणो मे भी सामान्याकरण वृत्ति इत्यादि ही पाठ है। अत यही प्राचीन मौलिक पाठ होगा। ५वॉ सस्करण वाणी विलास सस्करण, भामती तरू परियल सहित मुम्बई सस्करण चौखम्भा सस्करण सि० वाराणसी सस्करण आदि मे यही पाठ मिलता है।

१०२– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ४८ से ५२

१०३– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– २०४ से २०६

१०४– साख्यसूत्र– १/१६

१०५– प्राचीन और मौलिक साख्य की कृति History of Indian Philosophy, Pt-I, pp-213 & fn-224 & 216 to 218

१०६– पाण्डेय राम सुमेर महाभारत और पुराणो मे साख्य दर्शन पृ०– ७७ से ७९

१०७– साख्यसूत्र साख्यकारिका– ३

१०८– A History of Samskrit Literature, P- 488 to 489, SamkhyaDie system, p-112 & 109

१०९– Die Samkhya Philosophy, pp-68 to 70

११० – The six Systems of Indian Philosophy, pp-318ff

१११– Outline of Indian Philosophy, pp-269

११२– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-254

११३– Origin & development of Samkhya system of thought, pp-116 & 118

११४– साख्य के प्राचीन ग्रथ सूत्र के ऊपर विवेचन

११५– गार्बे एच० बी० पी की आवृत्ति पृ०– ११

११६– साख्यसूत्र– ४/३

११७– साख्यसूत्र– ५/४६

११८– सर्वदर्शनसग्रह

११९– तर्करहस्यदीपिका

१२०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-255-256, fn-4

१२१– MaxMullar, The six Systems of Indian Philosophy, pp-242, साख्य की प्राचीनतम कृति है।

१२२– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-254

१२३– शर्मा सी०डी भारतीय दर्शन अलोचन और अनुशीलन, पृ०– १३७ से १३८

१२४– योगसूत्र भाष्य– १/२५

१२५– साख्यकारिका– ७०

१२६– आसुरे प्रथम शिष्य २१८/१०, आसुरिर्मण्डले तस्मिन् २१८/१४, तस्य पचशिख शिष्यो २१८/१५

१२७– भागवद् पुराण– १/३/१०

१२८– Samkhya system, p-47 to 49

१२९– तत्त्ववैशारदी (योगभाष्य पर टीका)

१३०– आसुरि सगोत्र ब्राह्मण विशेष वर्षसहस्रया जिनमधि कारिणमवगत्य माठरवृत्ति पृ०– २

१३१– आसुरि सगोत्र ब्राह्मण विशेष वर्षसहस्त्रया जिन भाग त्योवाच जयमगला

१३२– मुनिर्भगवान् कपिल आसुरिसगोत्राय ब्राह्मणाय वर्ष सहस्राजिनेऽधि कारितामवगम्य प्रददौ –अनिरुद्धवृत्ति।

१३३– Samkhya and Yoga, pp-2to3

१३४– युक्तिदीपिका, पृ०– १४८

१३५– सर्वप्रत्युपभोग यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धि । सैव च विशिनष्टि पुन प्रधानपुरुषान्तर सूक्ष्मम् ।।३७।।

१३६– बुद्धिहि पुरुष सान्निधानात् सा पुरुषमुपभोजयति तत्त्वकौमुदी पृ०– १६६

१३७– कुसुमवच्च मणि– २/३५

१३८– ऋग्वेद– १०/१२९

१३६– अव्यक्त प्रकृतिमाया प्रधान ब्रह्मकारणम्। अव्याकृत तम पुष्प क्षेत्रक्षरनामकम।।

१४०– योगभाष्य– १/२५

१४१– साख्यकारिका– ७०

१४२– साख्यकारिका– ६६

१४३– बहुधा कृत तत्र षष्टितत्राख्यम षष्टिखण्ड कृतिमिति तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याता बहुभ्यो जनकवाशिष्यादिभ्य समाख्यात् ।

१४४– Webei, History of Indian Letrature, pp-235

१४५– वृहदारण्यक उपनिषाद्– ४/४/१३

१४६– शातिपर्व– ३२६/२४

१४७– शातिपर्व –२१८/१० से १२ और १५ से १७

१४८– श्लोक सख्या– १० से १२ की व्याख्या

१४९– इसकी तुलना महत परमव्यक्तमव्यक्तात पुरुष पर इस कठोपनिषद् मे आए अव्यक्त शब्द की शकरचार्य कृत व्याख्या करने पर नीलकठ महोदय की वेदान्तीय दृष्टि स्पष्ट होती है।

१५०– योगभाष्य– २/६

१५१– अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचार्याऽपरिग्रहा यमा ।।योगसूत्र–१२/३०।।

१५२– साख्यसूत्र– ६/६८

१५३– साख्यसूत्र– २/२३

१५४– योगसूत्र– २/२३

१५५– न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगाहते – १/१६ तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्'– १/५५ ।।साख्यसूत्र।।

१५६– साख्यसूत्र– ६/६८

१५७– His doctrin of the reason of the eternal by the eternal body or sycic ppperchos, Samkhya system,

१५८– साख्यसूत्र– ५/३२

१५९– साख्यसूत्र– ५/५६ ६० ७६ ६६ ११६ १२२ १२६

१६०– साख्यसूत्र– ५/२६

१६१– साख्यसूत्र– ५/३० न तत्वान्तर वस्तुकल्पनाप्रसक्ते

१६२– साख्य प्रवचन भाष्य पृ०– २१६

१६३– साख्यसूत्र– ५/३१

१६४– अनिरुद्धवृत्ति पृ०– १६४

१६५– साख्यप्रवचन भाष्य पृ०– १६४

१६६– वृत्तिराार पृ०–१६४

१६७– साख्यसूत्र वृत्ति– अग्रेजी अनुवाद वाला भाग पृ०– १६५ और ४१५ पाद टिप्पणी– २

१६८– साख्यसूत्र– ५/३२

१६९– तत्त्वयाथार्थ्य दीपक भूमिका श्लोक– ३

१७०– Samkhya system, pp-336& 483

१७१– तत्त्याथार्थ्य दीपन पृ०– ६१ पुरुष इस तृतीय सूत्र की व्याख्या मे प्रस्तुत श्लोक उद्धृत है।

१७२– तत्त्वयाथार्थ्य दीपन पृ०–७२ यह श्लोक अध्यात्मम् अधिभूतम् तथा अधिदेवम (७–६) इन तीन सूत्रो की सम्मिलित व्याख्यान् मे उद्धृत है।

१७३– तत्त्वयायार्थ्य दीपन पृ०– ८२ यह श्लोक त्रिविधोबन्ध' इस २१वे सूत्र की व्याख्या मे उद्धृत है।

१७४– तत्त्वयाथार्थ्य दीपन पृ०– ८२ यह श्लोक २२वे त्रिविधो मोक्ष के व्याख्यान् मे उद्धृत है। योगसूत्र– २/१८ के योगवार्तिक मे आचार्य भिक्षु ने भी इसे आचार्य पचशिख का माना है।

१७५– शाति पर्व– २१६/६

१७६– शाति पर्व– २१६/८

१७७– शाति पर्व– २१६/१०

१७८– शाति पर्व– २१६/१२

१७९– शाति पर्व– २१६/१४

१८०– शाति पर्व– २१६/१५ से १६

१८१– शाति पर्व– २१६/२०से २३

१८२– शाति पर्व– २१६/२६ से ३१

१८३— योगभाष्य और तत्त्ववैशारदी— १/३६ योगसूत्र

१८४— साख्य प्रवचन भाष्य— ६/६८

१८५— योगभाष्य— २/३०

१८६— योगभाष्य— २/५२

१८७— योगभाष्य— २/५२

१८८— योगभाष्य— ३/१४

१८६ योगभाष्य ३/४४

१६०— योगभाष्य— ४/१०

१६१— योगभाष्य— ४/२५

१६२— महाभारत— १२/३१८/७३

१६३— मत्स्यपुराण— ४/२८

१६४— History of Indian Philosophy, Pt-II, pp-218 & Pt-III, pp- 479 to 480

१६५— Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-504 & Pt-II, pp-253

१६६— Origin & development of Samkhya system of thought, pp- 39ff & 55ff, Samkhya system, pp- 50 to 55

१६७— महाभारत— १२/२१८/२२ और नारदपुराण— ४४ और ४५

१६८— यूई वैशेषिक फिलासफी पृ०— ७८

१६६— शातिपर्व— ३१८/५६

२००— साख्यकारिका— ७१ पर टीका

२०१— शास्त्री साख्यदर्शन का इतिहास पृ०— ५०७

२०२— गर्गादिभ्यो यत्र गोत्र इत्येव— ४/१/१०५ ।।अष्टाध्यायी।।

२०३— शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— ५०७

२०४— करण एकादशमिति वार्षगणा मुक्तिदीपिका पृ०— १३२

२०५— करण त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।।साख्य सूत्र—२/३८।। और साख्यकारिका— ३२

२०६— युक्तिदीपिका पृ०— ३६

२०७— न्यायवार्तिका— १/१/४

२०८— शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहारा पृ०— ८७ से ८८

२०६— I Iuiyanna, Geneial of Oiiental Rseaich, Pt-III, pp-107-112

२१०— गायेव तु न गाया रातुच्छक विनाशि यथाहि मायाहनाभेवान्यया भवति एव विकारा अप्याविर्भावति रोभावधर्माण प्रतिक्षणमन्यथा प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति— तत्त्ववैशारदी

२११— शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— ८७ से ८८

२१२— ब्रहारात्र— २/१/३ पर भागती।

२१३— तथा च वार्षगणा पठन्ति प्रधान प्रवृति स्प्रत्यया पुरुषेणा परिगृह्यमणादिसर्गे वर्तते इति पृ०— १०२, करणाना गहती रवभावाति प्रधानात् रवलपा च रवत इति वार्षगण्य पृ०—१०८, साधारणो नहै महान् प्रकृत्वादिति वार्षगणान पक्ष पृ०—१४५ ।।युक्तिदीपिका।।

२१४— योगरात्र भाष्य— ३/५३

२१५— तदाह गूर्ति व्यवधि इति। उक्तभेदहेतूपलक्षणमेतद् जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथकत्व भेदो नास्तीत्यर्थ— योगरात्र ३/५३ पर टीका तत्त्ववैशारदी पृ०— २८७

२१६— गिश्र, डा० आद्या प्ररााद राख्य दर्शन की ऐतिहारिक परम्परा, पृ०— ८४

२१७— युक्तिदीपिका पृ०—६७

२१८— युक्तिदीपिका पृ०—७२

२१६— युक्तिदीपिका पृ०—६५

२२०— युक्तिदीपिका, पृ०— १०८

२२१— युक्तिदीपिका पृ०—१०८

२२२— युक्तिदीपिका पृ०—१३२

२२३— युक्तिदीपिका पृ०—१३३

२२४— युक्तिदीपिका पृ०—१७०

२२५— युक्तिदीपिका राख्या— ६, पृ० १०२

२२६— साख्यतत्त्व कौमुदी, आर्या— ४७

२२७— न्यायवार्तिका— १/१/५

२२८– अनुयोगद्वार सूत्र– ४१

२२९– भण्डारकर स्मारक ग्रथ पृ०– १७६ से १७७

२३०– आधुनिक योरोपीय और अनेक भरतीय विद्वानो का मत है कि उपलभ्यमान साख्य ग्रथो मे सबसे प्राचीन ग्रथ आचार्य ईश्वरकृष्ण रचित कारिका है– कीथ ए० बी द सस्कृत आफ सस्कृत लिटरेचर पृ० – ४८८

२३१– कपिलदासुरिणा प्राप्तमिद ज्ञानमत पचशिखेन तस्माद् भार्गवोलूक वाल्मीकि हारीत देवल प्रभृती नागतम्। ततरतेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्रापतम्। तदेव षष्टितत्रमार्याभि सक्षिप्तम् माठर वृत्ति।

२३२– साख्यकारिका– ७२

२३३– Sowani, B B A Critical study of Samkhya system, pp-8, line-15 Sowani, B B

२३४– गौडपादभाष्य मे उनहत्तरवीं कारिका की व्याख्या की गई है। अत विल्सन का मत है कि ७० ७१ और ७२ कारिकाए प्रक्षिप्त है तथा इकसठवी कारिका के बाद एक कारिका लुप्त है परन्तु लोकमान्य तिलक बहत्तरवी कारिका को प्रक्षिप्त नहीं मनते है।

२३५– साख्य कपिल मुनिना प्रोक्त ससार विमुक्ति कारण हि। यत्रैता सप्ततिरियो भाष्य चात्र गौडपाद कृत।

२३६– प्रकते सुकुमारतर न किचिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य– साख्यकारिका।

२३७– तरमात् प्रकृतिरेव कारण न प्रकृते कारणन्तमस्तीति न पुर्नदर्शनमुपयाति पुरुषस्य अत प्रकृते सुकुमारतर सुभोग्यतर न कि चिदीश्वरादिकारणम् स्तीति मे मतिर्भवति।

२३८– एवमीश्वरादीनि अकारणानि सुकुमारतरमित्येतद्वाक्यशेष कृत। यस्मात् सुकुमारतर प्रधान तस्मादुच्यते प्रकृते सुकुमारतर न किचिदस्तीति मतिर्भवति इति मे पुरुषस्य।

२३९– डॉ० गगानाथ झा कृत अग्रेजी अनुवाद सहित साख्यतत्त्वकौमुदी सस्कृत अश पृ०– ७३ व ७४

२४०– परमार्थ कृत चीनी अनुवाद का सस्कृत अनुधाद भूमिका पृ०– ४३

२४१– शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०– ४६६ से ७१

२४२– तत सूक्ष्मशरीरमेकादशेन्द्रिय सयुक्त सुवर्णसप्ततिशास्त्र पृ०– ५८

२४३– शास्त्री, अय्यास्वामी सरुवर्णसप्ततिशास्त्र सस्कृत भाग पृ०– ६१

२४४– A Critical study of Samkhya system, pp 53, बहत्तरवी कारिका पर पाद टिप्पणी

२४५– शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १३१

२४६– सप्तमाख्य प्रकरण सकल शास्त्रयेव वा श्लोक– ६

२४७– साख्यसूत्र– ३/१७ साख्यकारिका– ३८ व ३६

२४८– न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहकारिकत्वश्रुते – ५/८४

२४६– शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १६२ १६३ व१२६

२५०– साख्यकारिका– ६१

२५१– गौडपादभाष्य ६१वीं कारिका पर

२५२– साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०– १६४ व १६७

तृतीय अध्याय

सांख्य दर्शन - एक परिचय

भारतीय विद्वानो के लिए मुख्यत चार प्रश्न ही विचारणीय रहे है – (I) मानव का वास्तविक स्वरूप (II) मानव के वास्तविक स्वरूप का मूलस्रोत (III) जीवन के गहनीय उद्देश्य (IV) जीवन के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपेक्षित साधन। जीवन के क्रियाकलापो से उसके नए आचार से जो नए अनुभव होते थे–क्रमश उससे हमारे विचारो मे परिवर्तन होते रहे है। इस प्रकार आचार से विचार और विचार से आचार प्रेरित होते रहते है। आचार और विचार की एकरूपता के लिए किये जाने वाला निरन्तर प्रयास जीवन के प्रति भारतीय विद्वानो की तात्विक दृष्टि की ओर सकेत करता है। अर्थात भारतीय सास्कृतिक परम्परा मे जो दर्शन कहलाता है जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभव किया गया सत्य ही है। यही कारण है कि उनके द्रष्टाओ को ऋषि अथवा साक्षात्कृतधर्मा मनीषी[1] कहते है। उदाहरणार्थ दृश्यतेऽनेनेति दर्शन (दृश धातु ल्युट प्रत्यय करणे) अर्थात जिनके स्वाध्याय तथा तदनुसार अभ्यास या आचरण से तत्त्व का दर्शन हो वे ही दर्शन है। कालान्तर मे रुचि शक्ति अभ्यास आदि कि भेद के तत्त्व के सम्बन्ध मे जैसे–जैसे विचार वैषम्य होते गए वैसे–वैसे विभिन्न प्रकार के दर्शन सम्प्रदायो का विकास हुआ ऐसे ही एक प्रमुख दर्शन साख्यमत का प्रारम्भ हुआ। साख्यदर्शन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[2] कहते है भारतीय सस्कृति मे किसी समय साख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क साख्य की विचार पद्धति से सोचते थे। वस्तुत महाभारत[3] मे भी इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके शातिपर्व मे पचशिख धर्मध्वज याज्ञवल्क्य आदि साख्याचार्यो के विचारो का उल्लेख किया गया है। साख्य दर्शन का प्रभाव गीता मे प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

साख्य शब्द की निष्पत्ति सख्या शब्द में अण् प्रत्यय जोडने से और सख्या शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग+चक्षिङ् धातु ⟶ ख्यात्र दर्शन + अड प्रत्यय + टाप् से हुई है जिसका तात्पर्य है सम्यक् ख्याति अर्थात सत्य (विवेक) ज्ञान है। यहॉ सख्या सम्यक् विचारण और क्रमपूर्वक तत्त्ववचन को स्पष्ट करती है इन दोनो अर्थो को इसमे व्यक्त करने के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु महाभारत[4] के निम्न श्लोक को प्रस्तुत करते है –

सख्या प्रकुर्वते चेव प्रकृति च प्रचक्षते।

तत्त्वानि च चतुर्विशत् तेन साख्य प्रकीर्तितम्।।

यहाँ गणनार्थक सख्या शब्द से साख्य की निष्पत्ति मानकर उल्लिखित है कि जो सख्या प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान का उपदेश करते है। जो प्रकृति का प्रतिपादन करते है तथा जो तत्त्वों की सख्या चौबीस मानते है व साख्य दर्शन कहलाते है। विवेकज्ञान[५] से परमपुरुषार्थ कैवल्य की प्राप्ति होती है इस प्रकार सख्या शब्द साख्यदर्शन की अतिमहत्त्वपूर्ण दार्शनिक खोज को व्यक्त करने वाला सक्षिप्त नाम है। जिसके प्रथम व्याख्याता होने के कारण प्राचीन काल से ही साख्य नाम से अभिहित हुए। वर्तमान समय मे साख्यकारिका और साख्यप्रवचनसूत्र दोनों ही ग्रन्थो मे प्रकृति और पुरुष की सत्ता तथा सत्कार्यवाद की स्थापना हेतुओ के आधार के रूप मे की गई है। इस प्रकार शास्त्र का श्रवण भी जो विवेकज्ञान का मूलाधार है प्रायेण तर्कप्रधान है। मनन में तो अनुकूल तर्कों द्वारा शस्त्रोक्त तथ्यों तथा सिद्धातो का चिन्तन निहित है। अत विवेकज्ञान के कारण साख्यदर्शन का विशेष सम्बन्ध तर्क और बुद्धिवादिता से है। प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी साख्य मत को श्रुति का सत् तर्कों द्वारा ही किए जाने वाला मनन मानते हुए कहते है जो एकाऽडद्वितीय इत्यादि पुरुष विषयक वेद वचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिए उस पुरुष को सर्वप्रकार के वैधर्म्य रूप भेद से रहित बताते है न कि उसकी अखण्डता का प्रतिपादन करते है। उन्ही वेदवचनो के अर्थ के मनन के लिए अपेक्षित सद् युक्तियो का उपदेश करने के लिए साख्य कर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे[६] और अचाक्षुषणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वहने के भाष्य[७] मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

'गणक शब्द पर शास्त्री जी फुटनोट मे लिखते है[८] कि वस्तुत इसका अर्थ तत्त्वज्ञान है। लेकिन सख्या इतना गौण अर्थ नही रखता ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल मे दार्शनिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब तत्त्वो की सख्या निश्चित नही थी तब साख्य ने जगत की सूक्ष्म मीमासा का प्रयास किया था जिसके फलरवरूप चौबीस तत्त्वो को माना गया। जिसमे प्रथम तत्त्व प्रकृति अर्थात प्रधान को शेष तेइस का मूल सिद्ध किया गया। चित्त पुरुष के सानिध्य से इसी एक तत्त्व प्रकृति को क्रमश तेइस अवान्तर तत्त्वों मे परिणत होकर समस्त जड जगत का विकास माना गया। साख्य दर्शन का सक्षिप्त समग्र अध्ययन करने की दृष्टि से निम्नवत् विषयों का उल्लेख आवश्यक है।

(I) तत्त्वमीमांसा

तत्त्वमीमासा का मुख्य विषय है वह कौन–सा आधारभूत तत्व है? जिससे समस्त ससार की उत्पत्ति होती है और उसका रवरूप क्या है? विश्व का मूलभूत स्वरूप क्या है? साख्य दर्शन दो निरपेक्ष तत्वो प्रकृति और पुरुष को मानता है। अत वह द्वैतवादी है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह विकासवादी है। जहॉ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता। साख्य प्रकृति और पुरुष दोनो की सिद्धि अनुमान रो मानता है क्योकि मूलप्रकृति और पुरुष दोनो ही प्रत्यक्ष के विषय नही है।[९] साख्य दर्शन २५ तत्त्वो का ज्ञान देता है। जिसमे प्रकृति और उसके २३ विकारो तथा पुरुष का रामावेश है।

(1) प्रकृति

साख्य की प्रकृति प्रत्यक्षगम्य नही है उसकी उपलब्धि इसलिए नही होती कि वह नितान्त सूक्ष्म है। उसका ज्ञान उसके कार्यों से होता है जो प्रकृति के लिग और अनुमापक है। साख्यकारिका प्रकृति के सम्बन्ध मे युक्ति देती है। प्रकृति के रवरूप सम्बन्धी तर्क –

भेदानापरिमाणात समन्वायत् शक्तित प्रकृतेश्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरवरूपश्च ।।[१०]

१ भेदाना परिमाणात् - इस जगत के सारे पदार्थ अर्थात् बुद्धि से लेकर महाभूत पर्यन्त परिमित परिणाम वाले है। आ० वाचरपति मिश्र के शब्दों में वे अव्यापी है। प्रत्येक कार्य अपने कारण की तुलना मे परिमित अर्थात् सीमित है। अत जगत के सब पदार्थों का मूलकारण अवश्य ही असीमित और अपरिमित होना चाहिए और यह कारण प्रकृति है।[११]

२ समन्वयात् - इस जगत के सब पदार्थ सुखदु खमोहात्मक है अर्थात एक ही पदार्थ भिन्न–भिन्न लोगो मे भिन्न–भिन्न प्रभाव पैदा करता है जेसे बसन्त मे कोयल की कूक प्रिया सयुक्त पुरुष गे राुख ओर विरही में दु ख ओर माली मे मोह (अज्ञान) उत्पन्न करती है। इस प्रकार ससार के सब पदार्थ त्रिगुणमय है। उनमें एकता व समानता सर्वत्र पायी जाती है। सत्व गुण से

सुख रजोगुण से दु ख और तमोगुण से मोह उत्पन्न होता है। अत सिद्ध है कि त्रिगुणत्मिका प्रकृति जो तीनो गुणो से समन्वित है ही समरत पदार्थों का मूल कारण है।

३ **शक्तित प्रकृतेश्च** - प्रत्येक कार्य का उद्गम एक कारण से होता है जिसमे उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। यहॉ शक्ति का अर्थ वही है कि कार्य कारण मे अनभिव्यक्ति रूप ले वर्तमान रहता है। यह शक्तिमती मूलकारण प्रकृति है।

४ **कारणकार्यविभागाद्** - विद्यमान कार्य ही कारण रा आर्विभूत होकर विभक्त रूप मे (कारण से भिन्न रूप मे) प्रतीत होता है। आ० वाचरपति मिश्र यहॉ कछुए का उदाहरण देते है। जैसे कछुए मे पहले रो ही मोजूद अग बाद में अलग–अलग निकले हुए दिखाई देते है। यह विभाग ही सिद्ध करता हे कि अव्यक्त कारण से ही समस्त व्यक्त कार्य उत्पन्न होते है। यह अव्यक्त कारण प्रकृति है।[१२]

५ **अविभागाद् वैश्वस्वरूपस्य** – इस जगत के समरत पदार्थों की रवरूपगत एकता ही वैश्वरूप है रागजरय है। यह एकता गूलकारण प्रकृति से आती है। अत विश्व के समस्त पदार्थ प्रलय मे पुन लीन होकर कारण से अविभक्त बन जाते है। सिद्ध है कि अव्यक्त कारण ही प्रकृति है।

चोथी और पाचवी युक्तियो का आधार सत्कार्यवाद है। चौथी युक्ति के अनुसार उत्पत्ति के समय कार्य का कारण से अविर्भाव होता है और अपने विनाश के समय कार्य का कारण में तिरोभाव हो जाता हे। इस प्रकार उक्त दोनो युक्तियॉ पहले से मौजूद कार्य के विभाग और अविभाग से अव्यक्त कारण की सत्ता सिद्ध होती है। जबकि शेष तीन युक्तियॉ त्रिगुणात्मक विश्व के आधार पर अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करती है। साख्य का परिणामवाद आधुनिक विकासवाद से भिन्न है। आधुनिक विकासवाद नवीन की उत्पत्ति और कुछ हद तक प्रगति भी मानते है। साख्य उन्नति और अवनति सृष्टि ओर प्रलय दोनो का समर्थक है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है। उससे उलटे क्रम मे विश्व को अपने मे लय भी करती है। साख्य के विकास या परिणामवाद की एक विशेषता यह है कि यह विकास निरुद्देश्य नही होता है। बल्कि पुरुष मे मोक्ष माध्यम के लिए होता है।[१३] साख्य के मूलतत्त्व यानी प्रकृति का अनुमान

सत्कार्यवाद पर निर्भर है इस सम्बन्ध मे कारिका कहती है –

असद्कारणादुपादानग्रहणात्सर्व सभवाभावात।

शक्तरय शक्यकारणात कारणभावाच्च सत्कार्यम।।[१४]

१ असदकारणात् - यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नही तो वह असद् होगा असद् होने से वह शशश्रृग के समान होगा। धर्मो के बिना धर्म नही रह सकता है। कर्म वाले फल को किसी न किसी रूप में मौजूद रहना चाहिए। जैसे कि असद् का कभी भाव नही होता है और असद् का कभी अभाव नही होता।[१५]

२ उपादानग्रहणात् - प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण या समवाय कारण से सम्बद्ध रहता है और इसीलिए उसमे उसकी उत्पत्ति होती है। कोई भी सम्बन्ध दो सद् पदार्थो मे रह सकता है। सत और असत् मे सम्बन्ध नही हो सकता है जैसे तिल के बिना तेल नही हो सकता है। इसमे कार्य के उपादान कारण मे विद्यमानता सिद्ध होती है। आ० वाचरपति मिश्र ग्रहण का अर्थ सम्बन्ध मानते है।

३ सर्वसम्भावनभावात् - सब वस्तुओं मे दूसरी सब वस्तुओ की उत्पत्ति असमान होना यह सिद्ध करता है कि कार्य असत् नही होता कार्य की उत्पत्ति पूर्व भी उपादन करण मे विद्यमान मानना पडेगा। अन्यथा किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति माननी पडेगी और यह असभव है।

४ शक्तस्य शक्यकारणात् - यह तर्क पूर्व तर्क का पूरक है। शक्त कारण से है शक्य करण की उत्पत्ति सभव है। जिस करण मे जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। उस करण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है अन्यथा बैल से दूध भी दूहा जा सकेगा।

५ कारणभावात् - कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप है। अर्थात कार्य वास्तव में कारणात्मक होता है कारण से भिन्न नही। तात्त्विक रूप मे कार्यकरण अभिन्न है। दोनो में भेद अव्यवहारिक है। कारणकार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्त रूप है।

साख्य के कार्यकारणवाद पर उसका प्रकृतिवाद निर्भर है। क्योकि प्रकृति की सिद्धि कारण के रूप मे उसके कार्यो द्वारा होती है। सत्कार्यवाद के सम्बन्ध मे साख्य प्रकृतिपरिणामवाद है। कार्य नई सृष्टि नही है वह कारण की कार्य रूप मे अभिव्यक्ति है।

प्रकृति स्वरूप सम्बन्धी तर्क – साख्य की प्रकृति एक निरपेक्ष तत्त्व है। प्रकृति समस्त जड जगत की जननी है वह स्वय अजन्मा है। सृष्टि का आदि कारण होने से इसे मूलप्रकृति कहा जाता है। अत इसे प्रधान भी कहा जाता है। इसमे समरत कार्य अव्यक्त रूप में से विद्यमान रहती है। अत यह अव्यक्त कहलाती है। यह जड ओर अचेतन होने से विवेकशून्य है। लेकिन एक रवतत्र और व्यापक होने के साथ सामान्य या अनेक पुरुष भोग्य है।[१६] वह त्रिगुणात्मक है।[१७] अर्थात प्रकृति सत्त्व रजस और तमस तीनों गुणो से बनी है। प्रकृति निरन्तर परिणाम सातिकी है। इसमे विरूप या सरूप परिणाम होता है। इस अर्थ मे भी वह प्रसवधर्मिर्णी है।[१८] प्रकृति के गुण सूक्ष्म और अतिन्द्रिय है इसीलिए प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नही होता है। इनके कार्यो से इनका अनुमान किया जाताहै।[१९] सत्व गुण का कार्य सुख है रजोगुण का कार्य दु ख है तमोगुण का कार्य मोह है ये प्रकृति के निर्माणक तत्त्व है।[२०] सत्त्व गुण शुद्धता या स्वच्छता का प्रतीक है। यह प्रकाश ओर लघु होने रो उर्ध्वगागी है। यह शुक्लवर्ण है इसमे सरलता प्रीति श्रद्धा सन्तोष विवेक दया आदि रुाखद भाव आते है। रजोगुण अशुद्ध का प्रतीक है। यह सक्रिय अचल तथा उपरटम्भव है या सश्लेषजनक होता है इसी की क्रियाशीलता के कारण निरन्तर परिणाम होता है। यह रक्तवर्ण है उसमे मानमद द्वेष क्रोध अप्रीति मत्कर आदि दु खद भाव आते है। तमोगुण अन्धकार या अज्ञान का प्रतीक है। यह गुण अवच्छायक और अवरोधक होने से अधोगामी है। यह कृष्ण वर्ण है। इसमे प्रमाद आलरय निद्रा मूर्च्छा विशाद आदि आते है। ये तीनो गुण एक दूसरे से पृथक नही किये जा सकते है। ये सदा सयुक्त रहते है।[२१]

(ii) पुरुष

साख्य दर्शन का दूसरा निरपेक्ष तत्त्व पुरुष है वह निष्क्रिय और अचेतन आत्मतत्त्व है।

वह विषयी ज्ञाता और अनुभविता है। वह शरीर इन्द्रियॉ बुद्धि अहकार और मन से विलक्षण या भिन्न है। पुरुष चैतन्य स्वरूप है। वह परम विशुद्ध परातपर चैतन्य है। जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। वह साक्षी और कूटस्थ नित्य है। वह व्यापक और विभु है। वह कार्य–कारण भाव से परे निर्गुण है। वह दिक भावातीत है। किन्तु आनन्द स्वरूप नही है। आनन्द और चैतन्य दो भिन्न–भिन्न वस्तुए है। पुरुष केवल द्रष्टा है। वह अकर्ता है[२२] जब अज्ञान के कारण पुरुष स्वय शरीर या बुद्धि या मन समझ बैठता है। तब उसे आभासित होता है कि वह कर्म या परिवर्तन के प्रवाह मे पडकर नाना प्रकार के दु खों क्लेषों के दलदल मे फस गया है। साख्य पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के लिये निम्न तर्क देता है –

सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च्।।[२३]

१ सघातपरार्थत्वात् - प्रकृति ओर उसमे उत्पन्न सघात रूपी समस्त व्यक्त कार्य समूह जड होने से अपने लिए नही है। प्रत्युत उसकी सत्ता किसी अन्य के लिए है। जो चेतन हो तथा जिसके प्रयोजन को जानने के लिए हो उसकी सत्ता हो। रचना रचयिता की ओर नहीं, बल्कि अपना उपयोग करने वाले की ओर इगित करती है। प्रकृति तीनो गुण बुद्धि अहकार मन इन्द्रिय शरीर आदि सब पुरुष के भोग्य ओर अपवर्ग रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होते है। यह प्रयोजनमूलक तर्क है।

२ त्रिगुणादिविपर्ययाद् - तीनो गुणो से भिन्न होने से प्रकृति तथा अव्यक्त कार्य समूह सत्व रजस और तमोगुण युक्त है। इस प्रकार ससारके पदार्थों का त्रिगुणमय होना गुणहीन पुरुष को सिद्ध करता है। क्योकि सगुण निर्गुण की ओर तथा त्रिगुण नि त्रिगुण की ओर चेतन अचेतन की ओर तथा परिणामी अपरिणामी की ओर अनिवार्यतया सकेत करता है। जिसमे पुरुष चेतन की सत्ता सिद्ध होती है। यह तर्कशास्त्रीय तर्क है।

३ अधिष्ठनात् - ज्ञान तथा समस्त अनुमान अधिष्ठान के रूप मे पुरुष की सत्ता सिद्ध है। हमारा लौकिक ज्ञान सुख और दु ख अनुभव बुद्धि का अहकार या मनोमूलक हमारी सारी चित्तवृत्तियॉ

ज्ञाता या अनुभविता की ओर सकेत करती है। यह ज्ञाता ही हमारे ज्ञान को सारी चित्तवृत्तियो को प्रकाशित करके एकता के सूत्र मे पिरोती है। यह प्रमाता और साक्ष्य चैतन्यरूप है। यह सत्तामूलक तर्क है।

४ **भोक्तृभावात्** - प्रकृति तथा उसके कार्यसमूह जड होने से भोग्य है। वे स्वय अपना उपभोग नही कर सकते है। सब पदार्थ सुख दु ख और मोह उत्पन्न करते है। अत जड भोग्य वस्तु के भोगार्थ चेतना भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। दृश्य से द्रष्टा का अनुमान किया जाता है। यहॉ भोक्ता होने का अर्थ द्रष्टा होना हे। यह नीतिशास्त्रीय तर्क है।

५ **कैवल्यार्थम् प्रवृते** - ज्ञानी पुरुषों में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति पायी जाती है। विविध दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य कहा जाता है। बुद्धि मन आदि सुख–दु ख इत्यादि गुणों से युक्त है उनसे दु ख निवृत्ति या कैवल्य की इच्छा नही हो सकती। अत कैवल्य की इच्छा पुरुष की सत्ता सिद्ध करता है। कैवल्य प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से सम्भव है। यह आध्यात्मिक अर्थात रहरयवादी तर्क है।

साख्य दर्शन पुरुष की अनेकता मे विश्वास करता है। यह पुरुषो मे सख्यागत भेद और गुणगत अभेद मानता हे। साख्य पुरुष की अनेकता स्वीकार कर उसके समर्थन मे निम्न तर्क देता है –

जननमरणकरणाना प्रतिनियमादयुगपद् प्रवृतेश्च।
पुरुषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्यय याच्चैव।।[२४]

। **जननप्रतिनियमात्** - विभिन्न पुरुषो का जन्म अलग–अलग होता है अन्यथा एक पुरुष के जन्म होने सें सभी पुरुषो का जन्म हो जाता।

॥ **मरणप्रतिनियमात्** - भिन्न–भिन्न पुरुषो की मृत्यु भिन्न–भिन्न रामय पर होती है। अन्यथा एक पुरुष की मृत्यु होने मात्र से सभी पुरुषों की मृत्यु हो जाती।

III **करणानाप्रतिनियमात्** - प्रत्येक पुरुष की ज्ञानेन्द्रियॉ अलग–अलग होती है और उसी के

अनुरूप उनकी विषय ग्राह्यता भी इसलिए जब कोई पुरुष किसी रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श का अनुभव करता है तो अन्य सभी पुरुषो को यही अनुभव एक साथ नही होता है। अत सिद्ध है कि पुरुष अनेक है।

IV अयुगपतप्रवृते - सभी पुरुषो की प्रवृत्तियॉ भिन्न–भिन्न होती है यही कारण है कि किसी एक काम मे सब पुरुषों की प्रवृत्तियॉ एक साथ नही होती है। दोनो प्रवृत्तियॉ कर्मेन्द्रियों द्वारा कृत शारीरिक तथा वाचिक कर्म और अन्त करण द्वारा कृत मानस कर्म की प्रवृत्ति अलग–अलग पुरुषों मे अलग–अलग होती है जेसे सुख दु ख चलना खाना आदि ऐसा नही होता कि एक पुरुष के बन्धन अथवा मुक्ति से सबकी बन्धन अथवा मुक्ति हो जाय।

V त्रैगुण्यविपर्ययात् - पुरुषो मे सख्यागत तथा गुणगत दोनो प्रकार के भेद है क्योकि किसी पुरुष में सत्व गुण का प्रधान है किसी मे रजोगुण का ओर किसी मे तमोगुण का। अत तीनों गुणो के अनुपात मे न्यूनाधिक भेद के कारण प्रति शरीर मे अधिष्ठाता पुरुषो मे भेद सिद्ध होता है। अत पुरुषो की अनेकता सिद्ध है।

(III) प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध

सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषों के सम्बन्ध के द्वारा सभव होती है। प्रकृति पुरुषार्थ सिद्धि के लिए होता है? और गुण वैषम्य उत्पन्न करने वाले विरूप परिणाम से होता है। ऐसा अकेले प्रकृति द्वारा सम्भव नही है। अत साख्य दर्शन इस प्रकृति के लिए पुरुष को भी सम्बद्ध किया है। इस प्रकार प्रकृति को पुरुष की अपेक्षा रहती है। वह स्वय पुरुष को देखना चाहती है। वह चाहती है कि पुरुष उसे देखे उसका भोग करे तथा उसके स्वरूप को जानकर मोक्ष प्राप्त कर सके। इसीलिए प्रकृति के भोग मे प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रकृति सृष्टि में प्रवृत्त होती है। प्रकृति अचेतन और अन्ध है किन्तु सक्रिय है। पुरुष चेतन और द्रष्टा है किन्तु पगु और निष्क्रिय है। जिस प्रकार कोई पगु व्यक्ति किसी अधे व्यक्ति के कन्धों पर बैठकर उसे मार्ग बताता रहे और अधा व्यक्ति चलता रहे तो वे दोनो इस पररपर सयोग से अपने गन्तव्य स्थल पर पहुॅच सकते है। जहॉ उनमें से कोई भी अकेला नही जा सकता था। इसी प्रकार पगु

अन्ध न्याय से पुरुष और प्रकृति पररपर सयुक्त होकर सृष्टि करते है।[२५] लेकिन साख्य प्रकृति और पुरुष को परस्पर विपरीत और स्वतत्र तत्त्व रवीकार करती है। उसका यह द्वैतवाद प्रकृति और पुरुष के सयोग मे बाधक है। फिर यहॉ पगु ओर अन्ध व्यक्ति मे चेतन प्राणी हैअत उदाहरण उपयुक्त नही है। लेकिन सृष्टि के क्रम के सम्बन्ध मे साख्यकारिका कुल २५ तत्वों का उल्लेखकरती है। इसमे प्रकृति प्रथम और पुरुष पच्चीसवॉ तत्त्व है। प्रकृति और पुरुष के सयोग मे सर्वप्रथम महत अर्थात बुद्धि पुन अहकार और अहकार में सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियॉ इरागे अन्त करण गन पच ज्ञानेन्द्रियॉ–श्रवण त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण और पच कर्मेन्द्रियॉ–वाक पाणि पाद प्रजनन और विसर्जन का उद्भव होता है। तामस अहकार से पचतन्मात्राए रूप रस गन्ध रपर्श ओर शब्द उत्पन्न होते है। राजस अहकार अन्य दोनों अहकारो को क्रियाशीलता प्रदान करता है। तन्त्रमात्राओ से पचमहाभूत–आकाश अग्नि वायु जल और पृथ्वी उत्पन्न होते है। इस आ० वाचरपति मिश्र भी स्वीकार करते है।[२६]

सर्वप्रथम आर्विभूत तत्त्व महत् व्यष्टि मे बुद्धि कहलाता है। बुद्धि अचेतन और प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व है जो पुरुष के चैतन्य को स्वय मे दर्पण की भाति प्रतिबिम्बित करता है। इसमें अचेतन बुद्धि अचेतनवत श्रेष्ठ होती है। निर्गुण युग सीमित मानकर जीव के रूप मे प्रतीत होता है। रा।त्विक बुद्धि के कर्ग ज्ञान वैराग्य ओर ऐश्वर्य चार गुण है। क्योकि तामस बुद्धि इसमे विपरीतगुण वाली होती है। बुद्धि से अहकार की उत्पत्ति होती है यह व्यक्तित्व का तत्त्व है। अहकार के कारण ही मै व मेरा का भाव होता है। इसी से ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के साथ कर्तृत्व की भावना आती है। अहकार तीन प्रकार के होते है[२७] –

(अ) सात्विक अहकार - सत्त्व गुण प्रधान होता है जिससे समष्टि रूप से एकादशेन्द्रियॉ उद्भूत होती है और व्यष्टि रूप मे शुभ कार्य उत्पन्न होते है।

(व) तामस अहकार - तामरा अहकार तमोगुण प्रधान है। समष्टि रूप मे यह पचतमत्राओ को और व्यष्टि रूप मे प्रमाद आलश्य काम लोभ आदि को उत्पन्न करता है।

(स) राजस अहकार - रजो गुण प्राधान्य है, समष्टि रूप मे सात्विक और तामस अहकार को

शक्ति देता है। जबकि व्यष्टि रूप मे अशुभ कार्यों का जनक है । इस प्रकार बुद्धि अहकार और मन तीनो अन्त करण और पचज्ञानेन्द्रियॉ और पचकर्मेन्द्रियॉ तेरह करण है।[२८] आचार्य ईश्वर कृष्ण और वाचरपति मिश्र के मत के विपरीत आचार्य भिक्षु का मत है कि सात्विक अहकार से मात्र मन और राजस अहकार से दस इन्द्रियॉ उत्पन्न होती है।[२९] लेकिन यह मत पच्चीसवी कारिका के सात्विक एकादशक के साख्य सिन्द्धान्तीय और व्याकरणिक व्याख्या के अनुरूप नही है।[३०]

तामस अहकार से पचतमात्राए - नाम रूप रस गध र्स्पश और शब्द जिससे पच महाभूत पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश की उत्पत्ति होती है । तन्मात्राओ और गुणो के नाम एक ही है। आकाश नामक महाभूत तथा उसका शब्द नामक गुण दोनो उत्पन्न होते है। शब्द तन्मात्र सहित रपर्श तन्मात्रा से वायु नामक महाभूत और उससे शब्द तथा रपर्श नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श तन्मात्र सहित रूपतन्मात्रा से अग्नि या तेजस नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श रूप तन्मात्रा सहित रस तन्मात्रा से जल नामक महाभूत और उसके शब्द रपर्श रूप रस नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श रूप रस तन्मात्रा सहित गन्ध नामक गुण उत्पन्न होते है।[३१] प्रकृति का सारा सृष्टि व्यापार पुरुष के भोग ओर मोक्ष रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता हे । प्रकृति से अधिक गुणवती ओर उपकारिणी अन्य कोई नही है।

(iv) बन्धन और मोक्ष

हमारा सासारिक जीवन सुख–दुख से भरा हुआ है। यदि किसी जीव के लिए दु ख क्लेशो से त्राण पाना सम्भव भी हो तो जरा और मृत्यु के चगुल से छुटकारा पाना उनके लिए असम्भव है । सासारिक जीवन आध्यात्मिक दु ख मे जीव की अपने शरीर या मन आदि से उत्पन्न होता है जैसें शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियो रोग क्षुब्ध क्रोध आधिभौतिक दु ख जो बाह्य भोतिक पदार्थ के कारण उत्पन्न होता हे । जेसे काटे का गडना चाकू की चोट या लडने आदि और आधिदैविक दु ख बाह्य आलौकिक कारण रो उत्पन्न होता है जैसे भूत प्रेत बाढ आदि से भरा है।[३२]

पुरुष बुद्धि मे प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण अन्त करणावछिन्न चैतन्य के रूप मे अर्थात् जीव के रूप मे प्रतीत होने लगता है। तब बुद्धि मे सुख–दु ख का अविर्भाव होने पर पुरुष को ऐसा भान होता है कि उसे ही सुख–दु ख हो रहा है जैसे अपने सेवक के अपमान मे स्वामी अपना अपमान समझता है। यही अविवेक सारे अनर्थो की जड है। इस प्रकार द्रष्टा रूप पुरुष अपने को दृश्य (प्रकति) समझ लेता है। बन्धन इसी चीज का नाम है शुद्ध पुरुष का नही। बचपन के कारण ही पुर्नजन्म का चक्र चलता है। साख्य मत मे यह नवीन कारण आयी कि एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर मे जाने वाला आत्मा रूप पुरुष नही अपितु लिग शरीर है। जिस लिग शरीर मे तेरह कारण होते है।[३३] जब पुरुष को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है।[३४] त्रिविध दु ख की आत्यान्तिक निवृत्ति को साख्य ने मोक्ष मुक्ति अपवर्ग कैवल्य की सज्ञा दी है। यही परम पुरुषार्थ है । मोक्ष मे पुरुष अपने नित्य शुद्ध चैतन्य रूप मे प्रकाशित होता है। लेकिन मोक्ष आनन्द रूप नही है। क्योकि एक तो सुख–दु ख सापेक्ष है और दूसरे सुख सत्व गुण का कार्य है तथा पुरुष स्वभावत त्रिगुणातीत है।

सभी दु ख क्लेशो से मुक्ति पाने का मार्ग है। विवेक ज्ञान अर्थात प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान। कर्म गुणो से सम्भव है अत कर्म से मोक्ष नही मिल सकता। क्योंकि मोक्ष निस्त्रैगुण्य है। सुखी या दु खी होने वाला मन है आत्मा नही। इसी तरह पुण्य धर्म और अर्धम आदि अहकार के गुण है जो सभी कार्यों का प्रवर्तक या कर्त्ता है।[३५] परिवर्तनशील मनोविकार मन के ध - र्म है आत्मा के नही। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओ का केवल साक्षी मात्र है। यह जो भ्रम है कि यह शरीर या मन ही मै हूँ इसे दूर करने के लिए सत्य का साक्षात् अनुभव जरूरी है। सम्यक ज्ञान होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है, भले ही प्रारब्ध कर्मो के कारण वह सदेह बना रहे यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[३६] मृत्यु के अनतर जब देह से भी मुक्ति होती है तो उसे विदेहमुक्ति कहते है । इस अवस्था मे स्थूल सूक्ष्म सभी प्रकार के शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है। आ० विज्ञानभिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मानते है।[३७] अन्त करणावछिन्न जीव का लिग शरीर के रूप मे बन्धन होता है और उसी का मोक्ष होता है। इस प्रकार प्रकृति ही बधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। अत पुरुष का न तो बन्धन

होता है और न वह जन्म–मरण रूपी ससार चक्र मे फसता है और न वह मुक्त होता है। यह तो प्रकृति मे ही है जो लिग शरीर के रूप मे नाना पुरुषो के आश्रय से बधती है और ससरण करती है और मुक्त होती है।[३८] इस प्रकार साख्य दर्शन मे पुरुष बन्धन और मोक्ष से असपृक्त है।

(v) ईश्वर

मूल साख्य सेश्वर रहा होगा किन्तु शास्त्रीय आचार्य ईश्वर कृष्ण के समय मे निरीश्वरवादी हो गया। सम्भव है वह जैन ओर बोद्ध दर्शन के प्रभाव के कारण हुआ हो।[३९] यहॉ अत ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्न युक्तियॉ[४०] दी जाती है –

1 ईश्वर को नित्य निर्विकार और परमतत्त्व माना जाता है किन्तु जो परिणामी नही हैं। वह किसी वस्तु का निमित्त कारण नही हो सकता ।

2 यदि ईश्वर प्रकृति का नियामक है तो ईश्वर प्रकृति के सचालन के द्वारा सृष्टि रचना मे क्यों प्रवृत होता है। क्योकि पूर्ण ईश्वर मे कोई अपूर्ण इच्छा नही है। दूसरे ससार इतने पापो और कष्टो से भरा है कि यह कहना असगत प्रतीत होता है कि ईश्वर जीवो के हित साधनार्थ सृष्टि करता है ।

3 यदि ईश्वर मे विश्वास किया जाय तो इससे जीवो का स्वातत्र्य और अमरत्व बाधित हो जाता है। क्योंकि यदि जीव ईश्वर के अग है तो वे ईश्वरीय शक्ति से युक्त नश्वर होने चाहिए। परन्तु ऐसा नही है।

लेकिन कुछ साख्य टीकाकार जैसे आचार्य विज्ञानभिक्षु[४१] और लोकमान्य तिलक[४२] साख्य को ईश्वरवादी मानते है। यहॉ ईश्वर को सृष्टि क्रिया के प्रवर्तक के रूप मे नही मानते अपितु इनका मानना है कि ईश्वर के सान्निकर्ष से ही प्रकृति की क्रियाशक्ति प्रवर्तित हो जाती है। किन्तु यह ईश्वरवादी साख्य मत स्वीकार्य नही है।[४३]

(II) ज्ञानमीमासा

दर्शन प्रमुख विषय है। समग्र विश्व का उसकी मौलिक वास्तविकता मे ज्ञान प्राप्त करना ज्ञानसम्बन्धी विवेचना मे निम्न प्रश्न उठते है– ज्ञान क्या है? ज्ञान के साधन के क्या है? ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध क्या है? और ज्ञान की सत्यता–असत्यता कैसे निर्धारित की जाती है। साख्यकारिका मे प्रमाण का लक्षण नही दिया गया है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे प्रमाण की व्युत्पत्ति से ही उसका लक्षण प्राप्त हो जाता है फिर भी प्रमाण की विवेचना की जाती है वह इस प्रकार है –

किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान को प्रमा कहते है। जब चैतन्य पुरुष बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है तब ज्ञान का उदय होता है । बुद्धि जड है और चैतन्य रूप होकर भी स्वत विषयो का साक्षात्कर नही कर सकती है। आत्मा को बुद्धि मन और इन्द्रियो के द्वारा विषयों का ज्ञान होता है। जब इन्द्रियो और मन के व्यापार मे विषयो का आकार बुद्धि पर अकित हो जाता है और बुद्धि पर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पडता है। तब उसे उन विषयो का ज्ञान होता है। प्रमा की उत्पत्ति तीन बातो पर निर्भर करती है–

1 **प्रमाता** - जानने वाला ।

2 **प्रमेय** - विषय जो जाना जाता है।

3 **प्रमाण** - साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार बुद्धि की वृत्ति को जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है प्रमाण कहते है।[४४]

साख्य मे यथार्थ ज्ञान और भ्रान्तिज्ञान आदि बुद्धि या चित्त की वृत्तिया है क्योकि पुरुष के निर्विकार और एकरस होने के कारण उसमे किसी प्रकार का विकार नही होता है। यहॉ चित्त वृत्ति को प्रमा कहा गया है। लेकिन चित्त या बुद्धि की वृत्ति जड है । उसे ज्ञान नही कह सकते दूसरी दृष्टि मे पुरुष का बोध ही प्रमा है। साख्यसूत्र[४५] मे इन दोनों प्रमा को स्वीकार किया गया है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे मुख्य अर्थ मे बुद्धिवृत्ति प्रमा है और गौण अर्थ मे **पुरुष का**

बोध। यह मत साख्य के पुरुष अवधारणा के अनुरूप भी है। सुख–दु ख ज्ञानादि परिणाम बुद्धि मे होते है। अविवेक के कारण पुरुष उन्हे आत्मसात करता प्रतीत होता है। इस प्रतीति के कारण ही प्रमा या बोध पुरुष का कहा गया है । आचार्य विज्ञानभिक्षु[४६] यहाँ प्रमा के सम्बन्ध मे कहते है कि यदि रूप फल को केवल पुरुषनिष्ठ माना जाय तो बुद्धि वृत्ति को प्रमाण कहा जायेगा तथा यदि प्रमा को केवल बुद्धिनिष्ठ माना जाय तब इन्द्रिय सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानना होगा और इस स्थिति मे पुरुष प्रमा का साक्षी होगा प्रमाता नही। यदि पुरुष के बोध और बुद्धि वृत्ति दोनों को प्रमा कहा जाय तब प्रमा भेद से उक्त दोनों बुद्धिवृत्ति और इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण कहे जायेगे। आ० विज्ञान भिक्षु आगे कहते है कि योगभाष्य मे बोध पुरुष निष्ठ होता है। यही साख्य का भी मत है। इसी प्रकार कारिका की युक्तिदीपिका टीका[४७] के अनुसार बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण है इसलिए साख्य को अध्यवसाय प्रमाणवादी कहा जाता है तभी प्रगाणफल प्रमा पुरुषनिष्ठ कहा जायेगा ।

विषय ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए साख्यकारिका[४८] कहती है कि पुरोदृश्यमान पदार्थ का ज्ञान होने मे चार कारणो (चक्षुराज) एक–एक ब्राह्य करण और तीन अन्त करण (मन अहकार बुद्धि) का व्यापार युगपद् अथवा क्रमश होती है। परोक्ष पदार्थों मे भी ब्राह्येन्द्रिय के तात्कालिक व्यापार को छोडकर लेकिन पूर्वकालिक ब्राह्येन्द्रियजन्य ज्ञानपूर्वक तीन अन्त कारण मन अहकार और बुद्धि की वृत्ति युगपद् अथवा क्रमश होती है। इस सम्बन्ध मे साख्यसूत्र[४९] मे भी दो मत युगपद् (अक्रमिक) ओर क्रमिक व्यापार को स्वीकार किया गया है। लेकिन दोनो के व्याख्याकारो मे कुछ मे केवल क्रमिक तथा कुछ ने क्रमिक और अक्रमिक दोनो को माना है। साख्यसूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते है कि यहाँ केवल इन्द्रियो को ही वृत्तियो के क्रमिकत्व एव अक्रमिकत्व का कथन है। लेकिन अनिरुद्धवृत्ति[५०] मे बाह्येन्द्रिय मन अहकार और बुद्धि चारो के वृत्तियो के क्रमिकत्व और अक्रमिकत्व को स्वीकार करते है तो दूसरी ओर इन्द्रियो की वृत्तियो का अक्रमिकत्व (युगपद्) हो न स्वीकार नही किया गया है। जबकि सूत्र मे इन्द्रियो की वृत्तियो के क्रमिकत्व के अतिरिक्त अक्रमिकत्व का कथन होने से मन के मध्यम परिणाम वाला होना का साख्यीय सिद्धात भी अर्थत सूचित हो जाता है। प्राय किसी प्रकार के भय अथवा व्याकुलता की अवस्था मे करण चतुष्टय की युगपद् वृत्ति हुआ करती है, जैसे घोर

अन्धकार मे सामने से आते चोर को देखते ही एकदम मन की सकल्पनात्मक अहकार की अभिमानात्मक तथा बुद्धि की अध्यवसायात्मक वृत्ति बनती है और वह तुरन्त वहॉ से भाग जाता है।[५१]

(1) प्रमाण

साख्य केवल तीन प्रमाण[५२] – प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को ही मानता है और जिसकी विवेचना इस प्रकार की जाती है –

१ प्रत्यक्ष - प्रतिविषयाध्योदृष्टम तत्त्वकौमुदी की व्याख्या के अनुसार जो विषय से सम्बन्धित होती है अर्थात इन्द्रिय उसके आश्रित होने वाले अध्यवसाय जो बुद्धि–व्यापार या बुद्धि–क्रिया या बुद्धिवृत्ति है को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। जब कोई विषय जैसे वृक्षादि दृष्टि पथ मे आता है तब उस विषय का हमारे नेत्रेन्द्रिय के साथ सयोग होता है उस विषय के कारण हमारे नेत्रेन्द्रिय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पडता है। जिसका विश्लेषण और सश्लेषण मन करता है । इन्द्रिय और मन के व्यापार से बुद्धि पर प्रभाव पडता है ओर वह विषय का आकार ग्रहण करती है। परन्तु उसमे सत्व गुण का आधिक्य रहता है। जिसके कारण वह दर्पण की तरह पुरुष चैतन्य को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धि की अचेतन वृत्ति उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित हो। प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाती है।

प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध मे उक्त व्याख्या आ० वाचरपति मिश्र की है। लेकिन आ० विज्ञानभिक्षु आगे का प्रतिबिम्ब होने के बाद विषयाकारक बुद्धि आत्मा मे प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार आ० वाचरपति मिश्र आत्मा मे बुद्धि का प्रतिबिम्ब नही मानते पर आ० विज्ञानभिक्षु दोनों का प्रतिबिम्ब एक दूसरे मे मानते है।[५३] आ० विज्ञानभिक्षु आत्मा मे बुद्धि का प्रतिबिम्ब होना इसलिए गानते है कि इरारो आत्गा के रुाखदु खादि अनुभव की व्याख्या की जा सके। अन्यथा शुद्ध चैतन्यरवरूप आत्मा को जो सभी विकारों से रहित है सुखदु ख का अनुभव नही हो सकता है। बुद्धि को ही ये अनुभव हो सकते है। लेकिन यह मत साख्य के साक्षी रूप आत्मा स्वरूप के अनुसार उचित नही लगता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार के माने गये है **निर्विकल्प प्रत्यक्ष**—जिस क्षण मे इन्द्रिय के साथ विषय का सयोग होता है। उस क्षण मे जो विषय का अवलोकन होता है। यह मानसिक **विश्लेषण**—सश्लेषण के पूर्व की अवस्था है। इसमे केवल विषय की प्रतीति होती है। विषय की प्रकारता का ज्ञान नही होता। जैसे शिशु या मूकव्यक्ति का अनुभव। **सविकल्प प्रत्यक्ष**—जिस प्रत्यक्ष मे विषय का मन के द्वारा विश्लेषण सश्लेषण और रूप निर्धारण होता है। जैसे यह गौ है अथवा फूल लाल है।[५४]

वृत्तिकार अनिरुद्ध निर्विकल्पक ओर सविकल्पक दोनो को ही प्रत्यक्ष मानते है। उनके अनुसार सादृश्य से सरकारो के उद्‌भव हो जाने पर स्मृति के द्वारा वस्तु विशेष के नाम जाति इत्यादि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसी से उसका विशेष नाम सविकल्पक है।[५५] स्पष्ट है कि वृत्तिकार अनिरुद्ध सविकल्पक ज्ञान को स्मृतिजन्य मानते है और चूँकि स्मृति मनोभाव जन्य होती है। न्याय ओर वैशेषिक मे निर्विकल्पक ओर सविकल्पक दोनो प्रमाण माने गये है निर्विकल्पक प्रमा का लक्षण नामजात्यादियोजनाहीन वस्तुमात्रा वगाहिज्ञान र्निविकल्पम् दिया गया है। अर्थात जिस ज्ञान मे विशेषण और विशेष्य इत्यादि प्रकार से नाम जाति इत्यादि की प्रतीति होती है वह बालक या गूगे के ज्ञान का ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। एक सम्बन्धिज्ञानम् ,परसम्बन्धिरमारकम अर्थात सम्बद्ध पदार्थो मे से एक का ज्ञान तुरन्त दूसरे का स्मरण करा देता है। इस नियम के अनुसार प्रौढ पुरुष को अर्थ का रवरूप ज्ञान होते है। तत्काल उसके नाम, जाति आदि का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार दर्शन क्षण का उसका निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान मे परिणत हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे उभय प्रकार न्याय—वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन सम्प्रदायों को भी मान्य है।[५६] मध्व वल्लभ तथा भर्तृहरि (वैयाकरण) के अनुसार सारा ज्ञान सविकल्पक ही होता है। वे ज्ञान के उत्पत्ति क्रम मे पदार्थ के सामान्य मात्र या स्वरूप मात्र के बोध का अस्तित्व स्वीकार ही नही करते। वे विशेषण—विशेष्य भाव से रहित कोई ज्ञान नही मानते। जैन दर्शन निर्विकल्पक की रात्ता तो गानता है, पर उसे प्रत्यक्ष की कोटि मे न रखकर उससे बाहर रखता है। वह केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को अनध्यवसाय रूप कहकर प्रमाण की कोटि से बाहर ही रखा है इसके विपरीत बौद्ध दर्शन केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है। आ०

दिडनाग के प्रमाण समुच्चय को प्रत्यक्षकल्पना पोढम नामजात्यासयुक्तम् कथन परवर्ती बौद्ध दार्शनिको के लिये पथ प्रदर्शक सिद्धात बन गया। आचार्य धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिको ने नाम जाति आदि विकल्पो अथवा विशेषो को कल्पना मात्र मानते हुए उनकी प्रतीति को विशुद्ध प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) की कोटि से बाहर ही रखा। लेकिन वृत्तिकार अनिरुद्ध सविकल्प को प्रत्यक्ष न मानने के पक्ष का खण्डन किया है।[५७] वे कहते है कि सादृश्य से सस्कारो के उद्भव हो जाने पर रवरूप भागत या वरतुत ज्ञात होते हुए पदार्थों के नाम जाति आदि विकल्पो (धर्मो) का रमृति के द्वारा ज्ञान हो जाता है। इरा अधिक उपलब्धि के कारण ही यह सविकल्प वृत्तिकर है। लेकिन आ० भिक्षु सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते है। पर वे अनिरुद्ध के विपरीत सविकल्पक को भी निर्विकल्पक की तरह इन्द्रियजन्य मानते है। रमृति की तरह केवल मनोजन्य नही।[५८] योग्यभाष्य मे व्यासदेव केवल सविकल्पक ज्ञान को ही इन्द्रियजन्य ही मानते है।

२ **अनुमान** - लिडलिगी पूर्वकम् यत अनुमानम[५९] इस प्रकार लिग या हेतु (व्याप्य) द्वारा लिगी या साध्य व्यापक ज्ञान का अनुमिति या अनुमान ज्ञान है। जैसे धूप से अग्नि का ज्ञान यहॉ धुप व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। इरा प्रकार अनुगान व्याप्ति राम्वन्ध[६०] पर आधारित है। अनुमान पहले दो प्रकारो मे विभक्त किया जाता है वीत और अवीत बीत जो अनुमान व्यापक विधिवाक्य अर्थात अन्वयव्याप्ति पर आधारित रहता है। यह दो प्रकार का होता है – पूर्ववत या सामान्यतोऽदृष्ट। अवीत – जो अनुमान व्यापक निषेधवाक्य अर्थात व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित रहता है। इसे शेषवत भी कहा जाता है। यह मत न्याय दर्शन[६१] के भी अनुरूप है। इस प्रकार अनुमान के तीन प्रकार है –

। **पूर्ववत अनुमान** - पूर्ववत अनुमान वह है जो वस्तुओ के बीच दृष्ट व्याप्ति सम्बन्ध पर अवलम्बित है। यहॉ नियत साहचर्य का सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे धुँआ देखकर आग का अनुमान करना।

॥ **सामान्यतोऽदृष्ट अनुमान** - उसे कहते है जहॉ लिग ओर साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध नही देखा गया है। किन्तु लिग का सादृश्य उन वस्तुओ से है जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है।

जैसे इन्द्रियो का अनुमान इन्द्रियो के अगोचर होने से प्रत्यक्ष के विषय नही हो सकती है। अत इन्द्रियो के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान के द्वारा सभव है। यथा सभी कार्य किसी न किसी साधन द्वारा सम्पादित होते है। जैसे किसी रूप या गम्य का अनुभव भी एक कार्य है। जिसके लिये किसी विशेष समान्य या कारण अर्थात इन्द्रियो को देना चाहिए। साख्यमत मे अतीन्द्रिय पदार्थो जैसे प्रकृति और पुरुष का अनुमान समान्यतोदृष्ट से होता है।

iii **शेषवत् अनुमान** - जब सभी विकल्पो को छाटते–छाटते अत मे एक ही शेष बच जाता है तब बही सत्य प्रमाणित होता है। जैसे शब्द कर्म सामान्य विशेष समवाय या अभाव नही हो सकता है। अत शब्द गुण है।

श्री सतीश चन्द्र चटोपध्याय[६२] का मत है कि नैयायिक की भाति साख्य भी पचावयव वाक्य को अनुमानका सबसे प्रमाणित स्वरूप मानते है। जिसे पदार्थानुमान कहा जाता है। जो निम्न है –

i **प्रतिज्ञा** - पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध बतलाना जैसे पर्वत पर अग्नि है।

ii **हेतु** - व्याप्ति के आधार पर साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाला तत्व जैसे पर्वत पर धूम्र है।

iii **उदाहरण** - दृष्टात के साथ–साथ व्याप्ति का प्रतिपादन करना जैसे जहॉ–जहॉ धूप है वहॉ वहॉ अग्नि है। जैसे चूल्हा।

iv **उपनय** - दृष्टात की स्थिति से पक्ष की स्थिति की तुलना करना यह उपनय परामर्श का ही दूसरा नाम है। जैस–पर्वत पर वैसा ही धूम है।

v **निगमन** - प्रतिज्ञा वाक्य पर उपसहार करना। जैसे – अत पर्वत पर अग्नि है।

३ **शब्द** - आप्तवचन अथवा आगम प्रमाण कहा गया है। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नही होता। उसका ज्ञान आप्तवचन के द्वारा हो जाता है। वाक्य का अर्थ शब्दों का एक विशेष क्रम से विन्यास शब्द है। किसी वस्तु का वाचक होता है। वाच्य विषय ही शब्द का अर्थ है। शब्द वह सकेत है जो किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है। वाक्य होने के लिये शब्द–बोध का होना आवश्यक है। शब्द दो प्रकार का होता है –

। **लौकिक शब्द** - एक विश्वासपात्र व्यक्तियो के आप्त वचन से प्राप्त ज्ञान । साख्य इसे स्वतत्र प्रमाण के अर्न्तगत नही रखता है । क्योकि ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है ।

॥ **वैदिक शब्द** - साख्य इसे ही शब्द प्रमाण मानता है । जो श्रुतियॉ वेद वाक्य ही है वैदिक वाक्य उन अगोचर विषयो का ज्ञान कराता है जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नही लाये जा सकते है ।[६३] वेद अपौरुषेय है । अत वैदिक वाक्य स्वत प्रमाण है । वे द्रष्टा ऋषियो की अन्त अनूभूति है– लेकिन ये नित्य नही है– क्योकि दिव्य दृष्टि से उत्पन्न और सनातन पठन–पाठन की परम्परा मे है ।

(ii) प्रामाण्यवाद[६४]

प्रामाण्य प्रमाण का धर्म है प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान का सत्य होना । और अप्रामाण का अर्थ है ज्ञान का असत्य होना । प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति एक वस्तु है और ज्ञान (ज्ञप्ति) अन्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वत अथवा परत रूप में मानते है । यदि ज्ञान का प्रामाण अथवा अप्रामाण्य की प्राप्ति उसकी उत्पत्ति के साधन में (ज्ञानोत्पादक सामग्री) और ज्ञप्ति के साधनो (ज्ञान ग्राहक सामग्री) से ही प्राप्त होती है तो स्वत प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य कहलायेगा । लेकिन जब ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अपने ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री में ज्ञात होता है तो परत प्रामाण अथवा आप्रमाण्य कहलाता है । यहॉ साख्य मे ज्ञप्ति और उत्पत्ति दोनो दृष्टियो से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वत माना गया है ।

साख्य के सत्कार्यवाद और बुद्धि वृत्ति की व्याख्या से स्वत प्रामाण्य और अप्रामाण्य सिद्ध होता है । सत्कार्यवाद सिद्धात मे साख्य किसी भी नई उत्पत्ति को स्वीकार नही करता । अत ज्ञान का प्रामाण और अप्रामाण्य की कोई नई उत्पत्ति नही है । प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान के ही गुण है तथा किसी भी वस्तु के तथा उसके गुणो के कारण भिन्न–भिन्न नही हो सकते है । अत ज्ञान का प्रामाण्य ओर अप्रामाण्य स्वत दूसरे व्यावहारिक ज्ञान का प्रकाशक जो बुद्धि है । उसका त्रिगुणात्मक होना है । अर्थात तीनो गुण न्युनाधिक मात्रा मे सत्त्व, रजस और

तमस गुण सदैव विद्यमान रहते है। सत्त्व गुण प्रामाण्य तथा तमस् और रजस् गुण अप्रामाण्य रूप होने मे किसी भी बुद्धि की वृत्ति मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो तत्त्व सदैव विद्यमान होते है।

वास्तव मे ज्ञान के विषय मे निरपेक्ष मत को रवीकार भी नही किया जा सकता। प्रत्येक ज्ञान आशिक रूप से प्रमा और आशिक रूप से अप्रमा रूप होता है। इस दृष्टि से साख्य मत ठीक है। लेकिन साख्य प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए सत्व की प्रधानता पर बल देता है। जिसका एक मात्र साधन योग है। परन्तु यह व्यावहारिक समाधान नही है। क्योंकि साख्य द्वारा प्रस्तुत स्थिति हमारे व्यावहारिक जीवन तथा सामान्य अनुभव द्वारा पुष्ट नही होती। प्रमा तथा अप्रमा की उत्पत्ति के समय मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति लगभग एक ही होती है। दोनो ही ज्ञान उस समय प्रमा ही प्रतीत होते है। तब हम किस प्रकार यह जान सकते है कि अमुक अवस्था मे ज्ञान प्रमा रूप है तथा अमुक अवस्था मे अप्रमा रूप। इस सम्बन्ध मे कोई दिशा साख्य मत मे नही मिलता। अत साख्य द्वारा प्रतिपादित मत की व्यावाहारिक उपयोगिता नही है।

(iii) भ्रम सिद्धात

साख्य दर्शन मे भ्रात ज्ञान के लिये अविवेक शब्द मिलता है। साख्यकारिका और उसकी टीका तत्त्वकौमुदी मे भ्रम के सम्बन्ध में विवेचन नही है। साख्य एक वस्तुवादी दर्शन है। जिसके अनुसार देखने पर या दूसरे ज्ञान के अवसर पर हम बाह्य वस्तु मे अपनी ओर से किसी धर्म का आरोप नही करते है। इस दृष्टि मे कोई भी ज्ञान निरालम्ब (विषयहीन) या भ्रात नही है। साख्य को सामान्य सिद्धात के आधार पर भ्रम अर्थात ख्याति विषय सिद्धात इस प्रकार है – विश्व के सभी पदार्थ तीनो गुणो से निर्मित है। वे सुख–दु ख मोहात्मक है। इस प्रकार ज्ञान का विषय बनने वाली प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म होते है। वरतुए अपनी इन्ही विविध धर्मों के कारण सुखात्मक दु खात्गक और गोहात्मक होती है। अत उन्हे देखने या जानने वाला पुरूष भी विभिन्न राग–विरागो से युक्त होता है। पुरुष अपनी वासनाओ और प्रयोजनों के अनुरूप वस्तु विशेष के कुछ पहलुओं को देखता है और कुछ को नही। जैसे सीप के सफेद रग और चमक को देखता है। लेकिन उसके हल्केपन को नही जान पाता। अत उसे सीप मे चॉदी का भ्रम होता

है। इस प्रकार से भ्राति ज्ञान वस्तु का अपूर्ण ज्ञान है।[६५]

साख्य दर्शन मे इस सिद्धात को लेकर भी विवाद है। इस सम्बन्ध मे तीन मतों का उल्लेख किया जाता है—

I साख्य में अविवेक का जो रवरूप मिलता है तथा तेरहवी कारिका की व्याख्या मे आचार्य वाचरपति मिश्र कहते है कि एक वस्तु में विभिन्न धर्म होने से भिन्न भिन्न गुण (सुख दु ख मोह) उत्पन्न होते है। उसके आधार पर अख्यातिवाद के समान साख्य के भ्रम सिद्धात को माना जाता है। जिसकी विवेचना साख्यतत्त्वविवेचन मे मिलती है।[६६]

II साख्यसूत्र[६७] में साख्य मत को बाध और अबाध से सदसत ख्यातिवाद् माना गया है। जिसके अनुसार जब यह सर्प है ऐसा ज्ञान होता है उस समय यह पक्ष पुरोवर्ती वरतु का निर्देश करता है। पुरोवर्ती वस्तु के सामान्य धर्म जगल में स्थित सर्प का स्मरण करा देते है। जिससे भ्रम शका डर आदि भी उभर आते है। परिणामस्वरूप उस पुरोवर्त्ती वस्तु और जगल मे स्थित सर्प के पररपर अरासर्ग का ग्रहण नही हो पाता है ओर पुरोवर्ती वरतु का जगल स्थित सर्प का ससर्ग समझ लिया जाता है। अत वे एक दीखने लगते है। पर जैसे ही हमे उस अससर्ग का ग्रहण होता है तब सर्प के रवरूप से बाधा नही होती वह तो जगल मे जैसा पहले स्थित था अब भी है। इस आधार पर दृश्यादृश्य जगत का मूलकारण जाना जा सकता है। कार्य का बाध होता है जब कि कारण अबाधित रहता है। जैसे सुवर्ण वही रहता है लेकिन आकृति बदलती रहती है।

उक्त दोनो भ्रम सिद्धात स्वरूपत एक है। केवल विवेचन नाम दो है। क्योकि जब हम ज्ञान के आधार पर अथवा दों ज्ञानो को मुख्य मानकर प्ररतुत करते है— तब उसे अख्यातिवाद कहते है— किंतु जब ज्ञान के विषय को आधार मान लेते है— तो उसे सद्असद् ख्यातिवाद कहते है। इस प्रकार ये क्रमश प्रामाण्यवाद और कारणता सिद्धात पर आधरित है।

III आ० विज्ञानभिक्षु[६८] अपने भाष्य में उक्त मतों को अरवीकार कर विवेकाग्रह को ही भ्रात ज्ञान का मूल तत्त्व मानते है। ऐसी स्थिति मे दीखने वाली शुक्ति से भिन्न बुद्धिस्थ रजत को स्वीकार

करना पडेगा जो साख्य के वस्तुवाद के अनूरूप नही है।

पाद टिप्पणी

१ — भास्काचार्य — निरुक्त साक्षज्ञत्कृतधर्माण ऋषयोबभमव

२ — शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहाय भूमिका पृ०—१

३ — महाभारत शातिपर्व — ३०१/१०६

४ — महाभारत शान्तिपर्व — ३०६/४३

५ — साख्यकारिका — ५१

६ — साख्य प्रवचन भाष्य की अवतरिणा श्लोक

७ — साख्य सूत्र — १/६० पर भाष्य

८ — शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहास पृ० — ६ — पाद टिप्पणी

६ — साख्यकारिका

१०— साख्यकारिका— १५

११— यत् परिमित तस्य सत् उत्पत्तिर्दृष्टा — युक्तिदीपिका

१२— कारण और कार्य निवर्तक और निवर्त्य होते है कारण से कार्य की निवृत्ति या सिद्धि होती है इस प्रकार कार्य कारण का अनुमापक होता है — युक्तिदीपिका

१३— देवराज, डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृ० — ३६४—३६५

१४— साख्यकारिका— १६

१५— नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत गीता — २/१६

१६— शर्मा सी० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ० — १४०

१७— गुणाना साम्यावस्था प्रकृति

१८— त्रिगुणानविवेकि विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मी।। साख्यकारिका—१५।।

१६— गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति

२०— प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था ।। साख्यकारिका—१२।।

२१— सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज। गुरुवरणकमेव तम प्रदीपच्चार्थतो वृत्ति

।।साख्यकारिका–१३।।

२२– साख्यकारिका– १६

२३– साख्यकारिका– १७

२४– साख्यकारिका– १८

२५– साख्यकारिका– २१

२६– साख्यकारिका– २२ साख्यतत्त्व कौमुदी २६वी कारिका पर भाष्य

२७– साख्यकारिका– २५

२८– त्रयोदशकरण ।। साख्यकारिका–३२।।

२९– अतस्तद्वैकृतात् सात्विकाहकाराज्जायत इत्यर्थ अतश्च राजसाहकारदशेन्द्रियाणि तामारहकाराच्च तन्मात्राणीत्यापि गन्तव्यम साख्यसूत्र २/१८ पर भाष्य

३०– एकादशक – एकादश–सख्या–परिमित गण का बोधक है– उदासीन जी विद्वताषिणी

३१– साख्यकारिका– ३८

३२– साख्यकारिका– १

३३– साख्यकारिका– ४०

३४– ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बध ।। साख्यकारिका–४४।। तदा द्रष्टु स्वारूपेऽवस्थापम्

३५– साख्यसूत्र और वृत्ति

३६– नाभुक्ते शीयते कर्त, ।।साख्यसूत्र – ५/२५।। और २६

३७– साख्यकारिका– ६७व६८ पर साख्यतत्त्व कौमुदी साख्यसूत्र – ३/७८–८४ पर अनिरुद्धवृत्ति साख्य प्रवचन भाष्य– ३/७६–८४ और ५/११६

३८– साख्यकारिका– ६२

३९– शर्मा सी० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ० – १५२

४०– चट्टोपाध्याय और दत्त भारतीय दर्शन, पृ० – १८३–१८४

४१– साख्यप्रवचन भाष्य

४२– कारणमीश्वरमेके पुरुष काल परे स्वभाव वा।
प्रजा कथ निर्गुणतो व्यक्त काल स्वभावश्च।। (लुप्त कारिका)

४३– मजूमदार ए० के० द साख्य कासेप्शन आफ परसनेलिटी चैप्टर – I और II

४४– चटटोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ० – १७६–१७७

४५– साख्यसूत्र– १/८७

४६– साख्यप्रवचन भाष्य– १/८७

४७– तस्मात सिद्धमध्वसायप्रमाणवादिन प्रमाणात्फलमर्थान्तरमिति– ६वी कारिका पर टीका

४८– साख्यकारिका– ३०

४६– साख्यसूत्र– २/३२

५०– अक्रमशश्च – रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्र द्रष्टवा झटित्यपसराति तत्र चतुर्णामेकदावृत्ति और यद्यपि वृत्तीनामेकदाऽराभवात् तत्रापिक्रम एव तथाप्युत्पल शतपत्र व्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति – साख्यसूत्र २/३२ पर टीका

५१– साख्यतत्त्व कौमुदी– १६८

५२– साख्यकारिका– ४ और ५

५३– साख्यप्रवचन भाष्य–१/६६ व्यासभाष्य– ४/२२

५४– चटटोपाध्याय सतीशचन्द्र द न्याय थ्योरी आफ नॉलेज अध्याय–६

५५– अनिरुद्ध वृत्ति साख्यसूत्र १/८६ पर

५६– श्लोकवार्तिक (प्रत्यक्ष सूत्र) ११२ १२०

५७– प्रत्यक्ष सूत्र– १/८६ पर अनिरुद्ध वृत्ति

५८– क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रिय वृत्ति ।। साख्य प्रवचन भाष्य– २/३२।।

५६– साख्यकारिका– ५

६०– न सकृद्ग्रहणात् सबधसिद्धि ।। साख्यसूत्र–५/२८।।

६१– न्यायभाष्य– १/१/३२

६२– द न्याय थ्योरी आफ नॉलेज (बुक III) न्यायवार्तिक बोध पृ० – ३८ न्यायसूत्र – १/३२–३६ साख्यसूत्र – ५/२७

६३– साख्यकारिका– ५१

६४– देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृ० – २६६–२६७

शर्मा डॉ० नन्द किशोर भारतीय दार्शनिक समस्याए पृ० – ७०–७४

६५– देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृ० ३६०–३६१

६६– साख्यतत्त्व कौमुदी १३ वीं कारिका पर– अविवेकात ससार विवेकात अर्थात् अख्याति वादागीकार पृ० ३२

६७– सदसत्ढयाति बोधाबाधात् ।। साख्यसूत्र– ५/५६।। शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शनम् पृ०– २२८–२३२

६८– साख्यप्रवचन भाष्य– २/३३

चतुर्थ अध्याय

सांख्य दर्शन का तत्त्ववाद

किसी भी वरतु को व्यवहार मे दो प्रकार से देखने की प्रणाली सदैव प्रचलित रही है—
(i) वस्तु के स्वरूप सबधी अवधारणा की अन्तरग परीक्षा
(ii) वस्तु के कर्त्ता दिक्काल मौलिकता तथा परतत्रता आदि सबधी विवेचना की बहिरग परीक्षा

उक्त दोनो एक दूसरे के पूरक है भारतीय परम्परा अन्तरग परीक्षा और पाश्चात्य परम्परा बहिरग परीक्षा को महत्त्व देती है। जबकि तत्त्व सम्बधी विवेचना मे दोनो का समन्वय आवश्यक है।[1] साख्य दर्शन के विचार मे कर्तृत्त्व के निश्चित हो जाने पर उसकी प्राचीनता रवय निर्धारित हो जाती है। यद्यपि साख्य दर्शन अन्तरग परीक्षा पर बल देने के कारण एक परीक्षा हो जाता है। साख्य मे दो प्रकार के तत्त्वो को रवीकार किया गया है एक प्रकृति जो अचेतन सगुण सविकार और सक्रिय है तथा दूसरा पुरुष जो चेतन निर्गुण निर्विकार एव निष्क्रिय है। प्रकृति अव्यक्त है जबकि पुरुष अनादि अनन्त अव्यय एव जन्मादि से व्यतिरिक्त माना गया है।[2]

बहत्तरवी कारिका के सन्दर्भ मे माठर वृत्ति[3] का व्याख्यान है तत्रमित्याख्यायते। तम एव खल्विदमग्रासति। तस्मिस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽम्यवर्तते प्रथमम। तम इत्युच्यते प्रकृति पुरुष क्षेत्रज्ञ। इससे रपष्ट है कि वह तत्र पद की व्याख्या कर रही है जिसमे तमस ही पहले था। यहॉ तमस् की विद्यमानता मे क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्तमान था। यहॉ तमस प्रकृति और पुरुष क्षेत्रज्ञ माना गया है। इरा प्रकार तत्र पद के निर्वचन का एक विशेष प्रकार ध्वनित होता है। तमस शब्द का तम और क्षेत्रज्ञ का त्र वर्ण लेकर तत्र पद बना है जिसके अनुरार जिरामे प्रकृति एव पुरुष के स्वरूप का विवेचन हो वह तत्र है।

साख्य दर्शन को तत्त्व–सबधी धारणा निम्नवत है –

(I) प्रकृति

साख्य दशन कर प्रथम तत्त्व प्रकृति है। यह जड सक्रिय और त्रिगुणात्मक है।[4] प्रक्रियते अनयेति प्रकृति अर्थात जिससे कोई पदार्थ बनाया जाए उसे प्रकृति कहते है। मूल प्रकृति प्रधान भी कहलाती है। प्रकृष्ट कारण होने के कारण इसे प्रकृति और प्रसवधर्मा होने से

भी इरो प्रकृति कहा जाता है।[५] विश्व के कार्य–राघात का वह मूल है वह राबका कारण है इसका कोई कारण नही है। मूले मूलाभावादमूल मूलम अर्थात प्रकृति ही सबका मूल कारण है।[६] रात्त्व रज ओर तम इन ती ाो गुणा की राम्यावस्था का नाम प्रकृति है।[७] प्रकृति के गहदादि ही है जो कार्य है वह त्रिगुणात्मक प्रत्यक्षगम्य सभी पदार्थों मे विविध गुणो की रात्ता रपष्ट प्रतीत होती है प्रत्येक पदार्थ सुख–दुख और मोह का जनक है। अत इनका कारण भी त्रिगुणात्मक होगा जो कि प्रधान ही है। इस प्रकार अनुमान से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध है। अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रधान का प्रत्यक्ष नही होता अत कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है।[८]

प्रकृति के तीन गुणो मे रात्व गुण सत्व शब्द की व्युत्पत्ति सत से है सत् का अर्थ है जो यथार्थ है। यद्यपि इरा प्रकार की राज्ञा चैतन्य के लिए प्रयुक्त होती है लेकिन रात्व गुण कार्य क्षम चैतन्य होने के कारण उरो ऐरा गाना गया है गोण अर्थ गे सत् अर्थात् रात्त्व पूर्णता है।[९] सत्त्वगुण लघु एव प्रकाशक होता है इसी रो बुद्धि में विषय ज्ञान का प्रकाश होता हे तथा इन्द्रियो मे प्रसन्नता का सचार होता है।[१०] रजोगुण गतिशील है ओर अन्यो को भी गति देता है जबकि तमोगुण जडता का प्रतीक है।[११] सृष्टि प्रकृति की वैषम्यावस्था है। कार्यावस्था मे आने पर विकृति कहलाती है।[१२] अत गुणत्रय रूपी लिग से ही प्रकृति की सत्ता रािद्ध होती हे।[१३]

श्रुति प्रमाण रो भी प्रकृति की रात्ता रािद्ध है। तदैक्षात बहुरया ब्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत इरा श्रुति कथन का तत् शब्द रार्वकारणभूत प्रधान को ही बताता है। क्योकि रात्व गुण युक्त होने ओर परिणागी होने के कारण प्रधान गे ज्ञानशक्ति ओर क्रियाशक्ति दोनो है ब्रह्म गे नही।[१४] व्यक्त जगत मे जितने भी भद है वे राब परिमित पराधीन और अनिल है। अत उसका कारण अपरिमित रवतत्र और नित्य होना चाहिए। चूँकि प्रकृति परिमित नही है। अत उसके परे अथवा उराके कारण की कल्पना नही हो राकती।[१५] इसी प्रकार प्रधान मे शब्द रपर्श रूप ररा एव गध अवयव न रहने से प्रकृति निरवयव है।[१६]

राख्य दर्शन मे रृष्टि का गूल कारण प्रकृति त्रिगुण सत्व, प्रसव–धर्मिणी अचेतन

अलिग क्षेत्र, ज्ञान बहुधानक आदि सज्ञाओ की व्याख्या पुराण एव महाभारत मे मिलती है। पुराणो मे प्रकृति के प्र–कृ–ति अक्षरों द्वारा भी अव्यक्त की व्याख्या की गयी है। गीता दर्शन पर विचार करते हुए दासगुप्ता[१७] ने व्यक्त पद को त्रिविध विभक्त किया है – (i)पुलिग (ii) नपुसकलिग (iii) अनिश्चित लिग रूप अर्थात् समस्त पद मे प्रयुक्त इसमे दासगुप्ता अभिव्यक्त को केवल नपुसक लिग मे प्रयुक्त प्रकृति के अर्थ मे माना है। जबकि पुराणो एव महाभारत मे पुलिग अभिव्यक्त को पुरुष का द्योतक मानता है। पुरुष एव प्रकृति निर्विवाद अभिव्यक्ति माने गये है लेकिन पुरुष जहा प्रत्यक्षगम्य होने के कारण अभिव्यक्त है वही प्रकृति कारण रूप तथा प्रत्यक्ष लिग होने के कारण अभिव्यक्त है। साख्य दर्शन मे प्रकृति को स्त्रीरूप माना गया है[१८] इसे अनेक तत्त्वो का आध्यात्मिक सघात माना गया है जो सतत परिवर्तनशील है। आनुभविक जगत का मूल कारण प्रकृति है जो अव्यक्त है तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय गोचर नही है जिसका ज्ञान विश्व के नानात्व के द्वारा अनुमान द्वारा सभव है। विश्व का प्रथम सिद्धान्त होने के नाते इसे प्रधान कहते है। यह अत्यन्त अचेतन होने के कारण जड भी कहा जाता है तथा सतत क्रियाशील अपरिमित ऊर्जा होने के कारण यह शक्ति कहलाती है। साख्य दर्शन कारणकार्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहता है कि कारण वह सत्ता है कि जिसमे कार्य अव्यक्त रूप मे पहले से विद्यमान रहता है।[१९] इस दृष्टि से साख्य दर्शन प्रकृति परिणामवादी सत्कर्म को स्वीकार करता है। प्रकृति सत्वगुण रजोगुण एव तमोगुण से युक्त होकर त्रिगुणात्मिका कहलाता है। ये त्रिगुण ही प्रकृति है[२०] जिसके न्यूनाधिक सम्मिश्रण से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि होती है।

सत्व रज एव तम प्रकृति के धर्म नही अपितु प्रकृति स्वरूप है। स्वरूप की साम्यावस्था कोई अवस्था नही अपितु गुणो की स्थिति है।[२१] जबकि आधुनिक विद्वानो ने सत्व रज एव तम को गुण विभाग के रूप मे स्वीकार किया है और सत्वादि को अनेक सख्यक माना है। लेकिन पुराण इतिहास एव कारिकादि मे इस प्रकार के निर्देश का अत्यन्ताभाव है। साख्य मे धर्म परिणाम विकार, कार्य एव विषेश इत्यादि समानार्थक है। इस प्रकार धर्मी परिणामी कारण एव सामान्य इत्यादि एकार्थक है। वस्तुत प्रकृति स्वरूप गुण सत्व रज तम जिनका प्रीत अप्रीत एव विषादात्मक[२२] स्वरूप उभयत्र समान रूप मे उपस्थित है। कारिकादि के व्याख्याकारो ने गुण विवेचन के सन्दर्भ मे पुराण वचनो का ही आश्रय लिया है।

महाभारत मे अव्यक्त–प्रकृति–प्रधान एकार्थक है। प्रकृति के अव्यक्त नाम से ही व्यक्त अथवा कार्य के सत् होने का प्रतिपदान होता है।[२३] कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए अनुलोम एव प्रतिलोम परिणामो को अभ्युपगत किया गया है। प्रकृति के परिवर्तनशील सिद्धान्त को व्यवस्थित करने के लिए ही समान एव वैषम्य द्विविध अवस्थाओ को माना गया है।[२४] दोनों एक दूसरे से इतने सम्पृक्त है कि योगियो के लिए भी दुरुह एव दु साधन हे।

सभी कार्य अनुलोम क्रम से उन्नत तथा प्रतिलोम कम से कारणलीन होते हे। इसके लिए सत्व तथा तमस मे पररपर की स्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है अथवा अन्योन्य में इसका परिवर्तन सत्कार्यवाद के अनुरूप राभव नही होगा। चूँकि इन दोनो मे गति का अभाव है। अत पररपर को प्राप्त करने के लिए गति के रूप मे रजो गुण को स्वीकार किया गया है। ये प्रेरक तत्त्व के रूप मे माना गया है। इसकी स्थिति सत्व तथा तमस् मे है अन्यथा इसे बाह्य प्रेरक मानना पडेगा जो साख्य के लिए अनिष्टकारी होता। साख्य मे प्रकृति की मुख्य कारक हे। सन्निधि मात्र से गुणक्षोभक होने से पुरुष निमित्त मात्र है। त्रिगुण मे एक दूसरे के उपकारक होने के कारण पररपरोकार्यकारणभाव से त्रिगुण सिद्धान्त से अभ्युपगत होता है। त्रिगुण की व्याख्या वटबीज के रूप मे करते हुए डा० बी० एन० सील[२५] तथा राधाकृष्णन्[२६] यह मानते है कि बीज स्थूल के प्रति करने के लिए एक गति की अपेक्षा रखता है। इसलिए गतियुक्त मानना आवश्यक है। जिस प्रकार तम को प्रति करने के लिए सत्त्व मे गत्यात्मक रजस की स्थिति मानना जरूरी है । उसी प्रकार प्रतिलोम क्रम मे सत्व की स्थिति को प्राप्त करने के लिए तमस मे गत्यात्मकता रजस की स्थिति मानना आवश्यक है। इस प्रकार ये तीनो एक दूसरे से सम्पृक्त हें। इनकी सम्पृक्तता भी अलौकिक है। इसकी तुलना बालुका एव जल अथवा दूधजल के सम्मिश्रण से उपमित नही किया जा सकता। क्योकि जहॉ बालुका एव जल पृथक–पृथक् प्रतीत होते है। वही दूध एव जल के सम्मिश्रण को पृथक करके समझना अत्यन्त कठिन हे। त्रिगुण रवप्राधान्यानुसार स्पष्ट रूप से प्रतीत होते है। फिर भी इन्हे। पृथक कग्ना सभव नही है किन्तु कुछ विद्वान त्रिगुण के इस अपृथक् सबध को बाद का मानते है। जबकि कीथ इसका विरोध करते हुए मानते हे कि साख्य मे सर्वदा गुण सिद्धान्त मान्य रहा है। गुण सिद्धान्त से रहित साख्य की कल्पना ही बेकार है।[२७]

कीथ का विचार नितान्त समीचीन है क्योकि साख्य की प्रकृति त्रिगुण सिद्धान्त मे अविनाभाव है। तत्वसमास मे भी त्रैगुण्यम का ही प्रयोग है। गुणो के विषय मे आ० विज्ञानभिक्षु इन्हे वस्तु मानते है किन्तु आ० वाचरपति मिश्र गौडपाद तथा अन्य साख्यकार यहॉ चुप है। आ० भिक्षु का व्याख्यान इनके स्वभाव के विषय मे बहुत अधिक सन्तोषजनक एव बौद्दिक है। ऐसा लगता है कि आ० विज्ञानभिक्षु से पहले के लोग इस विचार से परिचित न रहे हो तथा भौतिक सिद्धान्त के स्थापन के समय गुण स्वभाव विषयक धारणा अव्यक्त रही हो। लेकिन १६वी सदी के भिक्षु इस मत के उद्भावक नही पल्लवित करने वाले ही हो सकते है। क्योकि पूर्व टीकाकार एव विद्वान आदि इससे परिचिन रहे होगे कि साख्य मे गुण तथा द्रव्य ही विवक्षित होता है। अत गुण प्रकृति रवरूप होन से द्रव्य स्वरूप है।[२८]

दासगुप्ता गुणो का केवल तीन अर्थ– विशेषण ररसी तथा गौण मानते है।[२९] पुराणेतिहास मे गुण प्रकृति विकार अच्छाई गुना तथा पाश आदि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त है। प्रो० हिरियन्ना गुण का अर्थ ररसी नही मानते है लेकिन इसके अतिरिक्त कोई समाधान नही देते।[३०] दासगुप्ता ने इस अर्थ को आ० विज्ञानभिक्षु के अनुकरण पर रवीकार किया है। आ० विज्ञानभिक्षु का मत है कि पुरुष को बॉधने के कारण ही गुण पाश रवरूप है। इस सन्दर्भ मे आगम प्रमाण भी मिलते है। गुण बॉधने के साथ–साथ पुरुष को मुक्त भी करता है। लोकमान्य तिलक भी पुरुष को बॉधने एव छोडने को लेकर त्रिगुण को पाश के अर्थ मे मानते है।[३१] तत्त्व– समास की टीकाओ मे पुरुषोपकारी होने से सत्वादि को गुण माना गया है। दूसरे शब्दो मे पुरुषार्थ साधक होने से गुण है। इनके विविध परिणामो मे पुरुष के भागोपवर्ग साधन की महान शक्ति होती है। दासगुप्ता की मान्यता है कि गुण किसी न किसी रूप मे परिवर्तनशील होने से गौड अर्थ है। पुरुष स्थिर है। ये त्रिगुण सर्वव्यापक सर्वप्रेरक एव सर्वोपादान है। प्रकृति रवरूप त्रिगुण को अनेक सख्यक मानते हुए डा० अणिमा सेनगुप्ता डा० राधाकृष्णन को अपने समर्थन मे उद्धृत करता है[३२] लेकिन यह मत असगत है। क्योकि डा० राधाकृष्णन आ० वाचरपति मिश्र के मत का समर्थन करते है और आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत का खण्डन। त्रिगुण को डा० राधाकृष्णन प्रत्यक्षातिग एव कार्यस्वभानुमेव मानते है।[३३] सत्त्व को सत् अस्तित्व रो व्युत्पन्न करके सुक्ष्मतादि को उसके अनुमापक के रूप मे माना है। इसके अनुरार त्रिगुण सिद्धान्त का उद्गम मनोविज्ञान है।

उपनिषद् आदि ग्रन्थो मे इसका प्रयोग इसी रूप मे हुआ है। व्यवहार मे इनकी उपमा मेघ रत्री छत्र आदि रो दी जाती है। उनके अनुसार इसके लिए अधिक से अधिक तीन ही अथवा न्यून से न्यून सख्या तीन ही हो सकती है।[३४]

समस्त जगत एव व्यवहार प्रकृति के तीनो गुणो मे ही समाहित है। प्रकृति से ऊपर पदार्थ एव क्रिया की कल्पना ठीक नही है। पुरुष निर्गुण तथा निष्क्रिय होकर भी जब प्रकृति के पाश मे एक बार पड जाता है तो घटियत्रवत जन्ममरण के चक्र मे भ्रमण करता है। गुण परिज्ञान पर्यन्त उस पाश से पुरुष की मुक्ति सभव नही है। त्रिगुण मे प्रत्येक गुण मोक्ष के लिए उपकारी नही है इसके लिए उपकारी गुण के ज्ञानार्थ त्रिगुण का ज्ञान अनिवार्यत जरूरी है। स्पष्ट है कि सत्व रजस एव तमस तीनो मे सत्व गुण निर्मल होने के कारण मोक्ष के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि सूर्य के प्रकाश मे सर्वत्र बल दिया गया है। आ० पचशिख के विवेचन मे गुण परिज्ञान को विमोक्ष बुद्धि कहा गया है। जिसे जानने वाला अप्रमत्त हो जल मे वर्तमान किन्तु तद्सम्पृक्त कमलपत्र की भॉति कर्मफल से असम्पृक्त रहता है।[३५] गीता[३६] एव देवीभागवत[३७] मे भी गुणो की व्यापकता को स्वीकार करते हुए गुण परिज्ञान को असभव माना है। वास्तव मे वरतु मे मात्र गुणत्रय समन्वित है। जैसे कि विष्णु सत्वप्रधान होकर भी रजसतमस समन्वित ब्रह्मा रस प्रधान होकर भी सत्व–तमस समन्वित और शिव तमप्रधान होकर भी सत्वरजस युक्त है। इस प्रकार भारतीय मान्यता मे ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सदेवासुरमानुष इन्ही त्रिगुणो के परिवेश मे वर्तमान है। रपष्ट है कि परिणामात्मक सत्कार्यवाद यहॉ आधारभूत रूप मे रवीकृत है।

साख्य गतिविज्ञान के नाम रो भी प्रसिद्ध है।[३८] प्रकृति पुरुष के सयोग से कर्मप्रवाह परिवर्तित होता है। कर्म प्रकृति मे है पुरुष से पुरुष से उसका कोई सबध नही है। गुण प्रवाह पद गुणो की प्रवृत्ति को अधिकृत कर कर्म प्रवाह के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। प्रकृति स्वरूप गुण को कर्म अभिज्ञ मानते हुए स्पष्ट है कि कर्मभाव है तत्त्व नही और गुण तत्त्व है भाव नही। अत नामरूप कर्म अविद्या माया एव प्रकृति को एकार्थ मानना दोषपूर्ण है क्योकि नामरूप कर्म के फलस्वरूप होता है और प्रकृति–पुरुष का अपार्थक्य अविद्या है। जबकि माया जगत एव जीवन की निरर्थकता का द्योतक है। महाभारत मे साख्य के लिए प्रकृतिवादी सज्ञा का प्रयोग हुआ है

तो लोकमान्य तिलक[३९] त्रिवृत्करण को पचीकरण से पूर्व का मानते हे।

साख्यकारिका[४०] मे एक ही प्रकृति को माना गया है। जबकि विष्णु पुराण आदि मे जितनी सृष्टियॉ है अथवा होगी उतने मूल प्रकृति को रवीकार किया गया है। इस प्रकार यहॉ प्रकृति की बहुलता अर्थात् अनेकता को माना गया है[४१] किन्तु आ० विज्ञानभिक्षु के मत मे सभी सूक्तियो की मूल प्रकृति भिन्न–भिन्न नही है वस्तुत वे अभिन्न है। किन्तु उस मूल प्रकृति की अभिव्यक्ति हर सर्ग मे अलग–अलग होती है जैसे एक ही वृक्ष ऋत भेद से भिन्न–भिन्न सा रूप ग्रहण करने पर भी रवय अभिन्न रहती है। इस प्रकार उस अनेक व्यक्तित्व को मान लेने पर भी प्रकृति का अनेक व्यक्तित्व रूप पुरुष बहुत्व सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। क्योकि पुरुष–बहुत्व मे प्रत्येक पुरुष अन्य पुरुषो से भिन्न होता है। जबकि एक सर्ग की प्रकृति दूसरे सर्ग की प्रकृति से अलग नही होती। अत यहॉ प्रकृति–बहुत्व नही कर प्रकृति–व्यक्तित्व–बहुत्व को ही माना गया है।[४२]

गुण विभु है तीनो गुणो मे पाररपरिक वैधर्म्य एव साधर्म्य है। सत्वादि गुणो मे लघुत्व चलत्व और गुरूत्वादि का ममता देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये गुण विभु नही बल्कि परिच्छिन्न है। लेकिन जैसा कि माना गया है कि परिच्छिन्न होना स्थान पर अनुपस्थिति की उपयोगिता पर प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अविच्छिन्न होना है और वेसा न होना विभु होना हे। सलादि द्रव्य चूंकि ससार की सभी वस्तुओ के उपादान कारण है अत उनके स्थानीय अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अविच्छिन्नता नही है। इसलिए सत्वादि तम विभु का व्यापक सिद्ध होते है।[४३] इन गुणो के विषय मे एक बात ओर रपष्ट है कि तीनो गुण सख्या मे केवल तीन ही नही अपितु व्यक्तिभेद से अनन्त है। उन्हे अनन्त व्यक्तित्व वाला न मानने से यह बात कभी भी सिद्ध नही हो सकती है कि गुणो के पररपर त्रिगुण वैचित्य से कार्य वैचित्य होता है। गुणो के असख्य व्यक्तित्व वाले होने पर भी इन्हे तीन ही मानना जाति अथवा समान्य दृष्टि से उचित है।[४४]

सृष्टि एव प्रलय क्रमश मानने पर भी सृष्टि अनादि है। सृष्टयादि का हेतु प्रकृति–पुरुष सयोग है जैसा कि साख्यकारिका के रचयीता ईश्वरकृष्ण वाचरपती मिश्र

परमार्थ गौडपाद और अनिरुद्धादि साख्य शास्त्री मानते है। किन्तु विज्ञान भिक्षु[४५] साख्य सूत्रो के आधार पर मानते है कि यह प्रकृति पुरुष सयोग सर्ग का मूल हेतु नही है। उनकी दृष्टि मे इस सयोग का कारण अविद्या है जो कि वि मता राबध से पुरुष गत मानी गयी है। यह अभावात्मक अथवा तुच्छ नही है। इस अचिद्या के द्वारा ही प्रकृति पुरुष सयोग होता है ओर इरा सयोग के उपरान्त रृष्टि होती है। जो व्यक्ति सृष्टि की मान्यता पर आधारित है। किन्तु समस्त सृष्टि मे प्रकृति पुरुष सयोग का निमित्त अविवेक को नही माना है बल्कि इसमे ईश्वर की इच्छा का समावेश किया गया है। परिणामरवरूप वे इसका साख्य प्रक्रिया के अन्तर्गत समावेश नही कर सके है अत यहॉ चित्त सामान्य का प्रकृति सयोग की कारण रूप माना जाना चाहिए।

प्रथम सृष्टि पदार्थ महत तत्त्व है जो व्यष्टि रूप से वृद्धि और समष्टि रूप से जगत बीजभूत हिरण्यगर्भ है।[४६] बुद्धि के जागरण के समय चिदचिद् का विभाजन नही होता है। अहकार के समय ही यह विभाजन उत्पन्न होता है इसी तरह साख्य मे भी अहकार एक विभाजक तत्त्व के रूप में माना गया है।[४७] बुद्धि के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त पुरिशेते से व्युत्पन्न पुरुष निगुर्ण निष्क्रिय निष्कलक चित रवभाव पुरुष से भिन्न ही कुछ लोगो के मत मे इन्दियो को केवल तैजसजन्य माना गया है।[४८] आचार्य विज्ञानभिक्षु ११वी इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते है ओर अन्य इन्द्रियो और अहकारादि को राजस। अहकारोपादानक होने के कारण ही मन बाह्येन्द्रियो से साधर्म्य रखता है तथा ज्ञान कर्म के रूप मे द्विधा विभक्त इन इन्दियों द्वारा आलोचित विषयो का मनन करने के कारण उभयात्मक एव इन्दियेश्वर है। भरतीय दर्शन मे एक ही मन माना गया है। भट्ट मीमासा के अतिरिक्त सभी आरितक दर्शन इसे अणु परिणाम रूप मानते है जिसके अभाव मे विषय का प्रत्यक्ष सभव नही है। जबकि पाश्चात्य दर्शन मे दो प्रकार के मन माने गये है। जिसके कारण इस दशर्न को सकुचित दृष्टि वाला माना जाता है।[४९] मन अहकार से साक्षात उत्पन्न होने के कारण इसे अहकार के बाद तीसरे रार्ग के रूप मे माना गया है। सत्त्व के समुद्रेक मे बुद्धि को महान कहा गया है ज्ञान बुद्धि के सात्विक धर्मों में आता है। इसलिए इसी से पुरुष को मुक्ति प्राप्त होता है।[५०] तन्मात्रा को क्रमश एक द्वि त्रि चतु पच गुणात्मक माना गया है।[५१] आर्चाय वार्षगण्य भी इसी मत को मानते है।[५२] तन्मात्र से स्थूल भूत का अपने गुणो के साथ उत्पन्न होना कारणरूप गुणों के अनुसार होता है। डॉ० राधाकृष्णन् भी इस मत का

समर्थन करते है।[५३] जिसकी स्पष्ट विवेचना आचार्य विज्ञानभिक्षु के योगवार्तिक मे भी मिलते है। जबकि कर्म मार्कण्डेय मत्स्य पुराण आदि[५४] तन्मात्र एकैक गुणात्मक मानते हैं पर विकारो की विविधता और दुरुहता देखते हुए यह मत मानना उचित नही है।

देश–काल की सत्ता साख्य मे पृथक नही मानी गयी है। अपितु इनके सीमित एव असीमित द्विविध रूप हो सकते है ऐसा माना गया है। सीमित होने पर इन्हे आकाश से सम्बद्ध किया जाता है जबकि इन्हे नित्य मानने पर इनका पर्यवसान प्रकृति मे किया जाता है काल का सबसे छोटा भाग क्षण ही और दिक का सबसे छोटा भाग अणु है। इस प्रकार परिवर्तन की प्रत्येक इकाई को क्षण के द्वारा समझा जाता है। इनका एकीकरण जो बुद्धि का कार्य है। दण्डादि के प्रत्यय को उत्पन्न करता है यही कारण है कि योगभाष्य तथा दूसरीटीका तत्त्ववैशारदी मे काल को बुद्धि निर्माण कहा गया है।[५५] आधुनिक भौतिकशास्त्री भी इस अध यात्मिक काल मापावधि को स्वीकार करते है।[५६] आधुनिक भौतिकशास्त्री आइस्टीन भी समय के मानसिक अस्तित्व मे सिद्ध करने के लिए मानते है कि एक मनुष्य का सुन्दरियो के बीच एक घण्टा भी एक क्षण के बराबर है। जबकि चूल्हे के पास व्यतीत होने वाला एक क्षण घटों के समान लगता है।[५७]

कारिका तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य [५८] की माठर द्वारा कथित परम्परानुप्रवेशि द्वारा मिश्रित तनमात्राओ से महाभूतो की उत्पत्ति के सिद्धात का खण्डन करते हुए युक्तिदीपिकाकार का मत है कि एक एक तन्मात्र से एक एक महाभूत की उत्पत्ति पृथक–पृथक् होती है।[५९] इस प्रकार मठार के अनुसार शब्दतन्मात्रानुप्रविष्टस्पर्शतन्मात्र से वायु शब्दस्पर्शतन्मात्रानुप्रविष्ट रूपतन्मात्र से तेज शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रानु– प्रविष्ट रसतन्मात्र से जल एव शब्दर्स्पशरूपरसतन्मात्रानुप्रविष्ट गधतन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। जबकि युक्तिदीपिकाकार के मत मे शब्दतन्मात्र से आकश स्पर्शतन्मात्र से वायु रूपतन्मात्र से तेज रसतन्मात्र से जल और गधतन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। लेकिन इनका मानना है कि स्पर्शतन्मात्र शब्द और स्पर्श गुणों वाला रूपतन्मात्र शब्द स्पर्श और रूप गुणों वाला रसतन्मात्र शब्द स्पर्श रूप एव रस गुणो वाला तथा गधतन्मात्र शब्द स्पर्श रूप रस एव गध गुणों वाला होता है।

३२वी कारिका[६०] के व्याख्यान मे युक्तिदीपिकाकार कहते है कि विषयो का आहरण कार्य कर्मेन्द्रियाँ ही करती है। क्योकि विषयो का ग्रहण करने की सामर्थ्य मात्र उन्ही मे है। जबकि धारण कार्य केवल ज्ञानेन्द्रियाँ ही करती है। क्योकि विषयों की सन्निधि होने पर उनका आकार धारण करने अथवा उन्ही के आकार का हो जाने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल उन्ही मे है। दूसरी ओर विषय का प्रकाशन कार्य अन्त करण–मन अहकार एव बुद्धि द्वारा होता है क्योंकि निश्चय करने का सामर्थ्य केवल उन्ही मे होता है। लेकिन इसके विपरीत माठर का मत है कि इन्द्रियाँ मात्र का कार्य आहरण अभियान का कार्य धारण तथा बुद्धि का कार्य धारण तथा प्रकाशन है।[६१] जयमगलाकार युक्तिदीपिकाकार के मत से सहमत होते हुए भी इतना भेद है कि बुद्धि को प्रकाशन कार्य करने वाली इन्द्रियो के साथ न रखकर धारण करने वाले मन एव अहकार के साथ रखा है।[६२] मूलकारिका मे समस्त त्रयोदशकरणो के कायो को आहरण धारण एव प्रकाशन इन तीन ही कोटियो मे अन्तभूति कर दिया गया है। तत्त्वकोमुदीकाकार वाचस्पति मिश्र भी जयमगला के विचारों से सहमत है।

कारिका के प्रभूत'[६३] पद का अर्थ युक्तिदीपिका[६४] मे उद्भिज एव स्वेदज किया गया है जो एक नवीन मत है। जिसके अनुसार स्वेदज एव उद्भिज जीवों के शरीरो का कारिकोक्ति सूक्ष्मशरीर मातापित्रज– शरीर एव प्रभूत महाभूत' मे से किसी मे भी अन्तरभाव नही किया जा सकता। किंतु जयमगल तत्त्वकौमुदी आदि टीकाओं मे युक्तिदीपिका के उक्त अर्थ का निषेध करते है।

कारण–कार्य सिद्धात के सन्दर्भ मे कारिका के टीकाकारो के मत मतवैभिन्न होने के बावजूद कारणकार्य विभागत् हेतु पद का जो अर्थ माठरवृत्ति[६५] मे मिलता है। वहाँ अर्थ युक्तिदीपिका एव जयमगला मे भी मानी गयी लेकिन बाद में दोनों दोषपूर्ण माना। जिसमे युक्तिदीपिका[६६] का मत है कि साख्य मे कार्य एव कारण अभिन्न होने के कारण दोनो[६७] का परस्पर विभाग नही हो सकता है। जबकि जयमगला का मत है कि उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ करने पर अर्थ की पुनर्रुक्ति ही सिद्ध होती है।[६८] जिसका समर्थन आठवी करिका से होती है। माठरवृत्ति मे अविभाग पद को नञ् तत्पुरुष मानकर उसका विग्रह न विभागो अविभाग किया

है। जिससे उसे लय अर्थ का बोधक मानकर स्थूल जगत से लेकर महत पर्यन्त समस्त विकारों का अपने–अपने सगठन कारणो मे लय मानते हुए प्रधान मे सृष्टिपरम्परा की विश्राति मानी गयी है। इस प्रकार प्रधान की सत्ता समस्त कार्यों के मूल कारण के रूप मे सिद्ध की गयी है। जयमगला[६९] मे भी अविभाग का लय अर्थ ही माना गया है तथा विविध जगत की उत्पत्ति स्थिति एव लय होने के कारण प्रलय काल मे उसका लय कहाँ होता है। यह प्रश्न उठाकर ईश्वरवादियो मे मत मे निर्गुण ईश्वर मे होने वाले लय का खण्डन करके प्रधान[७०] मे ही लय माना गया है। इस मत का समर्थन युक्तिदीपिका मे भी प्रधान को ही जगत के लय का आधार माना गया है।

कारिकाटीकाकार वाचरपति मिश्र[७१] असतकरणात हेतु पद की व्याख्या करते हुए अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन करते है। आगे वाचरपति मिश्र कारणभावात का अर्थ स्पष्ट करते है कि कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है कि वह कारण स्वरूप होता है। कार्य कारण से भिन्न नही होता और कारण तो सत होता ही है। तब उससे अभिन्न कार्य असत कैसे हो सकता है। १०वी कारिका मे व्यक्त को सक्रिय तथा अव्यक्त को अक्रिय माना गया है। परन्तु प्रश्न है कि अव्यक्त अर्थात प्रकृति तो अक्रिय न होकर नित्य परिणाम रूप क्रिया से युक्त रहता है। इस सम्बन्ध मे वाचस्पति मिश्र इसका परिस्पन्दवत अर्थ करते है। वास्तव मे अव्यक्त मे देहत्याग–प्रवेशरूपक्रिया न होने से उसको अक्रिय कहना उचित है।[७२]

आचार्य व्यासदेव[७३] का मत है कि प्रकृति वह है जो कभी नही है और न ही अभावात्मक है। जिसका अस्तित्व है और नही भी है। जिसके अन्दर कोई अभाव नही है। जो अव्यक्त है विशेष लक्षण से रहित है और सबकी मुख्य पृष्ठभूमि है। प्रकृति के भिन्न–भिन्न गुण साम्यावस्था मे भी निष्क्रिय नही रहते बल्कि यह एक प्रकार की प्रसारण की अवस्था है। इन्ही तीनो गुणो के द्वारा समान भौतिक और मानसिक परिर्वतन सभव होते है।[७४] प्रकृति की सूक्ष्मता के कारण ही यह प्रत्यक्षगम्य नही है।[७५] प्रकृति और गुणो के वास्तविक स्वरूप को जानना सभव नही है। क्योकि हमारा ज्ञान दृश्यमान् जगत तक ही सीमित है।[७६] यह आनुभाविक रूप एक अमूर्तभाव है केवल नाममात्र है।[७७] गुणों को आर्चाय भिक्षु यथार्थ सत्ता के प्रकार मानते हैं। यद्यपि आचार्य

वाचस्पति मिश्र और साख्यकारिका की इसी कारण नही मिलती। पाररपरिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होते है। परिणामस्वरूप वे विकसित होते है। पररपर मिलते है तथा पुन पृथक होते है फिर भी उनमे से कोई गुण अपनी शक्ति को नही खोता है। भले अन्य गुण सक्रिय क्यो न रहे।[७८] गुणों के विषय मे आचार्य भिक्षु का मत बिल्कुल अलग है क्योंकि ये गुण को सूक्ष्मता तथा व्यक्ति रूप पदार्थों की विविधता के आधार पर सख्या मे अनन्त मानते है। इनके अनुसार ऐसा मानना ठीक नही है कि व्यापक गुण अपने विविध सयोगो के कारण विविध कार्यो को उत्पन्न करते है क्योंकि यह मत छोटे–छोटे भेदो की समुचित व्याख्या नही कर पाते। अत गुणों की अभिव्यक्तिया असख्य है तथापि कुछ सामान्य लक्षणो तथा लघुता आदि के आधार पर इनका तीन प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है।[७९] साख्यकारिका के अनुसार[८०] तीनो गुण कभी भी अलग–अलग नही रहते। वे एक दूसरे को पुष्ट करते है और एक दूसरे से मिले–जुले रहते है। वे परस्पर वैसे ही घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है जैसे बत्ती तेल और दीपकलौ पररपर मिले हुए है। ये तीनो गुण प्रकृति के सारभूत तत्त्व है सम्पूर्ण जगत और इनके भेद इन्ही गुणो पर आधारित है। वास्तव मे गुणो की ऐसी कल्पना का आदिस्रोत मनोवैज्ञानिक है क्योकि इनके अन्दर जिस आधार पर भेद किया गया है वे भावना के भिन्न–भिन्न प्रकारो पर आधारित है। प्रारम्भिक काल मे साख्यकारिका द्वारा गुण के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न पक्षो अर्थात अवयवो को व्यक्त किया गया है।

साख्य दर्शन मे जगत के कारण के रूप मे जिस द्रव्य का उल्लेख किया गया है और जगत की समस्त वस्तुए जिसके भिन्न–भिन्न विन्यास हैं। भौतिकवादी विचार होने का भ्रम पैदा करता है। साख्य का भौतिकवाद और प्रकृतिवाद दोनो ही विश्व के एक युक्तियुक्त भाव को प्राप्त करना चाहते है और दोनो एक ऐसे परम यर्थाथ तत्त्व पर बल देते है जो नित्य अविनश्वर तथा सर्वव्यापी है। लेकिन साख्य की प्रकृति एक विशुद्ध भौतिक द्रव्य नही है जैसा कि भौतिकवाद मानता है। साख्य विचारक दो तत्त्वो प्रकृति और पुरुष की निरपेक्ष सत्ता रवीकार करते है। यहॉ प्रकृति मात्र भौतिक जगत के पचमहाभूतो को ही उत्पन्न नही करती अपितु मानसिक तत्त्वों को भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार आत्मतत्त्व का मानसिक तत्त्व से भिन्नता रपष्ट है। अत प्रकृति सभी प्रमेय विषयक जीवन का आधार है। प्रकृति परिणमनशील जगत का

आधार है। जो कि जगत के तनाव का प्रतीक है। बिना चेतनता और बिना पूर्वनिर्धारित योजना के निरन्तर क्रियाशील रहती है। प्रकृति ऐसे लक्ष्य के प्रति गतिमान है जिसे वह जानती नही। साख्य इस विचार पर विज्ञान के द्वारा नही अपितु अध्यात्म के द्वारा प्राप्त करता है।[८१]

प्रकृति अनुभव की दृष्टि से एक आकषर्ण है। यदि बाह्य यथार्थ अनुभव द्वारा सिद्ध है तो प्रकृति विशुद्ध प्रमेय विषय का ऐसा आकषर्ण है जो बुद्धिगम्य नही है। जब प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है तो इसका अर्थ है कि यह वस्तुओं का रूप रहित अधिष्ठान है। शारीरिक तथा मानसिक सृष्टि का प्रत्येक भाग उस तनाव का प्रतीक है जो एक गुण और उसके विरोधी के बीच निहित है और जो क्रियाशीलता का कारण है।[८२] प्रकृति गुणो की पृष्ठभूमि में नही रहती अपितु यह गुणो की त्रिमूर्ति है। तीनो गुण प्रकृत के रूप है धर्म नही। वास्तव मे यह एक ऐसा भावात्मक आर्कषण है जिसके अन्दर समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता निहित है।[८३] यदि प्रकृति को एक यात्रिक व्यवस्था मान लिया जाये तो सकल्प–स्वातत्र्य एक भुलावा मात्र होगा। इस दशा मे नैतिक मान्यता निरर्थक हो जाएगी। लेकिन साख्य जिसे अध्यात्मवाद और एकमात्र पुरुषार्थ मोक्ष को प्रश्रय देता है। उससे रपष्ट है कि न तो प्रकृति की दशा एक यात्रिकता मात्र है और नही पुरुष एक पत्थर मात्र है। साख्य इस बात पर बल देता है कि वह ज्ञान जो हमारा रक्षक है प्रकृति की देन है।[८४]

सत्कार्यवाद[८५] के आधार पर साख्य प्रकृति परिणामवादी भी है। जिसमे पाच प्रकार के तर्क दिये गये है –

(१) असद्कारणात् – कारण व्यापार के पूर्व कारण मे कार्य के असत् होने पर उसको उत्पन्न नही किया जा सकता ।

(२) उपादानग्रहणात् – प्रत्येक वस्तुए कार्य अपने अनुरूप कारण को ग्रहण करता है ।

(३) सर्वसभवाभावात् – सभी प्रकार के कारणो से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति नही अर्थात निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की अभिव्यक्ति ।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात – जिसमे उत्पादन की सामर्थ्य है, वह शक्त[८६] है तथा जो उत्पन्न होने योग्य है वह शक्य है अर्थात् कार्य कारण मे शक्य–शक्त सबध है।

(५) कारणभावाच्च – कारण के अनुरूप ही कार्य का भाव होता है।[८७]

तृतीय और चतुर्थ हेतु एक प्रकार से द्वितीय हेतु का ही पूरक है जबकि पाचवा हेतु प्रथम और द्वितीय हेतु की भाति स्वतत्र और महत्वपूर्ण हेतु है। साख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार जगतरूप कार्य से उसके कारण के प्रधान अर्थात त्रिगुणात्मक होने का अवश्यमेव अनुमान होता है क्योंकि जगत वरतुत शब्द स्पर्श रूप रस ओर गन्ध के स्वरूप का ही है और ये शब्द रपर्श इत्यादि रार्वदा सुख–दुख–मोह को उत्पन्न करने के कारण सत्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मक ही होते है अर्थात कारण और कार्य मे अभेद होने से जिस प्रकार का कार्य है उसी प्रकार का कारण भी होगा ऐसा अनुमान होगा। लेकिन यदि कारण और कार्य दो भिन्न वस्तु नही है तो उनमे से एक ही यर्थाथ हो सकता है दोनो कारण और कार्य अर्थात धर्मो और धर्म एक ही है और दोनो यर्थाथ अर्थात् सत हो यह नही हो सकता है। जैसे कि घट से घट की उत्पत्ति नही होती। अपितु मिट्टी से घट की उत्पत्ति होती है। साख्य मत मे परिणाम वास्तविक और सत्य होता है। लेकिन ऐसा मानने पर सत कारण मे परिवर्तन वास्तविक मानना होगा तब सत सत्ता विचार से प्रभावित होगी। ऐसा होने पर प्रकृति और निरपेक्ष सत्ता कैसे हो सकती है। अत परिणाम को तात्रिक नही माना जाता है। इस प्रकार सत से सत की उत्पत्ति की धारणा भी उचित नही प्रतीत होता है।

साख्य दर्शन के मत से मिटटी आदि उपादान करण ही घट इत्यादि कार्य के रूप मे परिणत हो जाता है अर्थात् कारण ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रधान ही महदादि कार्य रूप से उत्पन्न होता है। साख्य मत मे प्रधान नित्य है लेकिन यह कहना कि प्रधान उत्पन्न होता है का अर्थ है नित्य प्रधान से महदादि कार्य वैसे ही व्यक्त होते है जैसे मिटटी के पिण्ड से घडा व्यक्त होता है। परन्तु यहॉ 'नित्य प्रधान रफुटनशील है कहना ही वदतोव्याघात है।[८८] अत सत् का वास्तविक जन्म नही माना जा सकता है। वेदान्तीय मतानुसार[८९] जाग्रत काल के भी पदार्थो की प्रयोजनवत्ता स्वप्न काल मे असिद्ध हो जाती है। जाग्रत काल मे खूब खा–पीकर तृप्त हुआ व्यक्ति सोते ही स्वप्न मे अपने को भूख–प्यास से ठीक उसी प्रकार पीडित एव दिन–रात भर का भूखा–प्यासा दिखता है। जैसे कि रवप्न मे जब खा–पीकर उठा हुआ व्यक्ति अपने को

भूखा प्यासा पाता है। अत रपष्ट है कि स्वप्निक पदार्थों की भाति जाग्रतकालीन अर्थात् व्यावहारिक पदार्थों के भी मिथ्या अर्थात असत होने मे कोई शका नही है। लेकिन साख्यसूत्रधार[६०] जगत की सत्यता का प्रतिपाद करते हुए उसका यह हेतु दिया है कि जगत की उत्पत्ति ता प्रकृति से हुई है जो अदूषित कारण है दूषित करण नही। जिससे उसका वह कार्य दूषित मिथ्या या असत् हो जाता है। इसके विपरीत रवप्न काल के पदार्थ निद्रादि दोष से दूषित अन्त करण कार्य है। अत वे मिथ्या है। इस प्रकार स्वप्निक सृष्टि के मिथ्यात्व के बल पर व्यावहारिक सृष्टि का मिथ्यात्व कथमपि प्रतिपादित नही किया जा सकता क्योकि दोनो मे महत्वपूर्ण वैषम्य है। अत साख्य मत मे उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता का अर्थ है कि वह सूक्ष्म रूप से ही कारण मे रहता है। स्थूल अथवा वक्ता रूप से सिद्ध नही रहता जिससे उसे व्यवहार या उपयोग मे लाया जा सके। साख्य द्वारा सत् शब्द का प्रयोग भी उस अर्थ मे तो नही ही है जिसमे वह उत्पन्न या स्थूल घट के लिए उसका प्रयोग करता है। रपष्ट है कि साख्य अनुत्पन्न घट के लिए सत् का प्रयोग इस अर्थ मे करता है कि मिटटी और घट में शक्त और शक्य का सबध है अर्थात मिटटी मे घर को उत्पन्न करने की क्षमता है। साथ ही परिणाम का अर्थ अभिव्यक्ति से ही है तथा वास्तविक सत्ता का सबध व्यावहारिक सार्थकता से है पारमार्थिक रूप से नही।

(II) पुरुष

साख्य दर्शन का दूसरा मूल तत्त्व किन्तु सृष्टिकम मे पच्चीसवा तत्त्व पुरुष है।[६१] जो प्रकृति के समान ही निरपेक्ष माना गया है। पुरुष न कारण है न कार्य है और न ही उसका कोई परिणाम होता है। वह न प्रकृति है न विकृति। पुरुष निष्क्रिय किन्तु चेतन सत्ता है इसलिए द्रष्टा है। वह विषय नही है बल्कि विषयभूत प्रकृति और उसके कार्य उसके सम्मुख दर्शित होते है। जो उसे दिखाने मात्र के लिए होते है। अत पुरुष साक्षी है। चूँकि पुरुष रवरूपत सत्त्व रजस और तमस तीनों गुणो से रहित है। अत उसका कैवल्य स्वत सिद्ध है। पुरुष उदासीन है क्योकि वह सुख दु ख आदि मे लिप्त नही होता है। चूँकि पुरुष महत आदि की तरह अन्य वरतुओ रो सम्मिलित होकर क्रिया नही करता है। अत पुरुष विविक्त और अपरिणामी होने के कारण अकर्ता है।[६२] वास्तविक कतृत्व बुद्धि मे ही रहता है। एवंय साख्य के मत मे प्रकृति लिग नही है।

बुद्धि प्रकृति का लिग है न कि पुरुष का। अत अहकार आदि का अपने–अपने कारणो का अनुमान करा सकते है पुरुष का नही। साख्य दर्शन के मत मे पुरुष अनेक है। प्रत्येक पुरुष का जन्म–मरण और इन्द्रियॉ अलग–अलग होती है। प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्तियॉ भी भिन्न–भिन्न होती है। क्योकि एक काम में सबकी प्रवृति एक साथ नही होती। इस प्रकार विभिन्न पुरुषो मे तीन गुणो का विपर्यय पाया जाता है।[६३] कितु बधन मोक्ष और ससार पुरुष मे आरोपित किये जाते है। वे पुरुष मे दिखते है पर वास्तव मे वहॉ होते नही क्योकि साख्यसिद्धात मे बधन मोक्ष और पुनर्जन्म पुरुष का नही माना गया है। लेकिन चैतन्य स्वरूप पुरुष से सयुक्त हुई जड बुद्धि चेतनवती प्रतीत होती है। उसी प्रकार कर्तृत्व त्रिगुणात्मक जड पदार्थों का एक धर्म है। पुरुष मे प्रतिसक्रमित होने से कर्ता की तरह अवभाषित होता है।[६४]

साख्य दर्शन के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों जैसे प्रकृति अथवा पुरुष का अनुमान सामान्यतोऽदृष्ट से होता है।[६५] अनिरुद्ध के समान आ० विज्ञानभिक्षु की पुरुष के अस्तित्व के विषय मे सभी दार्शनिको के एक मत होने के कारण उसके अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणो की अधिक आवश्यकता नही समझते।[६६] तथापि अपने भाग्य मे आ० विज्ञानभिक्षु पुरुष अस्तित्व प्रमाण मे भर्तृहरि सम्मति स्वानिभूति[६७] का भी सन्निवेश करते है। उन्होने पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की पद्धति[६८] की ही भाति इस अनुभूति प्रमाण को जानेऽहमिति धीवलात [६९] कहकर अपनी सहमति व्यक्त की है।

आर्चाय विज्ञानभिक्षु के अनुसार जब तक पुरुष जीवरूप से रहता है तब तक पुरुष मे भोक्तृत्व रूप रहता है। आ० वाचस्पति मिश्र भी इसे स्वीकार करते है।[१००] यद्यपि दोनो आचार्यों मे भोग का स्वरूप भिन्न–भिन्न है। मिश्र मानते है कि बुद्धिस्थ पुरुष प्रतिबिम्ब मे सारा भोग होता है किन्तु भिक्षु के मत मे इस प्रकार का भोग प्रतिबिम्बगत होने से तुच्छ होगा। अत पुरुषस्थ–बुद्धि–प्रतिबिम्ब है। भोग चाहे प्रतिबिम्ब रूप ही क्यो न हो पुरुष का भोगादित्व तो निश्चित रहता है। भोग को क्रिया मान लेने के ही कारण अनिरुद्ध पुरुष मे भोगातित्व नही मानते है। लेकिन उनका यह मत उचित नही है। इसी प्रकार प्रकृति को भोक्तृ कहने वाले अनिरुद्ध की भर्त्सना करते हुए अचार्य भिक्षु ने दृष्टत्वस्वरूप भोग का व्यपदेश पुरुष मे माना है जिसका

समर्थन उपनिषद् आदि श्रुतियो से भी होता है। आचार्य माठर द्वारा पुरुष के मोक्ष कालिक रवरूप मे आनन्द की मान्यता का भी आचार्य भिक्षु विरोध करते है। पुरुष मे इच्छा आदि गुण कभी नही माने जा सकते है। इच्छा आदि धर्म तो अन्चय–व्यातिरेक से मन के ही धर्म माने जा सकते है। पुरुष को निगुर्ण कहने मे गुण शब्द का अर्थ आचार्य रामानुज आदि की भाति अच्छा गुण नही लेना चाहिए। यहॉ पर गुण का अर्थ कोई भी विशेष गुण है। किसी भी विशेष के न होने से ही पुरुष निगुर्ण है।[१०१]

आत्मा क अथ मे पुरुष शब्द पुराण एव महाभारत मेँ प्राय मिलता है। जिसकी उत्पत्ति पुरूशेते से माना गया है। साख्य मे आत्मा पुरुष के रूप मे ही व्यवहृत हे। साख्य सूत्र मे पुरुष के अनुमान के लिए उसके प्रकाश रवरूप को एक आधार माना गया है।[१०२] क्योकि अधकार रवरूप अचेतन वर्ग मे प्रकाश की अशक्तता हे। साख्यशास्त्रियो के बीच विषयो के ज्ञान ओर भोग के स्वरूप को लेकर भी मत वैभिन्न है। आचार्य आसुरि[१०३] और आचार्य विन्ध्यवासी के मतो मे भोग के रवरूप को लेकर अन्तर है। आचार्य आसुरि के मत मे पुरुष मे प्रतिबिम्बित बुद्धि ही पुरुष का भोग है अर्थात बुद्धि के सब धर्म उसी मे होते रहते है। पुरुष का भोग इतना ही है कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमे प्रतिबिम्बित हो रही है। जबकि आचार्य विन्ध्यवासी के अनुसार अविकृतात्मा अर्थात असग रहता हुआ ही पुरुष स–सानिध्य से अचेतन मन अथवा बुद्धि को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन–सदृश्य कर देता है। जिस प्रकार लाल कमल अपने सम्पर्क से स्फटिक को लाल कर देता है। इस प्रकार सानिध्य के कारण चेतन पुरुष बुद्धि मे प्रतिफलित हो जाता है। यही उसका भोग है। स्पष्ट है कि जहॉ आचार्य आसुरि असग पुरुष मे आहार्य भोग मानते है। वही विन्ध्यवासी[१०४] पुरुष मे आधर भोग भी सभव नही मानते। इनके मत मे बुद्धि मे पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि के सम्भव न होने से पुरुष मे आहार भोग का केवल उपचार होता है। अन्यथा भोग तो मुख्यत बुद्धि मे ही होता है। यहा आचार्य आसुरि का मत है साख्यकारिका की मान्यता के अनुरूप है।[१०५]

इसी प्रकार भोग के स्वरूप को रपष्ट करते हुए अनिरुद्ध[१०६] का मत है कि भोग बुद्धि मे ही होता है। पुरुष को तो केवल उसका अभिमान होता है। लेकिन आचार्य भिक्षु[१०७] इसका खडन

करते हुए कहते हैं कि यह मत कि बुद्धि में चेतन पुरुष की प्रतिबिम्ब पडने के कारण बुद्धि ही सब अर्थो का ज्ञाता है ज्ञान और इच्छा के समानाधिकरण्य का जीवन मे अनेकश अनुभव होने के कारण ज्ञान की चेतना पुरुष मे तथा प्रवृत्ति को बुद्धि मे मानना उचित नही प्रतीत होता है।अत सब पदार्थो का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता ऐसा मानना भी ठीक नही है क्योंकि बुद्धि को ही ज्ञाता मानने पर सूत्र के विचारों से विरोध उत्पन्न हो जाता है क्योकि उसमे चेतन आत्मा के भोग की ही बात मानी गयी है। बुद्धि के भोग की नही दूसरे यदि आचार्य अनिरुद्ध के मत को मान ले तो पुरुष की सिद्धि मे कोई प्रमाण नही मिलेगा। क्योंकि उनके मत में पुरुष के अनुमान मे लिग बनने वाले भोग को तो बुद्धि मे ही मान लिया गया है। इस प्रकार आचार्य भिक्षु भोग को ही पुरुष मे ही स्वीकार करते है। भले ही वह स्वत न होकर बुद्धि द्वारा उसमे सम्पादित होता हैं।

प्रमाण के स्वरूप के सबध में आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार किसी भी प्रमेय अर्थात पदार्थ की प्रमा अर्थात उसका ज्ञान मुख्यत बुद्धि को ही होता है और पुरुष को तो उसका केवल अभिज्ञान होता है। जबकि आचार्य भिक्षु[१०८] के मत में बाह्य ज्ञानेन्द्रियो एव मन और अहकार नामक अन्त करणो के द्वारा सम्पादित एव परम्परया बुद्धि को समर्पित वह ज्ञान बुद्धि के द्वारा पुरुष को समर्पित किये जाने उस तक आहार्य होने के कारण पुरुष गति ही होता है। चूँकि आचार्य भिक्षु विषय की प्रमा की आहार्य रूप से पुरुषनिष्ठ होना मागते है। अत उनकी दृष्टि में इसे सपादित करने वाले बुद्धि वृत्ति (बुद्धि–व्यापार) ही एक मात्र प्रमाण है। आचार्य वासुदेव[१०९] का मत है कि प्रमाण चित्त या बुद्धि की वृत्ति का नाम एव तज्जन्य पुरुषनिष्ठ बोध (ज्ञान) उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सबध मे इन्द्रियो प्रणालिका अर्थात द्वार कहा गया है। जिससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नही अपितु इन दानो के योग से उत्पन्न हुई बुद्धि अर्थात चित–वृत्ति ही है। इसी प्रकार अनुमान एव शब्द प्रमाण भी चित–वृत्ति रूप ही है। लेकिन इन तीनो मे अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष की चित–वृत्ति इन्द्रियार्थ–सन्निकर्षोत्पन्न एव विशेषावाधारण प्रधान होती है। अनुमान की चित्–वृत्ति व्यापित आदि के ज्ञान से उत्पन्न और सामान्यावाधारण प्रधान होती है तथा शब्द प्रमाण की चित–वृत्ति वाक्यार्थ ज्ञान से उत्पन्न होती है।

परन्तु प्रमाण एव प्रमा के एक बिध्य के विषय मे वाचस्पाति मिश्र[११०] के साथ एक मत होने पर भी बुद्धि वृत्ति और पुरुष मे पररपर होने वाले सबध के विषय मे विज्ञान भिक्षु का उनसे मतभेद है। वाचरपति मिश्र अन्त करण या बुद्धि की वृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानते है। अनिरूद्ध[१११] पुरुष को ही बुद्धि या अन्त करण मैं प्रतिबिम्बित मानते है। लेकिन विज्ञानभिक्षु का उक्त दानो से मतभेद है। वस्तुत विज्ञानभिक्षु[११२] का मत है कि अर्थाकार रूप परिणति बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित उतना ही जरूरी है जितना पुरुष का तादृश्य बुद्धि में। इस प्रकार यहा प्रतिबिम्बित उभयपक्षी घटना है एक पक्षी नही। विज्ञानभिक्षु यह पारारपरिक प्रतिबिम्बन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार का सयोग है। जिससे चित पुरुष बुद्धि या अन्त करण मे बिना सशक्त हुए प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार लोहे के साथ अग्नि का सयोग विशेष ही लोहे का उज्जवलन होता है अग्नि का प्रकाश आदि उसमे सक्रान्त नही होता उसी प्रकार पुरुष का भी बुद्धि के साथ सयोग विशेष है। बुद्धि मे प्रतिबिम्बन है लेकिन यहॉ पर बुद्धि का ही सत्वोद्रेख रूप परिणाम होता है पुरुष का नही। द्विविध प्रमा और द्विविध प्रमाण के सबध मे आचार्य भिक्षु[११३] का मत है कि यदि पुरुष निष्ठ प्रमा को प्रमाण का फल या कार्य मानते है तो बुद्धि वृत्ति को प्रमाण मानना होगा यदि बुद्धि वृत्ति को ही प्रमाण का फल माना जाय तो इन्द्रियार्थ–सननिष्कर्ष को प्रमाण मानना होगा तथा पुरुषगत बौध एव बुद्धि वृत्ति दोनो को ही प्रमाण माने तो बुद्धि वृत्ति इन्द्रियार्थ–सननिष्कर्ष दोनो को ही क्रमश प्रमाण मानना पडेगा। चक्षुरादि इन्द्रियो के विषय मे प्रमाण का व्यवहार केवल परम्परा से ही समझना चाहिए।

साख्य दर्शन के पुरुष बहुत्त अवधारणा के सबध के कुछ लोगो का मत है कि यह एक परवर्ती विचार है किंतु पुराणोतिहास मे भी साख्य का पुरुष बहुत्व रपष्ट रूप से परिलक्षित होता है जैसे कि वायुपुराण मे शरीर की अनेकता के आधार पर पुरुषनानात्व को भी स्वीकार किया गया है तो दूसरी और गीता मे भी पुरुष–बहुत्व सबधी मत यत्र–तत्र मिलते है। पुराण एव महाभारत के पुरुष बहुत्व सबधी विचार को देखते हुए कुछ लोगों द्वारा साख्य मे पुरुषैकतत्व को सिद्ध करने का प्रयास उचित नही लगता है। साख्य सूत्र[११४] मे भी पुरुषैकत्व सबधी जो मत मिलते है उसे देखते हुए गार्वे आदि ने अर्वाचीन कृति माना है। विज्ञानभिक्षु तथा भावगणेश आदि द्वारा साख्य मे पुरुषैकत्व सिद्ध करने का जो प्रयास किया गया है उसे देखते हुए परवर्ती विद्वानो

ने तत्त्वसमास तथा साख्य सूत्र दोनों को एक कालिक माना है। जबकि भावगणेश ने आचा भिक्षु का अनुसरण करते हुए तत्त्वसमास की टीका की है। अत तत्त्वरामास को साख्य सूत्र व समकालीन नही मानना चहिए। तत्त्वसमास मे केवल पुरुष[११५] पद है जिससे भावगणेश व पुरुषैकत्व अर्थ की प्राप्ति हुई जबकि वायु–पुराण ब्रह्माण्ड पुराण तथा महाभारत से[११६] पुरु नानात्व ही सिद्ध होता है। वास्तव मे तत्त्वसमास के पुरुष पद को केवल चित के अस्तित्व व द्योतक मानना चाहिए।

पुराणो में प्रतिसचर को त्रिविध माना गया है प्रतिसंचर का अर्थ यहॉ लय से है। त्रिवि ा लय मे एक आत्यान्तिक लय भी है जो कि ज्ञान द्वारा सभव है चूँकि सबको एक सा आत्यन्तिक लय के साधन ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। अत एक साथ सबका आत्यन्ति लय भी नही होगा। इसीलिए पुराणो मे पुरुष बहुत्व सबधी मत को स्वीकृति मिली है।[११७] मो के लिए वैयक्तिक साधना ही उपादेय है। विविध जीव कार्यविपाक मरण गर्भवास जन्म विभि जीव कुलो मे स्थिति को सम्यक रूप से जानने पर मोक्षोन्मुखी वृत्ति होती है। माहात्म्य शरी को बैविध्य भी पुरुष के नानात्व का प्रतिपादन करता है। अत कीथ आदि द्वारा पुरुष बहुत्व व परवर्ती साख्य की अवधारणा मानना ठीक नही है। साख्यकारिका[११८] मे पुरुष बहुत्वम् सिद्ध कहता इस बात का प्रमाण है कि आचार्य ईश्वर कृष्ण पुरुष नानात्व की सिद्धि मे विशेष रूप प्रयत्नशील है। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने अपनी अन्तिम कारिका मे पष्ठितत्र शास्त्र कि मत व प्रतिपादित करने का विचार व्यक्त कर परम्परया साख्य सिद्धान्त में पुरुष–बहुत्व सबधी मान्य को बल प्रदान किया है। पुराण तथा महाभारत मे उपलबध पुरूष नानात्व के सन्दर्भ मे सार कारिका के तर्क को उक्त दिशा मे एक महत्वपूर्ण प्रमाण के रूप मे माना जाता है। वायु त ब्रह्माण्ड पुराण मे शरीर एव सुख–दु ख भोग को ही पुरुष बहुत्व का अनुमापक माना गया जैसे कि कारिका मे जन्म मरण करण सत्वादि विपर्यय एव अयुक्तपत्य प्रवृति को पुरुष बहु का हेतु बताया गया है।

बद्ध पुरुष के प्रति जन्म प्रच्यवी स्थूल शरीर के जननादि के आधार पर पुरुप नान सिद्ध किया जाता है क्योंकि शरीर एक सघात है उसकी परार्थता पुरुषनुमान मे अन्यतम

है। कैवल्य आप्तप्रमाण का प्रमेय है अत मुक्त पुरुष के हेतुओ काअन्वेषण एव उनके आधर पर पुरुष नानात्व की सिद्धि असम्भव है। बद्ध एव मुक्ति क भेद को लेकर ही साख्य कारिका क टीकाकारो मे मतभेद है। दशमूलिकार्थ की व्याख्या करते हुए कुछ टीकाकार एकत्व को भी पुरुष के पक्ष मे मानते है।[११९] जबकि युक्तिदीपिका तत्त्वकौमुदी जयमगला तथा माठरवृत्ति मे एक मत से नानात्व को ही पुरुष परक माना गया है। गोडपादभाष्य मे एकत्व को पुरुष के सबध ा मे माना गया है।[१२०] पुरुष उदासीन चित स्वभाव प्रकाश स्वरूप निष्क्रिय विभु तथा अनादि हे जबकि इसके विपरीत प्रकृति सक्रिय अचित अधकार स्वरूप सगुणरूप तथा पुरुष की भाति विभु एव आनादि है। यहॉ विद्वानों मे पुरुष के निमिन्तत्व को लेकर विवाद है इसका मुख्य कारण यह है कि साख्य कारिका एव साख्य सूत्र दोनो मे पुरुष के लिए निमिन्त शब्द का प्रयुक्त न होना है। दर्शन मे निमित्त शब्द का प्रयोग मुख्यत कारण करण और प्रयोजन तीन अर्थो मे होता है। साख्य दर्शन मे यह प्रथम दो अर्थो मे क्रमश पुरुष एव धर्मादि भावो का वाचक है। साख्य कारिका और साख्य सूत्र में निमित्त शब्द अन्तिम दो अर्थो करण[१२१] एव प्रयोजन में[१२२] ही प्रयुक्त हुआ है। जबकि प्रकृति को सर्वत्र उपादान के रूप मे स्वीकार किया गया है। अत परिशेष्येयात् पुरुष निमित्त रूप कारण ही सिद्ध होता है वास्तव मे साख्यकारिका एव साख्य सूत्र में पुरुष के लिए अलग से निमित्त शब्द का प्रयोग न करके निमित्तत्व को अधिष्ठातित्व में ही निहित मान लिया गया है।[१२३] इन दोनो ग्रथो में पुरुष के अनुमान मे प्रकृति तथा प्राकृतगण को अधिष्ठान कहने के द्वारा पुरुष की अधिष्ठातित्व में निमित्तत्व को गत्वार्थ समझकर उसके लिए अलग से निमित्त शब्द का प्रयोग की आवश्यकता नही समझी गयी।

गौडपाद[१२४] ने पुरुष के अधिष्ठातित्व को सिद्ध करने के लिए षष्ठितन्त्र के उद्धरणो को ग्रहण किया है। इन्होने साख्यकारिका[१२५] के शक्तस्यशक्यकरणात् को पुरुष और उपादानग्रहणात को प्रकृति का व्यजक मानकर पुरुष निमित्तत्व को कारिका मे निहित माना है। वैसे भी पुरुषाधि ाष्ठित होकर ही प्रकृति भोग्य होती है अन्यथा उसकी भोग्यता अनुपपन्य है। अत पुरुष का अधि ाष्ठातित्व के अतिरिक्त अन्य कोई रूप नही माना जा सकता।[१२६] पुरुष अपरिणामी कूटस्थ नित्य के साथ–साथ निमित्त रूप अधिष्ठाता भी है। अत पुरुष को अधिष्ठाता अर्थात निमित्त कारण रूप मानने मे आशकित कर्तत्वापत्ति को अपसारित करने के लिए अयरकान्तमणि के द्वारा समझा

जा सकता है।[१२७] उक्त उदाहरण पुराणेतिहासीय हे जो जयीय एव श्रेण्य साख्य के एतत्सबध ी एकमत्य का प्रबल प्रतिपादक है। जिस प्रकार चुम्बक के सानिध्य मात्र से लोह मे गति मे उत्पन्न होती है वैसे ही पुरुष के सन्निधि मात्र से प्रकृतिगुणक्षोभिणी हो जाती है और महदादि विशेषों का विकास होता है। महत के साथ प्रतिबिम्बन के कारण पुरुष का दृष्टव्य कर्तृत्व एव भोक्तृत्व सिद्ध होता है अर्थात् पुरुष का कर्तृत्व आदि बुध्द्युपाधिक है।[१२८] आचार्य भिक्षु पुरुष के भोक्तृत्वादि को सिद्ध करने के लिए अन्योन्य का प्रतिबिम्बन मानते है।

यदि अद्वैतेवदान्त की यह मान्यता कि चैतन्य पुरुष एक ही है। उसमे तत तत शरीर रूप उपधियो के भेद से जन्म मरण एव करण पृथक होता है मान ली जाए तो प्रश्न उठता है कि[१२९]

(अ)– तब एक ही शरीर के हाथ और स्तन की अभिव्यक्ति से भी जन्म मरण आदि की व्यवस्था होनी चाहिए जैसे कि हाथ कटने से मृत्यु ओर स्तन के अभिव्यक्त होने से युवती उत्पन्न हो जानी चहिए।

(ब)– यद्यपि पुरुष के निष्क्रिय होने से प्रकृति उसका धर्म नही है तथा रव स्वामिभाव सम्बन्ध से बुद्धिगत वृत्तियो का पुरुष मे आरोप कर लिया जाता है। अत सभी मनुष्यो की कार्य प्रवृत्ति एक समान न होने रपष्ट है कि प्रत्येक शरीर भिन्न–भिन्न पुरुषो द्वारा अधिष्ठित है प्रवृत्ति के एक साथ न होने से अत पुरुष का नानात्व सिद्ध होता है।

(स)– यही नही समस्त चेतन प्राणियो की प्रकृति अपने–अपने गुण धर्म के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है। प्राकृतिक पदार्थों के गुण भेद या वर्ग भेद को मिटाया नही जा सकता। भारतीय समाज मे जातीय विभाजन एव पाश्चात्य की नरलीय विभाजन की व्यवस्था इन्ही गुण वैभिन्य के कारण की गयी है।

(द)– इन पुरुषो में कोई विरला ही कैवल्य की प्राप्ति करता है। प्रकृति मे सभी कार्य त्रिगुण है। किन्तु मै निगुर्ण एव कूटस्थ नित्य हूँ। यही साख्य मे सत्व–पुरुषान्यथाख्याति हैं अर्थात सत्त्व प्रधान बुद्धि–वृत्ति का उदय होने पर जड चेतनात्मक दोनो तत्त्वों का पृथक्–पृथक

ज्ञान होता है।

इसी प्रकार पुण्यवान स्वर्ग मे आता है पापी नरक मे पुण्यात्मा अच्छे स्थानो मे जन्म लेता है। पापी बुरे स्थानो में। इस अर्थ वाले श्रुति–स्मृति व्यवस्था के विभाग के अन्यथानुपपत्ति से पुरुष–बहुत्व ही मानना श्रेयष्कर है। जन्म एव मरण का अर्थ उत्पत्ति एव विनाश नही अपितु अपूर्व देहेन्द्रियादि के विशिष्ट सघात से सयोग एव वियोग है।[130] इस प्रकार का सयोग–वियोग चूँकि स्फटिक मे लौहित्य नीलत्वादि सयोग–वियोग की भाति केवल प्रतिबिम्बन योग एव भोगरूपी है। अत पुरुष मे इनका निषेध नही है। पुरुष मे केवल परिणाम स्वरूप धर्मो का ही प्रतिवेध है।[131] अत पुरुष–बहुत्व मानना उचित है।

लेकिन कारिका[132] में पुरुष–बहुत्व सबधी युक्ति ऊपरी दृष्टि से उचित नही लगती क्योंकि वस्तुत कभी भी जन्म मरणादि न प्राप्त करने वाला पुरुष जननमरणकरणानामप्रतिनियमात आदि के आधार पर अनेक कैसे हो सकता है? पृथक–पृथक् जन्म मरण एव करण के आधार पर व्यवहारत पुरुष की अनेकता भले ही सिद्ध हो परन्तु परमार्थत यह कैसे सभव है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे पुरुष परमार्थत एक ही है किन्तु आ० वाचस्पति मिश्र[133] यहाँ साख्य के पुरुष–बहुत्व का खण्डन नही करते है अपितु साख्य के पुरुष–बहुत्व के सिद्धात को सुदृढ आधारों पर प्रतिष्ठित ही करते है। वे साख्य एव शाकर वेदान्त के एतत सबधी मत को स्पष्ट करते हुए मानते हैं कि वेदान्त मे आत्मरूप पुरुष व्यवहारत एक ही है। जबकि परमार्थत वह एक ही है। इसके विपरीत साख्य मे पुरुष के अनेकता पारमार्थिक रूप से भी माना है। यद्यपि आचार्य मिश्र का स्पष्ट मत है कि जन्म–मरण पुरुष के धर्म नही है तथापि जिनके भी ये धर्म हैं। पुरुष के सानिध्य के कारण उनमे सभव होता है। इस प्रकार यदि पृथक्–पृथक शरीरो के सबध से ये घटनाए होती देखी जाती है तो स्पष्ट है कि पृथक–पृथक पुरुषो के सबध के कारण ही उनमे घटनाए पृथक्–पृथक होती है। अत पुरुषो के पार्थक्य अथवा बहुत्व की सिद्धि के लिए जन्म मृत्यु आदि का पृथक्–पृथक शरीरो मे तथा पुरुष के कारण होना ही अपेक्षित है। पुरुष मे होना ही आचार्य भिक्षु का उक्त मत जयमगला[134] एव युक्तिदीपिका[135] मे भी मिलता है।

साख्य सिद्धात मे पुरुष के मोक्ष की अवधारणा मिलती है। विवेक निमित्तक मोक्ष ही दर्शन का लक्ष्य हे। जिसे परम निश्रेयस कहा गया है।[१३६] व्युदासीनतया विवेच्य ससार चक्र के अनन्तर उसके हान स्वरूप मोक्ष का विमर्श सम्प्रति उपक्रान्त है। चतुर्विध पुरुषार्थों में यही नित्य एव निरतिशय है अतएव परमपुरुषार्थ है इसलिए श्रेयोभिलाषी योगिजन्य अन्य तीन का परित्याग कर इसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करते है। कर्म एव ससार की भयकरता को देखकर तत्त्वविद्मुमुक्ष होते है।[१३७] वस्तुत बन्धन एव मोक्ष दोनो ही पुरुष के लिए अवास्तविक है। मोक्ष एव बधन दोनों को वैकल्पिक माना गया है। दो पृथक वस्तु को एक तथा एक वस्तु के दो वस्तु के रूप मे मानना विकल्प ही बन्धन–मोक्ष तथा पुरुष अत्यन्त पृथक है। पुरुष को इनसे सम्बद्ध करना ही विकल्प है। ये दोनो बधन एव मोक्ष प्रकृतिगत हैं। पुरुष शुद्ध एव मुक्त स्वभाव है प्रकृति के पार्थक्य को जानकर केवल अथवा स्वरूप मे अवस्थित होना ही पुरुष का मोक्ष ही प्रकृति के सम्पर्क मे पुरुष अचोर चौरइवधृत की भाति है।[१३८]

कैवल्य मे आत्मा सभी विचारो से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे स्थित होता है। साख्य मे पुरुष सच्चित रवरूप है। अत साख्य मोक्ष मे आनन्द को नही मानते है क्योकि उसके अनुसार आनन्द सत्व का धर्म है।। त्रिविध दु ख के आत्यन्तिक उच्छेद के लिए आनन्द से रहित होना आवश्यक है अन्यथा सत्व के अभिभूत होने पर पुन दु खादि का उद्भव होगा। महाभारत[१३९] मे भी मोक्ष को 'अदुखमसुखम् कहा गया है।

आत्मा रूप चैतन्य शरीर नही है न ही चैतन्य पदार्थों से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। चूँकि यह चैतन्य उनके अन्दर अलग–अलग विद्यमान नही है। अत यह उन सबमे एक साथ रह भी नही सकती।[१४०] आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि इन्द्रियॉ स्वय द्रष्टा न होकर दर्शन के साधन हैं।[१४१] हमारे समस्त अनुभव आत्मा के द्वारा ही एक इकाई के रूप मे व्यवस्थित होते हे। यह प्रकृति और शरीर से भिन्न है।[१४२] यह अपरिवर्तनशील सत्ता है जो कि सभी प्रकार के विचारो और सवेदनाओ को प्रकाशित करती है। क्योकि बिना एक स्थाई चेतन तत्त्व के सुख या दुख रूपी विविध अवस्थाओ का अनुभव सभव नही होगा।[१४३] आत्मा सुषुप्ति की अवस्था मे भी विद्यमान रहता है साथ ही जाग्रत और रवप्नावस्था मे भी यह वर्तमान रहता है जो भी

परिवर्तन होते और दिखाई देते है। वे बुद्धि के अन्तर्गत आते है। उनका आत्मरूप पुरुष से कोई सबध नही है।[१४४] आचार्य विज्ञानभिक्षु आगे कहते है कि साख्य के पुरुष का न आदि है और न अन्त। अत यह अजन्मा है यह निगुर्ण है सूक्ष्म सर्वव्यापी नित्यद्रव्य इन्द्रियातीत अनुभवातीत देशकाल और कारण–कार्य श्रृखला के परे चिद्रूप है। पुरुष स्थाई अखण्ड और पूर्व सत्ता है। जब पुरुष शारीरिक सीमाओ से मुक्त होता है तो इसे परिवतनो का बोध नही रहता। बल्कि तब यह अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित होता हे।[१४५] पुरुष प्रकृति से सबद्ध नही उदासीन निर्लिप्त निष्क्रिय एक मात्र साक्षी रूप दर्शक है।[१४६] यद्यपि पुरुष विक्षुब्ध प्रतीत होता है लेकिन इसका कारण मन है। पुरुष और मन का सबध अस्थाई है। इस सबध का पुरुष पर दीर्घकालिक या स्थाई प्रभाव नही पडता है। क्योकि यह साहचर्य यथार्थ न होने के कारण कोई प्रमाण नही छोडता है। पुरुष जो निष्क्रिय रूप से निर्मित है निर्लिप्त है कर्ता प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा त्रैगुण्यक प्रकृति के प्रमाण के कारण अनुभव होता है।[१४७]

साख्य दर्शन मे पुरुष की अनेकता मे विश्वास किया जाता है। इसके अनुसार ससार मे चैतन्ययुक्त प्राणी अनेक है और इनमे से हर कोई विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ प्रक्रियाओ को अपने रवतत्र अनुभव द्वारा अपनी ही विधि से समझता है। यहॉ विविध लोगों के दृष्टिकोण मे भेद का आधार प्रकृति के व्यापार नही अपितु चैतन्य रवरूप द्रष्टा का भिन्न–भिन्न होता है। जिनकी इन्द्रियॉ और कर्म ही नही अपितु वे जन्म और मृत्यु भी अलग–अलग प्राप्त करते हैं।[१४८] साख्य मत में मोक्ष किसी एक निरपेक्ष सत्ता में तादात्म्य बनाना नही बल्कि प्रकृति से अलग हो जाना है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य मे आत्मा का मूल स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों की क्रियाओं का मूक दर्शक रहना है। जिनके साथ ये पुरुष अस्थाई रूप से सबद्ध समझ लिये थे। अत आचार्य भिक्षु का मत है कि धर्मशाखाओ अथवा दार्शनिक मतो मे जिस एकेश्वरवाद का सर्मथन किया गया है। वे आत्माओ के तात्रिक गुणो के पररपर अभेद को प्रतिपादित करते है किसी अखण्डता का नही।[१४९] जीवात्मा इन्द्रियो के सयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से पुरुष से पृथक रूप मे जाना जाता है। आ० भिक्षु के अनुसार पुरुष अपने आप मे जीव नही हे अपितु जब पुरुष अहकार युक्त होता है तो जीव कहलाता है।[१५०] बुद्धि के अन्दर पुरुष का प्रतिबिम्ब अहभाव के रूप मे प्रतीत होता है जो हमारी राभी मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं और

दशाओ को जानती है। अत जब हमे इसका ज्ञान नही हो जाता कि बुद्धि पुरुष नही है अर्थात पुरुष बुद्धि के परे है। हम बुद्धि को पुरुष रूप आत्मा मानते रहते है। इस प्रकार प्रत्येक जीव बुद्धि के आधार पर अपने पूर्व कर्मों के अनुरूप निर्मित एक पृथक सस्थान है।[१५१] क्रियाशीलता और परिवर्तन का सबध बुद्धि से है जो प्रकृति की उत्पत्ति है। फिर भी पुरुष के साथ इसके सयोग के कारण निष्क्रिय और निर्लिप्त पुरुष सक्रिय और कर्ता प्रतीत होता है। जबकि वास्तव मे कर्तव्य का सबध अत करण से है जो चैतन्यपुरुष के प्रतिबिम्ब से कर्तव्य प्राप्त करता हे।[१५२] परिणामस्वरूप जीवात्मा अपने यथार्थस्वरूप को भूल जाता है और भ्रमवश मान लेता है कि वह सोचता अनुभव करता और कर्म करता है। शरीर से राबध होने के कारण पुरुष अपने को जीवन के एक परिमित और विशिष्ट रूप जीव मान लेता है। इस प्रकार जीव अपने मूल से वचित हो जाता है। यद्यपि पुरुष गाति नही करता है तथापि वह जिस शरीर मे स्थित है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करता है। इसी प्रकार पुरुष निष्क्रिय है किन्तु उसे सहमति ओर असहमति प्रदान करने वाला माना जाता है यद्यपि ये सभी गतियॉ प्रकृति में ही होती। किन्तु भ्रमवश अकर्ता को कर्ता मान लिया जाता है।[१५३] वास्तविक बधन चित्त का होता है जबकि पुरुष पर इसकी छाया मात्र होती है। जिसका उस पर कोई प्रभाव नही पडता है। अत दु ख–सुख की अनुभूति मात्र प्रतिबिम्ब के रूप मे है जो उपाधि की वृत्ति है।[१५४] जब प्रकृति कार्य करती है तो उसके परिणाम की अनुभूति पुरुष को होता है क्योकि प्रकृति की क्रिया पुरुष के अनुभव के लिए है। वास्तव मे यह अनुभव भी अहभव के कारण आता है जो अविवेक द्वारा उत्पन्न होता है। जब कभी यथार्थज्ञान पुरुष को हो जाता है तब उसे न सुख होता है न दुख तथा न कर्तृत्व भाव आता है ओर न भोक्तृत्व भाव।[१५५]

डा० राधाकृष्णन के अनुसार[१५६] पुरुष का अरितत्व मानसिक अवस्थाओ की सीमा के परे और उससे पृथक् है पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न ही लौकिक तत्त्वविज्ञान के विचार के अन्तगर्त आता है। निवेधात्मक पद्धति के आधार पर पुरुष का रवरूप नित्य और अखण्ड हे जा परिणामी नही है अर्थात। विविधता की छाया से भी रहित है और यह सदैव अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप मे अवस्थित रहता है। यहॉ साक्षी रूप मे द्रष्टा है। जिस पुरुष के लिए प्रकृति की उपस्थिति है, कभी भी रगमच पर नही आता है यद्यपि समरत अनुभव उसकी और सकेत करता

है। जीव प्रकृति की उपाधि युक्त है अत वह विशुद्ध पुरुष नही है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान का विषय बनती है शरीर युक्त आत्मा है। यदि हम समस्त अनुभाविक तथ्यो को माने तो यह जो निर्गुण आत्मा जिसमे से समस्त वस्तुविषय निकाल दिये जाय मात्र एक कल्पित रचना होगी। लेकिन यह भी रपष्ट है कि पुरुष के आस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साख्य जिन तर्कों को प्रस्तुत करती है वे आनुभाविक व्यक्तियो अर्थात जीवात्माओ के अस्तित्व ही सिद्ध करती है।[१५७] जिसके आधार पर साख्य पुरुष बहुत्व को सिद्ध करता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[१५८] पुरुष बहुत्व के सबध मे जो सबसे महत्वपूर्ण तर्क दिया जाता है वह यह है कि यदि एक मात्र पुरुष की सत्ता स्वीकार की जाए तो इसके भ्रम का निवारण अर्थात विवेक–ज्ञान होते ही सृष्टि की प्रक्रिया का भी अत हो जायेगा। जबकि ऐसा कहना असगत है। वास्तव मे यह सृष्टि बद्धात्माओ के लिए तब भी विद्यमान रहती है। जबकि कुछ आत्माए मोक्ष प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार हम यह मानने के लिए बाद्ध है कि शरीर धारी आत्माएँ अनेक और भिन्न–भिन्न है। प्रत्येक जीवात्मा का अपना–अपना शारीरिक सघटन और अपनी अपनी रुची होती है इसी प्रकार इनके जन्म–मरण और क्रियाए भी अलग–अलग होती है।[१५९] साख्य का पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। सभी प्रकार के परिवर्तन और लक्षण प्रकृति से ही सबद्ध है। पुरुष के अन्दर भेद प्रतिपादन करने का कोई आधार नही प्रतीत होता है। यद्यपि सभी पुरुषो के अन्दर एक ही समान चैतन्य तथा सर्वव्यापकता के लक्षण है इनके बीच न्यूनातिन्यून भेद भी नही है। क्योकि प्रत्येक पुरुष सभी प्रकार की विविधताओ से मुक्त है अत पुरुषबहुत्व की अवधारणा पूर्णत असगत है। यही कारण है कि गौडपादाचार्य प्रभृति साख्यटीकाकार एक अर्थात अद्वैत पुरुष के मत को रवीकार करते है।[१६०] क्योकि जन्म, मरण करणदि के आधार पर ही नही अपितु भोक्ता मुमुक्षादि की धारणा से शरीरबद्ध जीव का अनेकत्व ही सिद्ध होता है। साख्य मत मे प्रधानत पुरुष को निष्क्रिय उदासीन नित्य और चेतन माना गया है जिसमे किसी प्रकार की कामना या इच्छा नही है। प्रकृति जिस पुरुष के लिए रगमच पर आती है और लीला करती है वह पुरुष नित्य और स्वतत्र नही हो सकता। वह प्रतिबिम्बित अहभाव रूप जीवात्मा ही होगी। अनेकत्व में सीमितताए मिश्रित रहती है। जबकि परम, नित्य अविनश्वर और निरुपाधित पुरुष एक ही हो सकता है। इसलिए यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के अभिनय अर्थात सृष्टि प्रक्रिया हेतु ससर्ग के लिए

आवश्यक है तो उसके लिए एक ही नित्य–शुद्ध–मुक्त पुरुष पर्याप्त है।[१६१] स्पष्ट है कि साख्य पुरुष की यथार्थ सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य है क्योकि इसके बिना जगत की व्याख्या सम्भव नही है। लेकिन आश्चर्य है कि समस्त साख्य दर्शन पुरुष और जीव के भेद का उल्लेख नही मिलता। यदि पुरुष एक सर्वथा अपरिवर्तनीय निष्क्रिय और पृथक सत्ता है तो वह कर्ता या भोक्ता नही हो सकता है। क्योकि तब वह अध्यारोपण के आधार पर गलती भी कर सकता है। अध्यापरोपण का अर्थ है[१६२] किसी जीवात्मा द्वारा एक वस्तु के गुणो का दूसरे वस्तु मे आरोपण करना जीवों का अस्तित्व व्यक्तियो के रूप में है। पुरुष पूर्ण आत्मा का ही नाम है जो देहस्थ आत्मा से भिन्न है। पुरुष मेरा सारतत्त्व है जबकि जीव इसकी विकृति है। अत पुरुष मूलत न प्रकृति है और न विकृति ही। वह निष्क्रिय व असग चेतन सत्ता है।[१६३]

आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार सभी आत्माए ईश्वरीय है।[१६४] यद्यपि आत्माओ के अन्त स्थित ऐश्वर्य को रजस तथा तमस गुणो द्वारा अवच्छेद किया जाता है।[१६५] अहकार जो व्यक्तित्व का तत्त्व है का कार्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभियान है। कर्तव्य का सबध इसी के साथ होता है पुरुष अर्थात् आत्मा के साथ नही।[१६६] यह कहना ठीक नही है कि प्रकृति पुरुषो के उद्देश्यो के अनुसार कार्य करती है क्योकि पुरुष अनादिकाल से स्वतत्र है और प्रकृति की प्रक्रियाओ से उत्पन्न सुखादि का भोग करने में असमर्थ है। अत प्रकृति की क्रियाए पुरुष नही जीवो के उपयोग मे निमित्त है क्योंकि जीव ही पूर्ण अन्तर्दृष्टि रखने के कारण अपने लिगशरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। जबकि यहाँ भेदपरक विवेक ज्ञान की आवश्यकता है। ऐसे प्राणी जिन्हे प्रकृति जन्म देती है दु ख भोगने के लिए बाध्य है यद्यपि उन्हे अवसर चाहिए कि वे छुटकारा पा सके।[१६७]

साख्यकारिका मे इन्द्रियॉ पुरुष को अनुमान प्रमाण का[१६८] विषय माना गया है जैसा कि पुरुष तत्त्व की सत्ता के अनुमान पाच हेतुओ के आधार पर किया गया है।[१६९] पुरुष की सत्ता के अनुमान में जो प्रमाण दिये गये है, उनके आधार पर प्रकृति से पृथक पुरुष तत्त्व तो अवश्य सिद्ध होता है, परन्तु त्रिगुणात्मक जगत के भोक्ता अधिष्ठाता और बद्ध आदि रूप मे ही अकर्ता अभोक्ता आदि विशुद्ध रूप मे नही। यद्यपि सघात का भोक्ता तथा त्रिगुण–विपरीत कहे जाने से

सघात के त्रिगुणात्मक रूप से भिन्न उसका निगुर्ण चित्त रूप प्रकट होता है तथापि सघातपरार्थत्वात् एव अधिष्ठानत्वात हेतुओ से उसका बहुत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार[१७०] पुरुष की अनेकता सिद्ध करने वाले जो पाच हेतु माने गऐ है उनसे पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है परन्तु वह पुरुष जन्म लेने वाला मरने वाला विभिन्न देशकालो मे विविध कार्य करने वाला अर्थात कर्ता तथा त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव हेतु के आधार पर त्रिगुणात्मक स्वभाव वाला सिद्ध होता है उक्त सदर्भ मे वदतोव्याघात दोष उत्पन्न होता है क्योकि स्वय कारिकाकार ने पुरुष को कारण–कार्यभाव से रहित बन्धन मोक्ष से शून्य तथा भोक्तृत्व–कतृर्त्वादि आदि से विहीन माना है।[१७१] अत १७वी और १८वी कारिका के आधार पर पुरुष का व्यावहरिकत्व–जीवत्व ही सिद्ध होता हे। जो आचार्य ईश्वर कृष्ण को कथमपि मान्य नही होगा। अत पुरुष के अनुमान के लिए उक्त हेतुओ को तर्क सगत नही माना जा सकता है। जिस पुरुष की अनेकता सिद्ध करने के लिए जननमरणकरणानामप्रतिनियमात इत्यादि तर्क दिए गये है वह पुरुष निगुर्ण होने से असग उदासीन और अनुकर्ता नित्य होने से जन्म–मरण से विमुक्त होगा। फिर कैसे जन्म मरण और करणादि की भिन्नता के आधार पर पुरुष बहुत्व कैसे सिद्ध होगा ?

साख्यकारिका मे पुरुष की सत्ता अनुमान द्वारा ही मानी गयी है। परतु पुरुष को न प्रकृति न विकृति मानने से[१७२] पुरुष को निगुर्ण तथा अपरिणामी मानने से सस्सरणशील न होने से उसका बधन और मोक्ष न होना[१७३] और तत्त्वज्ञान के आधार पर अकर्ता और अभोक्तृत्व का ज्ञान होना [१७४] इत्यादि कारिकाओं मे पुरुष के निगुर्ण रूप का वर्णन मिलता है। इस प्रकार कार्य कारणोमय रूप से भिन्न पुरुष का जो पारामर्थिक विशुद्ध चिन्त रूप है, उसका अनुमान किसी भी प्रकार से सम्भव प्रतीत नही होता क्योंकि उसमे लिग बनने वाले निजी धर्म गुण क्रिया अवस्था इत्यादि की न तो सत्ता ही है और न प्राप्ति ही होती है। कितु मूलप्रकृतिरविकृति एव उसके कार्यभूत महद्प्रकृतिविकृत्य सक्त तथा षोडशक्स्तु विकार से सर्वाथा विविक्त न प्रकृतिर्नविकृति पुरुष का उस रूप मे ज्ञान ही साख्य दर्शन का अतिम लक्ष्य है मोक्ष–दु खो से मुक्ति – का एकमात्रोपाय पुरुष के द्वारा अपने मूल स्वरूप का अनुभव किया जाना ओर उसका यह रूप शब्द प्रमाण के द्वारा ही सम्भव होने पर दीर्घ काल तक मनन निधिध्यासनादि साधनो के सतत् अभ्यास से अनुभवगम्य[१७५] होगा अनुमान प्रमाण से नही लेकिन किसी भी टीका

मे शब्द प्रमाण के विषय मे कैवल्य के इस महत्व का उल्लेख नही किया गया है। तस्माद्विचारिद्धग परोसमाप्तागमात्सिद्धम्[१७६] से स्पष्ट है कि कारिकाकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भी विषय न बनने वाले समस्त अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा मानते है।[१७७] तथापि टीकाकारो द्वारा शब्द प्रमाण के विषय मे कैवल्य उपाधि आत्मस्वरूप का उल्लेख किया जाना आश्चर्यजनक है। लेकिन अपवादस्वरूप जयमगलाकार[१७८] ने छठी कारिका के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दो में कैवल्य को शब्द प्रमाण के प्रमेयो मे समाहित किया है। जयमगलाकार का यह मत उचित प्रतीत होता है जबकि स्वय कारिकाकार ने पुरुष को परमार्थत कारणकार्यभाव[१७९] से परे बधन मोक्ष से परे[१८०] और पारमार्थिक ज्ञान स्वरूप माना है।[१८१] जिससे स्पष्ट है कि पुरुष की सत्ता[१८२] सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये है वे उसके व्यावहारिक या लौकिक रूप को ही विषय बनाते हे न कि उपरोक्त कथित पुरुष के पारामर्थिकस्वरूप को।

वास्तव में अनुमान स्वभावत उसी वस्तु अथवा उसके उसी धर्म अथवा स्वभाव आदि को विषय बनाता है लौकिक होने से जिसका कुछ अश प्रत्यक्ष का विषय बनता है। अत जिसका कुछ भी प्रत्यक्ष नही होता है। उसका अनुमान कदाापि सभव नही हो सकता। इस प्रकार पुरुष की सत्ता तथा उसके बहुत्व का अनुमान इसके व्यावहारिक अर्थात प्रत्यक्षगम्य धर्मो मे आधार का ही सबध है अन्यथा नही। यहॉ इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि इन अनुमानो द्वारा पुरुष के विषय मे कर्तृत्व भोक्तृत्व जन्म मरण बन्धक मोक्षादि भावो अथवा धर्मो की प्रतीति और दृढ होती है। जब कि पुरुष की वास्तविकता तथा पारमर्थिक अनेकता को सिद्ध करने के लिए कारिकाकार ने इनका आश्रय लिया है। लेकिन साख्यकारिका मे यह विसगति स्पष्टत प्रतीत होती है। क्योंकि १७वी और १८वी कारिकाओ के अनुमानो से दृढ होने वाली इस मिथ्या प्रतीति का तीसरी बासठवी और चौसठवी कारिकाओ द्वारा बलपूर्वक स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। जैसाकि कारिकाकार ने स्वय कैवल्य के लिए अपेक्षित प्रकृत–पुरुष–विवेक ज्ञान हेतु प्रकृति की अपेक्षा की है। जबकि यह विवेकज्ञान ' बुद्धि का एक विशेष प्रकार का परिणाम है और स्वय बुद्धि प्रकृति का परिणाम है।[१८३] इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रकृति का ही परिणामभूत विवेकज्ञान से सम्पन पुरुष अपनी लौकिक सत्ता की ओर सकेत करता है।

(III) प्रकृति-पुरुष सबध

साख्य मे पुरुष ओर प्रकृति के लक्षण स्वभावत परस्पर प्रतिकूल है। प्रकृति अचेतन ओर पुरुष चेतन है। प्रकृति क्रियाशील होने के कारण सदैव सक्रमणशील रहती है। जबकि पुरुष निष्क्रिय होने से अकर्ता है। पुरूष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने वाला है। जबकि प्रकृति सदैव परिवर्त्यमान रहने वाली है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है जबकि पुरुष निर्गुण है। प्रकृति प्रमेय अर्थात् विषय है। जबकि पुरुष प्रमाता अर्थात् विषयी है। प्रकृति अन्धी है तथा पुरुष साक्षी है। साख्य मे दोनो तत्त्व भिन्न–भिन्न[१८४] होते हुए भी अनादि सिद्ध स्वयभू एव स्वतत्र है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत का मूल है तथा सत्त्व–रजस–तमस तीनो गुण सृष्टि का उपादान कारण है।[१८५] त्रिगुणात्मिका प्रकृति मे क्षोभ चेतन तत्त्व पुरुष के सयोग द्वारा होता है और उसकी सक्रियता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है।[१८६] फलस्वरूप प्रकृति अनेक सजातीय तथा विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाती है। इस प्रकार पुरुष से प्रकृति का सयोग निमित्त कारण है। ये क्रमश सुखात्मक दुखात्मक तथा मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश प्रवृत्ति ओर नियमन करते है।[१८७] ये सब पृथक्–पृथक रूप में रहते हैं तो वह साम्यावस्था होती है और जब इन तीनों मे परस्पर सयोग होती है तो वह वैषम्यावस्था होती है। यह दूसरी अवस्था ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने मे समर्थ होती है। साम्यावस्था मूलप्रकृति या प्रधान या अव्यक्त आदि कहलाती है। जबकि वैषम्यावस्था को क्षुब्धावस्था अर्थात सृष्टि की अवस्था कहते है। इस अवस्था मे स्वभाववश ये गुण कभी अपने मे ही एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करते है और कभी किसी कार्य की उत्पात्त क ालए एक दूसरे का आश्रय ग्रहण करते है।[१८८]

साख्य सिद्धात में कारण वह सत्ता है जिसमे कार्य गुप्त रूप से विद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद का यह सिद्धात इस बात पर बल देता है कि कारण तथा कार्य एक ही पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थाए है अर्थात् समस्त उत्पत्ति का विकास और समस्त विकास का विलय कारण मे माना जाता है।[१८९] साख्य अत्यन्ताभाव में विश्वास नही करता इसके अनुसार भूतकाल और भविष्यकाल की अवस्थाओं का नाश नही होता। साख्य निम्न स्तर से उच्चतम स्तर विश्व का अनुवर्तन स्वीकार करता है। पदार्थों के आविर्भाव तथा तिरोभाव की एक निश्चित अवस्था है। इस प्रकार साख्य जगत की प्रयोजनवादी व्याख्या करता है। जगत प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति जगत का कारण है। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है

क्योकि असत से किसी वस्तु की उत्पत्ति नही होती। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है। किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ अनेक है देशकालविच्छिन्न है। किन्तु प्रकृति एक है सर्वव्यापी है और नित्य है।[१६०]

लोकमान्य तिलक सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकेल के विचार उद्धृत करते है। जिसके अनुसार मन अहकार बुद्धि और आत्मा ये सब शरीर के कर्म हे। जैसा कि हम देखते है कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड जाता है तो उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल हो जाता हे। इस प्रकार सिर पर लगी चोट से मस्तिष्क का कोई अग क्षतिग्रस्त हो जाता है तो भी स्मरणशक्ति दुष्प्रभावित होती है अर्थात मनोधर्म भी जड मस्तिष्क के ही गुण है। अत इन्हे जड वस्तु से कभी अलग नही कर सकते है। यही कारण है कि मस्तिष्क के साथ–साथ मनोधर्म और आत्मा को व्यक्त पदार्थों के वर्ग मे सम्मिलित करते है। इस प्रकार जडवाद मान ले तो एकमात्र अव्यक्त जड प्रकृति ही शेष बचती हे। अत सभी व्यक्त पदार्थों का निर्माण प्रकृति से हुआ हे। परन्तु लोकमान्य तिलक इससे सहमत नही है। उनका मत है कि ऐसा मानने पर निष्कर्ष यह निकलेगा कि मूलप्रकृति की शक्ति धीरे–धीरे बढती गई है और अन्त मे उसी को चैतन्य का स्वरूप प्राप्त हो गया । सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम है जिनके आधार पर जगत और जीव स्थित है। यदि एकमात्र जड की सत्ता मान ले तो न तो आत्मा अविनाशी होगा न स्वतत्र और तब मोक्ष की भी आवश्यकता नही होगी। हेकेल के मत मे सारी सृष्टि का मूल कारण एकमात्र जड और अव्यक्त प्रकृति ही है। अत इसे वे अद्वैत कहते है परन्तु यह जडाद्वैत होगा। जो साख्य को स्वीकार्य नही होगा।[१६१]

भागवद्गीता मे प्रकृति ओर पुरुष को अनादि तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है।[१६२] प्रकृति को समस्त कार्यकारण व्यापार और पुरुष को सुखदुखादि सभी उपयोगो का हेतु माना गया है। लेकिन इन दोनो को गीता अनादि मानती है परन्तु साख्य की भाति स्वयभू नही मानती है। क्योकि यहाँ भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति को अपनी माया कहते है और पुरुष को अपना ही अश मानते हैं।[१६३] इस प्रकार गीता साख्य पद को स्वीकार करती है परन्तु उन्हें अर्थ अपने अनुसार प्रदान करती है। डॉ० राधाकृष्णन् के मत में साख्य मत आधुनिक भौतिक सिद्धात से कुछ साम्य रखती है। दोनो विश्व के मूलकारण के रूप मे एक आद्य द्रव को मानते हैं और उसकी यथार्थ सत्ता पर बल देते है। इसे वे नित्य, अविनाशी ओर सर्वव्यापी मानते है किन्तु प्रकृति की तुलना

विशुद्ध एव सरल भौतिक द्रव्य मे नही की जा सकती। भोतिकवादी मत के विपरीत साख्यमत मे प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है। प्रकृति न तो मात्र भौतिक द्रव्य सत्ता है और न चेतनतानि विष्ट सत्ता है। प्रकृति से केवल पचमहाभूत ही नही अपितु मानसिक तत्त्वो की भी उत्पत्ति होती है। यह समस्त प्रमेय विषयक जीवन की केन्द्र बिन्दु है। साख्य मत का आधार विज्ञान नही अध्यात्म है। यथार्थ तत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप मे पृथक किया गया है तथा प्रकृति परिणमनशील जगत का आधार है। यह अविभ्रात क्रियाशील जगत के तनाव का प्रतीक है। यह बिना चेतन के बिना किसी पूर्व निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है। यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नही है।[१६४]

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिसमे से यह जगत् विकसित होता है। साख्य दर्शन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नही मानता। पुरुष की सन्निधि मात्र से किसी तरह प्रकृति की साम्यावस्था का भग उससे परिणाम द्वारा जगत की सृष्टि होती है। प्रकृति ओर पुरुष का यह सयोग एक विलक्षण प्रकार का सबध है। जब तक दोनो का सयोग नही होता है तब तक सृष्टि सभव नही है। क्योंकि न तो अकेले पुरुष जो निष्क्रिय है और न ही अकेले प्रकृति जो की जड है द्वारा सृष्टि सभव नही है। साख्यकारिका मे प्रकृति एव पुरुष का सबध अनेक उपमाओ द्वारा बनाया गया है। जिसमे लगडे एव अन्धे का सम्बन्ध यहॉ निष्क्रिय होने से पुरुष लगडा अर्थात् गतिहीन है और प्रकृति जड होने के कारण अन्धी है। दोनों के सयोग से ही सृष्टि–कर्म होता है।[१६५] साख्यकारिका में माना गया है कि जिस प्रकार बछडे के पोषण के लिए ज्ञान–शून्य अचेतन दूध का गाय के स्तनो से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए अचेतन प्रकृति की सृष्टि योजना अत्यन्त स्वाभाविक है।[१६६] साख्य मत मे जिस प्रकार अयस्ककान्तमणि चुम्बक–पत्थर स्वय गतिमान हुए बिना ही लोहे मे गति पैदा कर् देती है। उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष प्रकृति के सृष्टि करने की प्रेरणा देता है।

प्रकृति एव पुरुष का सयोग होने से गुणो की साम्यावस्था मे विचार उत्पन्न हो जाता है। जिसे गुण क्षोभ कहते है। सर्वप्रथम रजोगुण जो रवभावत क्रियात्मक है। परिवर्तनशील होता है

तब उसके कारण और गुणो मे भी स्पन्दन होने लगता है। फलरवरूप प्रकृति मे तीव्र क्रिया शुरू होता है। जिसमे प्रत्येक गुण दूसरे गुणो से प्रतिद्वन्द्विता करते है। क्रमश तीनो गुणों का पृथक्करण एव सयोजन होता है और न्यूनाधिक अनुपातो मे उनके सयोग से नाना प्रकार के सासारिक विषय उत्पन्न होते है। इस सृष्टि क्रम मे महत अर्थात बुद्धि उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व है।[१९७] यह बाह्य जगत की दृष्टि से विराट बीज रवरूप महत है और आभ्यन्तरिक दृष्टि रो बुद्धि जो जीवो मे विद्यमान रहती है। प्रकृति का दूसरा विकार अहकार हे जो कर्तृत्व एव भोक्तृत्व के भाव को उत्पन्न करता है। अहकार प्रकृति के गुणो के आधार पर तीन प्रकार के है जिसमे सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियॉ तथा तामस अहकार से पचतन्मात्राए उत्पन्न होती है। किन्तु राजस अहकार उक्त दोनों अहकारो का सहायक होता है। पचतन्मात्राओं शब्द रपर्श रूप रस एव गन्ध से प्रत्येक परवर्ती मे पूर्ववर्ती के गुण को सम्मिलित करते हुए पचमहाभूत आकाश वायु अग्नि जल एव पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।[१९८] साख्य सिद्धात मे स्थूलशरीर पचभूतो से निर्मित माना गया हे। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर का आश्रय है। सूक्ष्मशरीर अटठारह तत्त्वों त्रयोदशकरण एव पचतन्मात्राओ से निर्मित है। किन्तु आ० भिक्षु एक तीसरे प्रकार का अधिष्ठानशरीर मानते हैं। जब सूक्ष्मशरीर एक स्थूलशरीर से दूसरे स्थूलशरीर मे गमन करता है तो सूक्ष्मशरीर अधिष्ठानशरीर का आश्रय लेता है।[१९९]

कारिका के सयोग का अर्थ आ० वाचरपति मिश्र सन्निधान[२००] (समीपता) करते है। जबकि तत्त्ववैशारदी में उन्होंने सयोग का अर्थ योग्यता माना है।[२०१] स्पष्ट है कि पुरुष एव प्रकृति तथा बुद्धि एव पुरुष के बीच एक प्रकार का पूर्वरथापित सामजस्य पाया जाता है। जिसके कारण वे एक दूसरे पर उपकार करते है। इस प्रकार प्रकृति का सयोग अविद्या हेतुक है। यह सयोग दो परस्पर विपरीत स्वभाव वाले तत्वो को अभ्यूपगत करने के कारण साख्य रवभाववाद तथा भौतिकवाद दोनो की सीमाओ और दोषो से विरहित है। उसके साथ ही वह अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद के दोषो से भी निर्मुक्त है क्योंकि इसमे रव–रवामिसबध द्रष्टा–दृश्य भोक्ता–भोग्य अधिष्ठाता–अधिष्ठेय चिदचिद् रूप मे पुरुष एव प्रकृति समानातर व्यवस्थित है।[२०२] दोनो नित्य है पुरुष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति परिणाम नित्य[२०३] तत्त्वसमास के अनुसार 'जो वरतु जो नहीं है उसे वह समझना ही बन्धन है[२०४] दूसरे शब्दो मे बन्धन प्रकृतिगत है उसे पुरुषगत

समझना ही अविवेक है।[२०५]

पुराण एव महाभारत मे प्रकृति के विकास को पुरुषाधिष्ठित देखकर वहाँ विद्वानगण साख्य को स्वीकार नही करते। जबकि साख्यमत मे भी समस्त प्राकृतिक विकार पुरुषधिष्ठित ही होते है। वस्तुत चेतन का स्वछाया सम्पर्कत्व ही यहाँ अधिष्ठातृत्व है। पुरुष का प्रयोजकत्व यहाँ अधिष्ठातृत्व पद से विवादित नही है। वह अधिष्ठाता होते हुए भी उदासीन एव असग है।[२०६] उसकी उदासीनता सदैव अक्षुण्य है। इसलिए इसे उपेक्ष्य भी कहा गया है। उपेक्ष्य एव उदासीन एकार्थक है उपसमीपेस्थित्वा इच्छैते इति उपेक्षा यह अर्थ पुरुष के स्वरूप का द्योतक है। प्रकृति जगत का विकास करती हुई अक्षय है। यह पुरुष अधिष्ठित होकर ही समस्त चराचर जगत का उत्पन्न करती है। समस्त विकार इसी से उत्पन्न होते है और इसी मे लीन हो जाते है। पचमीविभक्ति का प्रयोग साख्य के परिणामात्मक सत्कार्यवाद का सूचक है। प्रकृति से उत्पन्न भाव अयस्ककान्तमणि को आश्च्योतन के सदृश्य है। समस्त अचेतन वर्ग को पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला माना गया है।[२०७] प० नीलकण्ठ शास्त्री एव डॉ० राधाकृष्णान प्रभृति विद्वान यहाँ प्रकृति को पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण परतत्र मान लेते है।[२०८] किन्तु वास्तव मे प्रकृति पुरुष के प्रयोजन का साधन करने तथा उससे अधिष्ठित होने के कारण परतत्र नही है। प्रकृति को सर्व पदार्थ लय स्थान मानकर उसे अलिग कहा गया है और अलिग होने के कारण ही प्रकृति स्वतत्र है। प्रकृति उसी अवस्था मे परतत्र होगी जब वह किसी अन्य कारण से विकसित होकर प्रलय की अवस्था मे स्वकारणलीन होगी। अर्थात जब वह किसी अन्य तत्त्व का लिग हो। साख्य में व्यक्त पदार्थों को ही सावमव एव परतत्र कहा गया है।[२०९] लय को प्राप्त होने वाले तत्त्व को लिग माना जाता है। चूँकि प्रकृति उत्पत्ति और लय का आश्रय स्वय है अत प्रकृति स्वतत्र है।

सत्व मे ही पुण्य–पाप प्रतिष्ठित है। पुरुष द्रष्टा, साक्षी अकर्ता, उदासीन तथा पुण्य–पाप से अलिप्त है। वैकल्पिक भ्रमवश पुरुष प्रकृतिगत कर्मों को अपना समझने लगता है। विकल्प एव विपर्यय दोनो चित्त की अतात्विक वृत्तियाँ है। विपर्यय को भ्रम या अविद्या कहते है। विपर्यय और विकल्प मे मौलिक अतर यह है कि विपर्यय वास्तविकता के बोध के अनन्तर बाधित हो जाता है। किंतु विकल्प का बाधा नही होता है यह निरन्तर बना रहता है। अवस्तु वस्तुवत

व्यवहार जैसे शशविषाण बन्ध्यापुत्र अकाशकुसुम विकल्प है। इसी प्रकार प्रकृतिगत पारिणाम को पुरुषगत तथा पुरुषगत चैतन्य को प्रकृतिगत समझना विकल्प है।[२१०] विकार से प्रकृति तथा अधिष्ठान से स्वरूप विकार एव प्रकृति से पुरुष का अनुमान किया जाता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इन दोनो तत्त्वो को जानने के कारण ही साख्य के आन्विक्षिकी कहा गया है। सत्कार्यवाद के आधार प्रकृति का तथा प्रकृति एव प्रकृतिगण से वैधर्म्य के आधार पर पुरुष का अनुमान होता है।[२११] इस प्रकार साख्य मे अनुमान प्रमाण की प्रधानता है। श्रुति प्रमाण से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। श्रुति मत मे भी सृष्टि का मूल कारण प्रधान ही है ब्रह्म नही।[२१२] क्योकि सत्वगुणमुक्त होने पर परिणामी होने के कारण प्रधान मे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनो हो सकती है जो ब्रह्म मे सभव नही है।[२१३] वेदान्तादि वाक्यो का समवय भी प्रकृति मे ही है। सत्वगुण के निरतिशय उत्कर्ष से सर्वज्ञ है ब्रह्म नही।[२१४] ससार का कोई कार्य एक होकर ज्ञानदि को उत्पन्न नही करता कितु अनेक प्रमाण प्रेमयादि युक्त होकर कार्य को उत्पन्न करता है। ब्रह्म केवल एक ही है और प्रकृति त्रिगुण है। इसमे प्रकृति ही जगत का वास्तविक कारण होगा ब्रह्म नही। कार्यकारण मे विकार लाए बिना उत्पन्न नही होता यही कारण है कि घट के समान सर्गादि प्रकृति का कार्य है।[२१५] कार्य के नाश से कारण का भी नाश हो जाता है अत अचेतन ही जगत का कारण है ब्रह्मा नही। यदि ब्रह्म को कारण मान ले तो कार्य का नाश होने पर उसका भी नाश हो जायगा। प्रकृति भी निष्क्रिय चेतन पुरुष क सयोग से अपने कार्य मे प्रवृत्त होती है।[२१६]

साख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका मे साख्य को निरीश्वरवादी माना गया है और इसे साख्य की दुर्बलता कहा गया है।[२१७] साख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका मे साख्य को निरीश्वरवादी माना गया है और इसे साख्य की दुर्बलता कहा गया है। इसीलिए उन्हे साख्य मे ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण ब्रह्म के रूप मे निर्गुण पुरुष सामान्य को मानना पडा। अत साख्यमत मे स्वीकृत चित सामान्य ही योग और वेदान्त मे ईश्वर माना गया है।[२१८] पुरुष चेतन किन्तु निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय किन्तु जड है दोनो का सयोग भले ही वह पचगन्धवत माना जाये कैसे सभव हो सकता है? साख्ययोग केवल इसी मान्यता के प्रसग मे अप्रमाणिक हे।[२१९] प्रकृति एव पुरुष ईश्वर की शक्तियॉ है ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति एव पुरुष दोनो का सयोग होता है।

उस सयोग से महत तत्त्व की उत्पत्ति होती है जो हिरण्यगर्भ कहलाता है। लोकमान्य तिलक ने साख्य को निरीश्वर मानते हुए विद्वान विल्सन की मान्यता के आधार पर ६१वी कारिका की रचना गौडपादभाष्य के आधार पर की।[२२०] डॉ० हरदत्त शर्मा ने भी पुरुष पर को ब्रूयते रो सबद्ध कर इसकी खूब वकालत की[२२१] लेकिन पुरुष को उपादान कारण मानने का कोई प्रमाण नही मिलता है। यहाँ तक की आगम प्रमाण भी इसके विरुद्ध है।[२२२] येनसर्वमिदतत के आधार पर पुरुष निष्क्रिय तथा प्रकृति को सक्रिय माना गया है वैसे भी कर्मवाच्य में कर्ता कभी भी प्रधान नही रहता है। पुराणों में भी ब्रह्मादि का वर्णन प्रकृति आदि के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। वहाँ सक्रिय तथा जहाँ ये पुरुष के रूप में सयुक्त है। वहाँ साख्यानुसार ही वर्णित है। स्वामी हिरण्यानन्द के[२२३] के अनुसार प्रारम्भ मे साख्य निरीश्वर और बाद मे सेश्वर है परवर्ती सश्वर साख्य के प्रमाण के रूप मे आचार्य भिक्षु को प्रस्तुत करते है। डॉ० दासगुप्त और अनीसा सेन गुप्ता[२२४] डॉ० के० ए० मजूमदार आदि ऐसा ही मानते है। वास्तव मे आ० भिक्षु ने अलग से कोई साख्य दर्शन नही प्ररतुत किया अपितु मूल साख्य को ही सेश्वर सिद्ध करने का प्रयास किया। इन्होने ऐसा पुराण स्मृति आदि के आधार पर अपनी कृति साख्यप्रवचनभाष्य और विज्ञानामृतभाष्य में ऐसा ही किया है।[२२५]

व्यक्ताव्यक्त विज्ञान के लिए व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य एव वैधर्म्य का विचार करके व्यक्ताव्यक्त तथा ज्ञ अर्थात् पूरुष के साधर्म्य एव वैधर्म्य का विचार किया जाता था। पुराणेतिहास मे प्रथम को क्षराक्षर विचार तथा द्वितीय को क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विचार कहा गया है। साख्यकारिका तथा साख्यसूत्र मे भी उक्त विचार इसी क्रम मे मिलता है। इनमे भी प्रथमत व्यक्त एव अव्यक्त दोनो त्रिगुण सहत्यकारी विषय सर्वसाधारण जड तथा परिणामी हे।[२२६] अविवेकी अर्थात् अपृथक् की व्याख्या पुराणो मे हिरण्योत्पत्ति के प्रसग मे उपलब्ध होता है। महदादि तत्त्व पृथक् रहकर प्रज्ञा सर्जन मे असमर्थ को अनन्तर पुरुष को अधिष्ठातृत्व में प्रधानानुग्रह से पररपर सम्मिलित होकर हिरण्याण्ड को उत्पन्न करता है। व्यक्त सकारण, विनाशी एकदेशी क्रियामान अनेकाश्रित एव परतत्र सावयव एव लिग है। इसके विपरीत अव्यक्त अकारण अविनाशी विभु निष्क्रिय एव निराश्रय अतएव स्वतत्र निरवयव एव अलिग है।[२२७] यही व्यक्त अव्यक्त का वैधर्म्य है कारण लय ही नाश है।[२२८] किसी वस्तु का पूर्ण समुच्छेद या नवीन का

समुत्पाद नही होता। प्रकृति विभु होने के कारण ही निष्क्रिय मानी गयी है। यद्यपि इसका परिणाम लक्षण एव क्रिया है। जिसके कारण इसे सक्रिय माना जाता है। तथापि सर्वत्र विद्यमान होने के कारण इसमे प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया के न होने के कारण इसे कहॉ गया हे। आचार्य भिक्षु के मत मे प्रकृति के अक्रियत्व का अविधेय है।[229] चूॅकि प्रकृति किसी अन्य तत्त्व में लीन नही होती अत यह अलिग है लेकिन दूसरी तरफ यह पुरुष का अनुमापक होने से लिग है।[230] लय [illegible] नही क्योंकि साख्य प्रकृति पुरुष का द्वितत्त्ववादी है। द्वितत्त्वाद मे प्रकृति पुरुष के साधर्म्य एव वैधर्म्य का जो मत मिलता है उसमें इसे सत्व क्षेत्रज्ञ अर्थात क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ माना गया है। स्पष्ट है कि प्रकृति पुरुष दोनो नित्य स्वतत्र विभु एव अलिग है। पुरुष कार्यकारण का अग न होने के कारण इसका अनुमान प्रकृति की भाति नही होता अत वह निर्विकार है। पुरुष का अनुमान व्यक्त एव अव्यक्त मे स्वरूप से होता है।[231]

पुरुष निगुर्ण असहत, अविषय चेतन एव अपरिणामी होने से व्यक्त-अव्यक्त दोनो से विपरीत है। किंतु अकारण निरवयव तथा विभु होने से यह व्यक्त से विपरीत तथा प्रधान के समान है। पुरुष बहुत्व विवाद का विषय है। आचार्य गौडपाद एकत्व को पुरुषपरक मानते है।[232] यद्यपि पुराणेतिहास मे पुरुषैकत्व एव पुरुष नानात्व दोनो के प्रमाण मिलते है हिरण्यगर्भ सिद्धात पुरुषैकत्व का प्रतिपादन करता है। उस सदर्भ मे विद्वान विल्सन का भी मत है कि प्रत्येक पुरुष अपने अनेक जन्मों मे अनेक शरीर धारण करता है तथापि एक ही रहता है।[233] किंतु साख्यकारिका में पुरुष बहुत्व की सिद्धि की गयी है।[234] जबकि साख्य भूत मे पुरुष नानात्व के साथ पुरुषैकत्व को भी स्वीकार किया गया है। पुरुष को जातिपरक मानकर तथा उपाधियो के द्वारा अद्वैत श्रुति से पुरुष नानात्व को अविरुद्ध माना गया है।[235] विवेकज्ञान जगत प्रवाह की नित्यता जन्मादि मुक्तता को पुरुष बहुत्व का प्रतिपादक माना गया है। साख्यकारिका योगसूत्र एव साख्यसूत्र मे भी पुरुष बहुत्व को ससार के प्रवाह की निरतरता के लिए आवश्यक माना गया है। क्योकि सभी पुरुष एक साथ मुक्त नही होते। बद्ध पुरुषों के लिए प्रकृति को नर्तकी माना गया है। साख्यकारिका मे प्रकृति को लज्जालु स्त्री बताया गया है जो पुरुष के द्वारा एक बार देख लिए जाने पर पुन उसकी दृष्टि मे नही आती है।[236] पुरुष बहुत्व के सबध मे आचार्य अनिरुद्ध ने अजामेकोम इत्यादि श्वतोश्वर उपनिषद् के कथन को उद्धृत किया है। इस प्रकार

पुरुष एकत्व अथवा नानात्व के सबध मे कोई निश्चित धारणा नही मिलती है। यद्यपि पुरुष क रवरूप अरितत्ववाद के सबध मे विचारगत एकता मिलती है।[२३७]

पुराणेतिहासीय और परवर्ती साख्य दोनों मे व्यक्त एव अव्यक्त की प्रवृत्ति को परार्थ माना गया है। निष्क्रिय होने से पुरुष का अनुमान प्रकृति की भाति नही किया जा सकता। व्यक्ताव्यक्त की परार्थता ही इसकी स्थिति का अनुमापक है। साख्यसूत्र एव साख्यकारिका मे इसकी परार्थता व्यक्त करने के लिए वत्सार्थ स्वाभाविक रूप से प्रसवित होने वाले दुग्ध का उदाहरण दिया गया है। गाय के स्तन से दूध निकलने का•कोई बाह्य प्रयोजन नही है। बल्कि वत्स को देखकर ही दूध स्वयमेव ही प्रवाहित होता है। इससे प्रकृति की प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है। पुरुष का भोगावपर्ग प्रकृति का प्रयोजन है।[२३८] पुरुष इसके विकारो का अधिष्ठाता होते हुए भी इसकी प्रवृत्ति का प्रयोजक नही। इसी प्रकार की परार्थ प्रवृत्ति से इसकी रवतत्रता बाधित नही होती अपितु प्रकृति रवय अपने द्विविध परिणागो द्वारा विविध पुरुषार्थो को सिद्ध करता है।[२३९] साख्य सूत्र मे इस परार्थता को रपष्ट करने के लिए सूपकार उष्ट्र और गर्भदास का उदाहरण दिया जिसमे सूपकार सम्पूर्ण पाक अपने रवामी के लिए उष्ट्र कुकुम का वहन दूसरे के लिए और गर्भदास (जन्म से दास) बिना आदेश के ही रवामी के मनोनुकूल ही कार्य करता है। इस प्रकार प्रकृति के कार्य पुरुष के लिए निरन्तर होते रहते है।[२४०] इस सबध में पुराण महाभारत मे नदी वृक्ष के फल वायु का गन्धवहन आदि उदाहरण मिलते है। प्रत्येक व्यक्ति यह मेरा शरीर है का कथन का प्रयोग प्राय करता है। पुरुष के बिना केवल प्रकृति से यह प्रत्यय सभव नही है क्योकि आत्मा के अभाव मे भी इसे मानने पर भी मृत्यु शरीर मे भी अभिमान की प्रशक्ति होगी। यह व्यवहार बाध्य है। क्योकि एक मृत शरीर है। ऐसा कथन त्रिकाल मे असभव है। यह अभिमान भी प्रकृति का धर्म है। पुरुष का कर्तृत्व एव भोक्तत्व आदि अतात्त्विक है।[२४१] आत्मा के चितत्तस्वरूप को चित्त धर्मत्व का वाचक न मान जाये। इसलिये साख्य मूल मे इसके चिद्रूपत्व का सर्मथन और चिद् धर्म होने का निषेध किया गया है।[२४२] कारण यह है कि पुरुष निगुर्ण होने से चिद् धर्मा नही हो सकता है। क्योकि यह सृष्टि विरुद्ध है।[२४३] आत्मा सच्चिद्रूप है। जड का प्रकाशक होने से यह प्रकाश रवरूप है।[२४४] समस्त चराचर जगत प्रकृति से ही विकसित है। प्रकाशाभाव मे यह विकास असभव है। साख्य मे आदि प्रकृति का वही

निदेशक है। निष्क्रिय होने के कारण पुरुष पगु तथा अचेतन होने के कारण प्रकृति अधी बतायी गयी है। यह उपमा लौकिक है। जबकि पारमार्थिक रूप से दोनो असख्य है। इनके अधिष्ठानत्व एव अधिष्ठातृत्व का व्यक्त करने के लिए ऐसे उदाहरण दिए गये है। यद्यपि समस्त विश्व प्रकृति के गर्भ से ही उत्पन्न है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति के लिए निमित्तकारण के रूप मे पुरुष की स्थिति स्वीकार की गई है। पुराण–महाभारत मे ब्रह्मादि त्रिदेव इसी रूप में अभ्युपगत है। पकृति की सहायता से ये सृष्टि सर्जन मे समर्थ है। किंतु पुरुष एव ईश्वर मे यहॉ अणुमात्र भी वैलक्षण्ये नही है।[२४५]

सत्कार्यवाद सर्वत्र स्वीकृत है। इसी से सर्वकारण प्रकृति का अनुमान होता है। कार्य के स्वरूप को अधिकृत कर साख्य मे कार्य को परिणाम तथा वेदान्त मे विवर्त बताया गया है। उपादान सम–सत्ताक परिणाम होता है। उपादान विषम–सत्ताक विवर्त होता है।[२४६] अत साख्य के सत्कार्यवाद को परिमाणात्मक माना गया है। पुराण एव महाभारत मे इसी मत को स्वीकार किया गया है।[२४७] कारण से कार्यविभक्ति के लिए निमित्त कारण की स्थिति मानी गई है। पुरुष ही जगत का निमित्त कारण है ।

बुद्धि–अहकार–मन जिन्हे स्वलक्षणवृत्ति अर्थात बुद्धि को अहमवसायात्मिका अहकार को अभिमानात्मक तथा मन को सकल्प–विकल्पात्मक कहा गया है।[२४८] बुद्धि के सात्विक एव तामस द्विविध रूप माने गए है । धर्म ज्ञान वैराग्य एव ऐश्वर्य सात्विक तथा इनके प्रतीक अधर्मादि तामस है।[२४९] इस प्रकार बुद्धि के कुल आठ धर्म है। अत सात रूपो से प्रकति स्वय को बाधती[२५०] तथा एक रूप से मुक्त रहती है। सप्त रूप से धर्म वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य एव एक रूप से ज्ञान विवक्षित है। ज्ञानाच्चात्यन्तिक प्रोक्त यह पुराणेतिहास मे वैकत अहकार से देवता तैजस से इन्द्रियवर्ग भूतादि से तन्मात्रा को विकसित माना गया है तथा तैजस को इनका प्रवर्तक माना गया है। इन्द्रिय अहकार और मन का स्वामी बुद्धि है। यही सभी विषयो का अवगाहन करती है । यह इन्द्रियेश्वर मन द्वारा सकल्पित एव अहकार द्वारा अभिमत विषयो का अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करती है।[२५१] इस प्रकार बुद्धि ही इन्द्रिय निकाय के माध्यम से पुरुष के भोग को साधती है तथा प्रकृति–पुरुष के सूक्ष्म-अन्तर को प्रकाशित करती हे।[२५२] इसी

कारण पुराणेतिहास मे इसे सर्वेन्द्रिय स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार मनोबुद्धि का प्राधान्य उभयत्र अभ्युपगत है। बोध के साधकतम होने से इन्हें कारण कहा गया है।[२५३]

साख्य मे स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समस्त कारण समूह अचेतन त्रिगुण सघात एव परार्थ है। पर पुरुष है। अत मन आत्मा से नितान्त भिन्न है। आत्मा विभु एव चेतन हे जबकि मन अणु पारिणाम एव अचेतन है। आत्मा कूटस्थ नित्य एव निष्क्रिय है। आत्मा द्रव्य है गुण पर्वस्वरूप प्रकृति महत् तथा अहमादि विशेषात दृश्य है। आत्मा से इनका अभेद है पचपर्वा अविद्या है जो जात्यायुर्भोगानिमित्तक कर्माशय मूल है। निष्कर्षत परस्पर प्रतीप स्वभाव आत्मा एव मन आदि का अभेद अज्ञान विजृम्भित है। महत से अविशेष सूक्ष्म ारीर है। विशेष से स्थूलशरीर है। सूक्ष्मशरीर जन्म–जन्मान्तर मे एक ही रहता है। यही सभी कार्य सस्कारों का अधिष्ठान है। भावादि वासित सूक्ष्म विग्रह अविधा हेतुक प्रकृति–पुरुष सयोग के समानान्तर उत्पन्न होता है। अत पूर्वोत्पन्न है। आत्यन्तिक लय पर्यन्त रहने से नियत है। अबाधित गाति होने से अशक्त तथा स्थूल शरीर के बिना भोगसक्त होने से निरुपभोग है। प्रकृति के विभुक्त या वैरवरूप्य के भोग के कर्मानुसार[२५४] विभिन्न रूपों को धारण करने वाला लिगशरीर अनेक भूमिकाओ मे कार्य करने वाले नट के समान माना गया है। इन्ही रूपो को स्थूलशरीर कहा जाता है। भूतसर्ग विभाग इसी के आधार पर स्पष्ट है कि इसमे रहने के कारण सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्म कहा गया है। पुरुष के रूप मे पुरिशेते इस यौगिक अर्थ मे ही इसे ग्रहण किया गया है। ऐसे स्थलो मे भी इसे आत्मा से भिन्न माना गया है।[२५५] यह सच्चिद् पुरुष से व्यतिरिक्त हे क्योकि पुरुष विभु है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे इस सस्करण की उपमा जलूथा से दी गई है। कर्मसिद्वात भी सत्कार्यवाद का ही समर्थक है और ससार की नित्यता पुरुष–बहुत्व का प्रतिपादन है।[२५६]

पुराणमहाभारत मे तत्त्वों का विभाजन सोलह–आठ–एक के रूप मे तथा साख्यकारिका एव साख्यसूत्र मे 'एक–सात–सोलह–१ के रूप मे मिलता है।[२५७] तत्त्व विभाजन से उपेत होने के कारण तत्त्वसमास को मूल षष्टितत्र कहा गया है। यही प्रचीन ग्रथो मे अविभक्त साख्य का उपजीव्य है। पुरोणेतिहास मे ईश्वर एव पुरुषोत्तम की चर्चा एक ही तत्त्व के रूप मे हुई हे

जिसे छब्बीसवा तत्त्व माना गया है। ईश्वर को पुरुष भिन्न बताया गया है। योगसूत्र[२५८] मे ईश्वर इसी रूप मे अभ्युपगत है। पुरुष विशेष होने के कारण इसे पृथक तत्त्व मानना अर्थवाद मात्र है। साख्यसूत्र मे[२५९] पुरुष विशेष ईश्वर का नही अपितु न्यायाभ्युपगत जगतकर्ता ईश्वर का खडन है। साख्यकारिका इस विषय मे मौन है। पुरुष के रूप मे ईश्वर की स्वीकृति इसमे भी मानी जा सकती है। साख्यसूत्र और साख्यकाारिका मे दिक् कारण की पृथक चर्चा नही मिलती है। इसे आकाश एव प्रकृति मे अन्तर्भूत कर दिया गया है मैक्समूलर ने इसे अद्वैतवेदान्त का प्रभाव कहा है। इसी कारण साख्यसूत्र को अत्यन्त पश्चात की कृति माना गया है। यह मत तर्क सम्मत है। तत्वसमोसोपजीवी पुराणेतिहासीय साख्य को दृष्टिगत करने से यह निष्कर्ष अनिवार्य हो_जाता है कि वैदिक सहिता के ऊष काल मे यादि किसी दर्शन की स्थापना मानी जा सकती है तो वह साख्य दर्शन था।

सत्कार्यवादी साख्य के मत मे दुख नाश का अर्थ है दुख का अभिभाव या तिरोधान होना। क्योकि साख्य के अनुसार दुख रजोगुण का परिणाम विशेष है। इसका सर्वथा नाश नही होता अपितु दुख अपने स्थूल आकार से सूक्ष्माकार मे परिणत होकर सदा के लिए शान्त हो जाता है। यह उसकी वर्तमानता से अतीतावस्था है। क्योकि ध्वस एव प्रागभाव का कमश अतीत एव अनागत अवस्था ही स्वरूप होता है। यह गीता भी मानती है कि जो नही है वह कभी नहीं हो सकता और जो है उसका कभी भी अभाव नही हो सकता। तत्त्वज्ञानी लोगों ने सत एव असत दोनो वस्तुओ का अन्त जान लिया है।[२६०]

प्रकृति और पुरुष के पार्थक्य का सकेत ऋग्वेद[२६१] मे भी मिलता है। साख्यसूत्र मे प्रकृति–पुरुष के सबधों को भी राग–विराग के द्वारा बताया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ के विषय मे आचार्य भिक्षु[२६२] का मत अपासिद्धात होने से अमान्य है क्योकि यह कितनी उलटी बात है कि प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति एव पुरुष का सयोग एव फिर सृष्टि ? अथवा प्रकृति एव पुरुष के सयोग से प्रकृति मे क्षोभ और सृष्टि ? यादि क्षोभ को सयोग से पूर्व माना जाय तो सयोग का कारण क्षोभ होगा। कितु तब क्षोभ का कारण क्या होगा ? यहा क्षोभ को अनादि नही मान सकते। क्योंकि तब प्रलय कभी भी सभव नही होगी ऐसा इसलिए कि भावरूप क्षोभ अनादि होने

से नित्य होगा और उसके नित्य होने से उसके कारण प्रकृति के तीनो गुणो मे होने वाला वैषम्य भी नित्य होगा तब सृष्टि भी नित्य होगी। इसके अतिरिक्त प्रकृति एव पुरुष के सयोग का ... सूत्रकार[२६३] के द्वारा अनकेश अविवेक कहा गया है क्षोभ नही। स्वय आचार्य भिक्षु[२६४] ने भी अपने भाष्य मे अविवेक द्वारा साक्षात सयोग होने की बात कही है फिर प्रकृति एव पुरुष के सयोग से प्रकृति मे क्षोभ और तत्पश्चात सृष्टि मानने पर कोई असगति भी नही आती। जेसी प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति एव पुरुष के सयोग और उससे सृष्टि होने से दिखाई जा चुकी है। सयोग का कारण अविवेक तो अनादि है जैसे कि साख्यसूत्र[२६५] मे भी माना गया है। इसलिए उसका कारण भी ढूढने की आवश्यकता नही है।

साख्य विकास और विलय की प्रकिया को स्वीकार करता है। आचार्य भिक्षु के मत मे सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य एक ही पदार्थ की अविकसित ओर विकसित अवस्थाए है। समस्त उत्पादन और समस्त विनाश का आधार कारण ही है। आत्यान्तिक अभाव जैसी कोई वस्तु नही है। भूत और भविष्य की अवस्थाओ का नाश नही होता है। क्योंकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान योगिगण करते है।[२६६] इस प्रकार विकास का अर्थ है जो कुछ दिया है उसका प्रकट होना।[२६७] कारण और कार्य की भिन्नता का आधार हमारे क्रियात्मकम स्वार्थ है। यथा–घडा ही पानी को धारण करता है मिट्टी नही। अत उपादान कारण और कार्य मौलिक रूप मे एक ही है। किन्तु वे क्रियात्मक रूप मे भिन्न–भिन्न है। क्योकि उनसे भिन्न–भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हे। तादात्म्य मौलिक है। भेद का आधार उनका क्रियात्मक रूप है। साख्य मे उपादान करण मे स्थित होता है तो निमित्त कारण बाहर से उतना प्रभाव डालता है। जिससे कार्य अपने कारणात्मक स्थिति से स्वतत्र हो सके। अत इस सहकारी शक्ति के बिना कार्य उत्पन्न नही हो सकता है।[२६८] डॉ० राधाकृष्णन् के मत मे साख्यदर्शन के अनुसार कोई भी कारण किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकता है, क्योकि सभी पदार्थ प्रकृति मे से ही उत्पन्न होती है। लेकिन इसके लिए हमे कुछ बाधाए उत्पन्न करने वाली रुकावटो को दूर करना होगा। आचार्य भिक्षु के अनुसार भी यदि पत्थर के अन्दर से कणो की वह अवस्था जो उसके भीतर गुप्त शाक्ति को विकसित होकर अकुर के रूप मे फूटने से रोकती है ईश्वर की ईच्छा से दूर हो जाये तो पत्थर के टुकडे से भी पौधा निकल सकता है।[२६९] कार्य दो प्रकार के होते है एक जो सरल अभिव्यक्ति

की अवस्था इसमे दूध से मलाई की उत्पत्ति होती है दूसरा पुनरुत्पत्ति की अवस्था इसमे स्वण से आभूषण का निर्माण होता है। जब किसी वस्तु के स्वभाव मे परिवर्तन होता है तो यह कार्य पारिणाम है। जब सम्भाव्यता वास्तविकता मे बदलती है और परिवर्तन केवल बाह्य होता हे तो यह लक्षण–परिणाम है तथा जब केवल समय व्यतीत होने पर अवस्था मे परिवर्तन होता हे तो यह अवस्था–परिणाम होता है।[२७०] परिवर्तन हर पल और स्थान पर हो रहा है। यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति एक ही जलधारा मे दो बार स्नान नही कर सकता इसी प्रकार दोनो बार के पग डालने मे व्यक्ति भी वही नही रहता। क्योकि जैसे जलधारा मे परिवर्तन हो रहा है वैसे ही उस व्यक्ति मे भी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सब कुछ सब प्रकार से परिवर्तनशील है।[२७१] यह जगत अयथार्थ नही क्योकि यह मनुष्य भ्रम नही है और न ही यथार्थ है। क्योकि इसका लोप हो जाता है।[२७२] साख्य मे न तो यह माना गया है कि यह जगत उसका प्रतिबिम्ब है जिसका अस्तित्व नही है[२७३] और न यही मानता है कि यह जगत केवल विचारमात्र है।[२७४] परिवर्तनो के अधीन होने के कारण इस जगत की प्रतीयमान यथार्थ सत्ता है।[२७५]

प्रकृति के सृष्टि विकास मे एक आकर्षक सौन्दर्य होने के साथ एक ऐसी योजना भी निहित है जिसका एक धार्मिक प्रयोजन स्पष्ट है।[२७६] प्रकृति से एक ऐसे जगत का विकास होता है कि जिसमे विनाश भी अन्तनिर्हित है और जिसका उद्देश्य पुरुष को जागृत करना और विवेकज्ञान की प्राप्ति कराना है। प्रकृति के क्रियाकलाप एक ऐसे पुरुष के लिए होते है जो निष्क्रिय है और जो अपने सम्मुख होने वाली इन सब क्रियाओ को देखती है। यद्यपि इरासे प्रभावित नही होती है। इस प्रकार पुरुष की सेवा ही प्रकृति का लक्ष्य है।[२७७] यद्यपि प्रकृति को स्वय इस लक्ष्य का ज्ञान नही रहता। यहॉ साख्य चमत्कारवाद का निषेद्यकर एक अन्तर्निहित उद्देश्यवाद को स्वीकार करती है। यह क्रियाकलाप यत्रवत होने पर भी अपने विकास योजना के आधार पर एक विलक्षण मेधावी सत्ता अर्थात ईश्वर की ओर सकेत करता है। लेकिन साख्य मत मे प्रकृति का क्रियाकलाप किसी सचेतन चितन का परिणाम नही है।[२७८] विकास की प्रथम अवस्था मे प्रकृति निष्क्रिय रहती है और असख्य पुरुष भी निश्चेष्ट पडे रहते है। लेकिन ये निश्चेष्ट पुरुष प्रकृति पर एक यात्रिक शक्ति का प्रयोग करते है फलस्वरूप प्रकृति की साम्यावस्था मे क्षोभ पैदा हो जाता है जिससे एक ऐसी गति पैदा होती है जिसके कारण विकास

यात्रा शुरू होती है। जिसका परिणाम अन्तत ह्रास ओर विनाश के रूप मे होता है। लेकिन प्रकृति अपनी इस निष्क्रिय दशा मे पुन पुरुष से उत्तेजना प्राप्त कर विकास करती हे। यह प्रक्रिया निरन्तर तब तक चलती रहती है जब तक सभी पुरुष मोक्ष की प्राप्ति नही कर लेते है। इस प्रकार विश्व सबधी प्रक्रिया का पहला और अतिम कारण पुरुष ही है। किन्तु पुरुष की कारणता यत्रवत है जो किसी इच्छा का परिणाम नही अपितु सान्निध्य के कारण है। जिसमे एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।[२७९] यहाँ जब तक प्रकृति और पुरुष के बीच कल्पित सबध रहता हे तभी तक प्रकृति पुरुष के प्रति कार्य करती है। जब पुरुष विकास ओर विलय को प्राप्त होने वाला प्राकृतिक जगत से अपने भेद को पहचान लेता है तो प्रकृति उसके प्रति अपना व्यापार बन्द कर देती है।[२८०] इस प्रकार प्रकृति के विकास का नैमित्तिक कारण केवल पुरुषो की उपस्थिति ही नही है क्योकि वह तो निरन्तर बनी रहती है। बल्कि उसका अपने और प्रकृति के भेद का न जान पाना है। साख्य मे अविवेक को पुरुष तथा प्रकृति के सयोग का कारण माना गया है।[२८१] आनदिरूप अविवेक प्रलयकाल मे भी रहता है यद्यपि तब प्रकृति और पुरुष का सयोग नही रहता। यह सयोग यथार्थ नही क्योकि इससे पुरुष के अन्दर कोई नया गुण नही उत्पन्न होता है। फिर भी प्रकृति और पुरुष के सबध को योग्य और भोक्ता के सबध को माना जाता है। आ० भिक्षु के मत मे यदि सबध नित्य है तो ज्ञान से इसका अन्त नही हो सकता और यदि यह अनित्य है तो भी यह सयोग ही कहा जायेगा।[२८२]

विषयी और विषय एकत्व की ओर सकेत करते है। यद्यपि ये भिन्न है फिर एक इकाई के अन्तर्गत ही है। क्योकि एक चैतन्य विषय का चैतन्य है और विषय चैतन्य का ही विषय है। अपने को पदार्थ जगत से भिन्न करने और उससे सबद्ध करने मे ही हम आत्मा अर्थात विषयी को जान सकते है अन्यथा नही। अत विषयी और विषय की सबधविहीनता की स्थिति मे एक दूसरे की ओर सक्रमण सम्भव नही है। दोनो पक्षो की एकता उनके भेद की पूर्वकल्पना है। भेद का कारण अज्ञान अर्थात अविद्या है। जिसके कारण हम अनुभव के स्वरूप और उसकी अवस्थाओं पर विचार नही कर पाते। ओर हम विषयी व विषय के माध्यम से परमतत्त्व को जानने मे असमर्थ हो जाते है। यह सत्य है कि द्वैतपरक विचार हमारे मतो के लिए आवश्यक है। लेकिन ऐसा सही मान ले कि यही वास्तविकता है तो उन्हे जोडने के लिए एक तृतीय पदार्थ की

आवश्यकता होगी लेकिन इस तीसरी वस्तु की स्वीकृति भी हमे सतोषप्रद समाधान नहीं देती है तब हम यह मानने को विवश होते है कि ये दोनो एक ही परम चैतन्य के दो पक्ष है जो समस्त ज्ञान और जीवन का आधार है इस परमएकत्व को न पहचान पाना ही साख्य की प्रकल्पना मे एक मौलिक भूल है।[२८३] क्योकि प्रकृति पुरुष के अन्दर एक साथ ही अपने विषय मे और जगत के विषय मे जिसमे वह निवास करती है। सत्य अस्तित्व के ज्ञान को उत्पन्न करती है तो क्या इन दोनो के भेद मे जो एकत्व निहित है उसका साक्षी नही हे? क्योकि प्रकृति तभी व्यक्त होती है जब इसका सबध विषयी से होता है। लेकिन जब यह विषयी से असबद्ध रहती है तो अव्यक्त रहती है। यही नही प्रकृति जो करती है उसकी सूचना भी पुरुष द्वारा ही मिलती है।[२८४] अत पुरुष से स्वतत्र प्रकृति का विचार स्वत विरोधी हो जाता है। प्रकृति सबधी जो विकास प्रक्रिया है उसमे उद्देश्यवाद निहित है जिसका कारण भी पुरुष है। प्रकृति के विकास का पुरुष के मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। यद्यपि साख्य यह नही मानती है कि प्रकृति ज्ञानपूर्वक कोई योजना बनाती है और उसे प्रयोग मे लाती है। लेकिन यह मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के प्रयोजन की पूर्ति के लिए बनाई गई योजना का क्रियात्मक रूप है। अत स्पष्ट है कि प्रकृति क्या बनती है अथवा बनेगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि पुरुष का प्रयोजन क्या है अथवा वह क्या चाहता है? प्रकृति की विकास श्रृखला मे पुरुष कही नही है फिर इस श्रृखला से एक समान सम्बद्ध है। इस प्रकार पुरुष विकास मे प्रकृति के लिए सहायक के साथ मे निरन्तर बना रहता है। यदि पुरुष इस प्रकृति प्रक्रिया मे अनायास ही न आ जाता तथा जीवात्मा इस सृष्टि मे भागीदार न बनता तो प्रकृति का कोई भी कार्य सभव नही था।[२८५]

प्रकृति के विकास मे सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है महत जो सकल विश्व का कारण है। साख्य का महत् विश्वीय पक्ष को दर्शाता है और इसका पर्यायवाची बुद्धि मनोवैज्ञानिक पक्ष हे जो प्रत्येक व्यक्ति मे रहता है। लेकिन साख्य मे महत् के मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही स्वीकार किया गया है। क्योकि इसका बुद्धि और उसके गुणो धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य व इसके विपरीत मे साम्य देखने से भी मनौवैज्ञानिक अर्थ की पुष्टि होती है लेकिन बुद्धि की जो उपलब्धियॉ महत् ब्रह्म आदि मिलते है। उससे विश्व सम्बन्धी अर्थ ही किया गया है।[२८६] बुद्धि प्रकृति की कारणावस्था मे बीजशक्ति के रूप मे सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। यह अव्यक्तावस्था है। जब

यह कार्यावस्था मे परिवर्तित होती है तो यह बुद्धि कहलाती है। आ० विज्ञानभिक्षू के अनुसार यह कभी भी असफल न होने वाली और सब सरकारो को धारण करने वाली है।[२८७] प्रकृति जड ह ओर एक है किन्तु पुरुष अनेक है। फिर पुरुष रासर्ग के पश्चात प्रकृति से उत्पन्न महत का क्या स्वरूप है। भिन्न–भिन्न पुरुषो के आधार पर प्रकृति भी विकास क्रम की योजना मे कैरो सप्रयोजन मे एकरूपता हो सकती है। अत पुरुष बहुत्व जीवतत्त्व की ओर तथा महत् मुक्त प्रकृति विश्वात्मा रूप की ओर और निष्क्रिय चेतन पुरुष एकतत्त्ववाद की तरफ सकेत करता है। क्योकि साख्य कारिका मे बुद्धि के जो व्यापार बताये गये है वे अहकार मन इन्द्रिय ओर ज्ञेय विषय के साथ सम्पन्न होते है।[२८८] जबकि साख्य मत में जब प्रथम विकास अवस्था आती है तो एकमात्र बुद्धि (महत) ही होती है अन्य कुछ नही।[२८९] अत यहाॅ महत (बुद्धि) प्रकृति को विश्वीय रूप मे ग्रहण करता है जो विषय–विषयी का आधार है। यह अवधारणा विश्वात्मा के अनुरूप होगी जो साख्य को मान्य नही है। जबकि बुद्धि (महत्) प्रकृति के उत्पन्न पदार्थ तथा अहकार की उत्पादिका के रूप मे उस बुद्धि से भिन्न है जो इन्द्रियो मन तथा अहकार की क्रियाओ पर नियन्त्रण करती है। यदि महत और बुद्धि को एक मान लिया जाये तो सम्पूर्ण सृष्टि विषयनिष्ठ होगी जबकि अहम् और अनह दोनो की बुद्धि से उत्पन्न होते है।[२९०] विकास क्रम मे बुद्धि के बाद उत्पन्न होने वाला पदार्थ अहकार है यहाॅ पर भी विश्व सबधी और मनोवैज्ञानिक पक्षो मे भेद है। मनौवैज्ञानिक दृष्टि से अहम् का भाव अनह (विषय) के बिना असभव है। अत एक विश्वात्मक अहकार की सभ्वाना को स्वीकार करना पडेगा जिसमें से व्यक्ति रूप विषय और विषयी उत्पन्न होते है। अहकार को भौतिक सामग्री के रूप मे द्रव्य माना गया है क्योंकि यह अन्य द्रव्यो का उपादान कारण है। आचार्य भिक्षु के आनुसार तत्त्वो तथा अन्य सबकी रचना के पूर्व आभिमान का अस्तित्व है और इस प्रकार इसे सृष्टि का कारण कहा गया है। जहाॅ बुद्धि अपने व्यापार म ज्ञान विषयक है वहा अहकार क्रियात्मक है। अहकार वह नही है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का रूप देता है क्योकि साख्य के अनुसार व्यक्तित्व पहले ही विघमान रहता है बल्कि बाह्य जगत से जो सस्कार आते है अहकार उन्हें व्यक्तितव प्रदान करता है।[२९१]

विश्व सबधी योजना का निर्माण मानवीय आत्मा के सादृश्य पर किया जाता है। क्योकि मनुष्य विश्व का एक सक्षिप्त रूप है जहाॅ एक छोटे पैमाने पर यथार्थ सत्ता सभी घटक अव्ययो

को दोहराया जाता है। साख्य की विकास की पूरी योजना व्यक्ति के मनौवेज्ञानिक अनुभव के आधार पर इसकी स्थित है।[२६२] साख्य की भॉति कठोपनिषद्[२६३] मे भी प्रकृति व महत के प्रभाग उत्पत्ति के समान है अव्यक्त से महान आत्मा के विकास की बात का उल्लेख हे। महत प्रकृति है जो चैतन्य से प्रकाशित होता है उपनिषदों मे इसे विश्वात्मा (हिरण्यगर्भ/ब्रह्मा) माना गया हे। इस प्रकार प्रकृति से महत की उत्पत्ति वेदान्तीय अवधारणा की स्वकृति है। जहॉ सर्वोपरि ब्रह्म का रवरूप विशुद्ध चैतन्य जैसा कि साख्य के पुरुष का है वही प्रकृति का चैतन्य शून्यता है आर जब दोनो पररपर मिलते है तो विषय–विषयी का भाव आता हे यही महत है। जैसे ही विषयी (प्रमाता) अपने को विषय (प्रमेय) से विरोध स्वभाव का पाता है उसमे अहभाव उत्पन्न होता है।[२६४] इस प्रकार अहभाव का विाचार सृष्टि रचना के पूर्व आता है मै अनेक हो जाऊँगा मै प्रजनन करूँगा [२६५] यहॉ साख्य की समस्या यह है कि एक मनोवेज्ञानिक दृष्टि को तत्त्व ज्ञान सबधी कथन से मिला देता है। इस प्रकार साख्य अपने पूर्व कल्पित धारणाओ को उपनिषदीय विचारो से मिला देता है। जो तात्विक रूप से इसके लिए विजातीय है।

प्रकृति और पुरुष के सबध से जो महत् तत्त्व उत्पन्न होता है वह जीव नही है। क्योकि यह महत् ही प्रकृति को निरन्तर क्रियाशील रहने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है चाहे सभी जीवो को मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। क्योकि जैसे ही निरपेक्ष आत्मा अर्थात पुरुष को विषय का ज्ञान होता है वह विषयो (प्रमेयो) पर कार्य करने से सर्वोच्य विषयी जिसे महत कहा गया है हो जाता है।[२६६] रवय आचार्य भिक्षु ने प्रकृति जो परिवर्तित होती है को अविद्या और पुरुष जो सभी प्रकार के परिवर्तनो से उन्मुक्त है को विद्या माना है।[२६७] साख्य इस बात को मानती है कि प्रकृति किसी भी रूप मे विषयी निष्ठ या अयथार्थ नही क्योकि एक अयथार्थ सत्ता यथार्थ बन्धन का कारण नही हो सकती है।[२६८] प्रकृति पुरुष के प्रति निषेधात्मक है। इस प्रकार पुरुष रूप आत्मा का प्रकृति अनात्मकरूप है। पुरुष का प्रकृति को देखना इस बात का प्रमाण हे कि पुरुष प्रकृति को अस्तित्व को स्वीकार करती है।[२६९] दूसरे शब्दों मे पुरुष की यह रवीकृति ही प्रकृति को अस्तित्व प्रदान करती है। आचार्य भिक्षु भी सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि आत्मा अर्थात पुरुष को स्वीकार करते है और महत् तत्त्व उसके साथ उपधि के रूप मे था।[३००] ऐसा ईश्वर–महत् प्रारभिक एकतत्व है। जिसमे दो भिन्न–भिन्न प्रवृतिया एक दूसरे मे समाहित होकर

एक हो गई है। इसी प्रकार वेदान्त पुराणादि श्रुतिया भी प्रकृति को सर्वोच्च आत्म रात्ता पर निर्भर मानती है।[301] यही धारणा एक सगतपूर्ण साख्य दर्शन का आधार है।

यदि प्रकृति स्वेच्छया क्रियाशील होती तो मोक्ष कभी भी सभव नही होता इसी प्रकार यदि प्रकृति रवेच्छा से निष्क्रिय होती है तो ऐहलौकिक जीवन का प्रवाह चलता ही नही। साख्य इस बात को रवीकार करता है। कि जड प्रकृति की क्रियाशीलता इस बात की और सकेत करती है कि गति का कारण कोई और है रवय गतिमान नही है किंतु प्रकृति की गति का कारण है। प्रकृति का विकास इस विषय का उपलक्षण है कि कोई अन्य मूलकर्ता है किंतु मूलकर्ता के रूप मे साख्य जिस पुरुष को रवीकार करती है वह प्रकृति पर सीधे–सीधे कोई प्रभाव उत्पन्न करने मे असमर्थ है। साख्य के अनुसार पुरुष की उपस्थित मात्र ही प्रकृति की क्रियाशीलता ओर विकास के लिए प्रेरित करती है। यद्यापि पुरुष मे रचनात्मक शाक्ति से अनेक रूप विश्व को उत्पन्न करती है।[302] स्पष्ट है कि विचार शून्य प्रकृति पुरुष द्वारा मार्गदर्शन पाकर ही जगत का निर्माण करती है। साख्य कारिका मे प्रकृति और पुरुष के सबध को स्पष्ट करने के लिए अन्धे ओर लगडे का जो उदाहरण दिया गया है उसकी व्याख्या करते हुए गौडपादचार्य कहते है कि जिस प्रकार एक लगडे और एक अधे ने जो जगल से गुजरते समय डाकुओ के आक्रमण से अपने राहयोगियो, से बिछुड़ गये थे आपस मे बातचीत करते हुए एक दूसरे का विश्वास प्राप्त कर लेते है। वे अपनी सामर्थ्यानुसार अपने कार्यो का बटवारा कर लेते है जिसके अनुसार लगडा व्यक्ति अधे व्यक्ति के कधो पर सवार होगा और लगडे व्यक्ति द्वारा बताये मार्ग पर अधा व्यक्ति चलकर दोनो अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँचकर अलग–अलग हो जाते है ठीक इसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष चल नही सकता लेकिन चैतन्य होने के कारण वह देख सकता है और सक्रिय प्रकृति चल अर्थात गति तो कर सकता है लेकिन जड होने के कारण देख नही सकती। अत लगडा रूप पुरुष और अधा रूप प्रकृति है। यहॉ पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराकर प्रकृति कार्य करना समाप्त कर देती है और पुरुष भी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार उनके अपने अपने प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उपका पररपर सबध समाप्त हो जाता है।[303]

एक तरफ साख्य द्वारा प्रकृनि और पुरुष के द्वैतभाव को मान लेने के कारण मनुष्य के

चेतन्य का उनके रवभाव के अन्य तत्त्वो से विभाग मानना पडता है वही दूसरी तरफ साख्य अपनी धारणा के बिल्कुल विपरीत मनुष्य स्वभाव के एकत्व को मानकर ज्ञान–जीवन आर नैतिकता को बुद्धिगम्म स्वीकार करती है। यदि बुद्धि अनात्मिक और जड होती तो चतन्य को प्रतिबिम्बित नही करती क्योकि दो विपरीत रवभाव की वरतुए पररपर प्रतिबिम्ब के रूप मे कार्य नही कर सकती। पुरुष को बुद्धि की अवस्थाओ का अनुभव नही होता है क्योंकि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिब यथार्थ नही है। साख्य के अनुसार पुरुष का बुद्धि के साथ सबन्ध सहयोगात्मक है प्रतिरपर्धात्मक नही। क्योकि पुरुष प्रकृति के सबध का केन्द्र बुद्धि मे है जो विभिन्न विषयो और स्तरो पर भेद और समवय करती है तथा अहकार की सहायता से विचार इन्द्रिय ओर कार्य सबध ी क्रियाआ क साथ तादात्म्य स्थापित करती है। जब बुद्धि को यथार्थ का ज्ञान हो जाता हे कि तादात्म्य एक भूल है और जो कुछ दृश्य है वह मात्र गुणो की विक्षुब्धता है तो बुद्धि भी विरत हो जाती है। पुरुष का सयोग टूट जाने पर प्रकृति भी पुरुष मे प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य खो देती है। इस प्रकार बुद्धि का कार्य पुरुष के लिए सहयोगात्मक ही रहता है।[३०४]

पुरुष और प्रकृति के सबध का कारण अविवेक को माना गया है अत यह एक प्रकार का मिथ्या सबध है। लेकिन ऐसी दो स्वतत्र सत्ताए जो पररपर बिल्कुल विरोधी स्वभाव की हे एक दूसरे से कैसे सम्बद्ध हो जाती है विचार कर पाना कठिन है। वारतव मे प्रकृति और पुरुष की ऐसी पाररपारिक अनुकूलता आश्चर्यजनक है। यदि तर्कत विचार करे तो चेतनापूर्ण पुरुष ओर अचेतन प्रकृति एक ही विकास की स्थितिया है। यह जीव ही है जो मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है। इस सीमित चैतन्य के आधार पर ही एक अनन्त चैतन्य की पूर्व कल्पना होती है जो प्रकृति के बन्धन से सीमित है। लेकिन सीमित आत्मा रूप जीव अपनी अन्तर्निहित अनन्त चैतन्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह इस बधन से मुक्त हो जाता है। साख्य मे यर्थाथता की प्रक्रिया का जो उपादान तत्त्व भी यत्र रचना और आत्मा के स्वातत्र्य की दो ग्रथियो मे विभाजन करता है, वास्तव मे ये यथार्थ ऐतिहासिक नही अपितु भावनात्मक है। जिसरो रपष्ट होता है कि आनुभाविक जगत मे दो भिन्न–भिन्न प्रवृतिया है जो पररपर इस प्रकार सबधित है कि उन्हे अलग–अलग नही किया जा सकता। पुरुष ओर प्रकृति समस्त अनुभव के दो पहलू है। वास्तव मे ये दोनो अर्थात् चैतन्य और जडता एक ही पारिणमन अर्थात् सत्ता के दो पहलू है। यथार्थ

सत्ता न तो केवल पुरुष है और न ही केवल प्रकृति। ये अभौतिक रूप ओर रूपहीन प्रकृति होने से अस्तित्वविहिन है क्योकि जो अस्तित्वान होते है उनके नाम और रूप होते है। सबसे प्रथम आरितत्वान सत्ता महत है जो तब पैदा होती है जब पुरुष प्रकृति को सूचित करता है। अत यह विशुद्ध प्रकृति नही अपितु रूपधारिणी प्रकृति है। महत निर्विकल्प प्रकृति की सविकल्प अभिव्यक्ति है जिरामे पुरुष का भी सहयोग है। यदि हम सृष्टि प्रक्रिया के उद्भव के पीछे तक जाकर विचार करे तो रपष्ट होगा कि उच्चतम बिन्दु पर एक ऐसा पूर्ण चैतन्य स्वरूप सत्ता है जिसमे सभी वस्तुओ को सम्भाव्यता निहित है। वस्तुत सभी वस्तुए पुरुष•और प्रकृति को सयुक्त करती ह और पुरुष को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने के सघर्ष करती है यह सघर्ष ही जगत की विकास प्रक्रिया है।[३०५]

साख्य के अनुसार आनुभविक जगत की दोनों जड और चेतन (विषय और विषयी) एक दूसरे पर प्राधान्य प्राप्त करने के लिए सघर्ष करती है जो अपने तार्किक आधार के रूप मे किसी अन्य तत्त्व की ओर सकेत करती है। इस प्रकार सघर्षशील जगत मे एक ओर पुरुष अर्थात विषयी और दूसरी ओर प्रकृति अर्थात् विषय है नित्य एक दूसरे के विपरीत है। लेकिन यह धारणा न तो आनुभाविक तथ्यो के अनुकूल है और न ही साख्य के सिद्धातो के अनुकूल है। यदि महत रूप विश्वीय आत्मा व्यक्तिरूप विषमियो (अहकार) के अनेकत्व और व्यक्तिरूप विषयो (तन्मात्रओ) के अनेकत्व को उत्पन्न करता है तथा यदि सभी विषयो को एक प्रकृति मे समाहित कर दिया जाता है तो सभी विषयियो को एक सार्वभौम पुरुष मे समाहित क्यो नही कर सकते अर्थात् पुरुष—बहुत्व की धारणा असगत है। पुन यदि पुरुष और प्रकृति को एक दूसरे से रवतत्र ओर निरपेक्ष माना जाये तो दर्शनशास्त्र की समस्या का समाधान असभव है। अन्यथा यह कहने के कोई हानि नही है कि ये परस्पर विरोधी तत्व एक ही पूर्ण इकाई मे अन्तर्निविष्ट है जो इनसे परे है। साख्य मे पुरुष जीव के साथ मिश्रित नही है जो वस्तुओ के विभाग से विभक्त नही है। विश्वीय अभिव्यक्ति के तनाव और सधर्ष से प्रभावित नही है जो समरत सृष्टि के अन्दर ओर इन सबसे बाहर और ऊपर है इस प्रकार साख्य एक विशुद्व और पूर्ण चैतन्य की सत्ता की उपस्थिति का स्वीकार करता है। जिसे एक महान निरपेक्ष आत्मा कह सकते है।[३०६]

प्रश्न उठता हैकि सृष्टि अर्थात प्रकृति पुरुष का सबध क्या ? इसे प्रथम सूत्र[३०७] मे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वरूपत मुक्त पुरुष के मोक्ष के लिए ही यह सबध और सृष्टि होती है। इस प्रकार यह सृष्टि परार्थ होती है। लेकिन पुन प्रश्न उठता है कि जो स्वत स्वाभावत मुक्त है उसका मोक्ष कैसे? पुरुष तो निगुर्ण एव अपरिणामी है और दुख पारिणाम है प्रकृति क रजस गुण का। वास्तव मे दु ख पुरुष मे न होकर प्रकृति और उसकी सन्तति बुद्धि मे होती हैं तथा प्रकृति के कार्य बुद्धि के सानिध्य से उसमे स्थित दु ख का अज्ञान या भ्रम के कारण अपने मे आरोप कर लेने से पुरुष मे दु ख की प्रतीत होती है।[३०८] इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से दुख रजोगुण का परिणाम होने से भले ही प्रकृति का हो परन्तु सामान्य या व्यावाहारिक दृष्टि से वह उसी का होगा जिसे उसकी अनुभूति होगी अथवा जो उसे भोगता है और अनुभव अथवा भोक्ता होना तो चेतना का ही धर्म है अचेतन का नही। अत जब दु खभोग चेतना का धर्म हं तो उससे मुक्ति अर्थात मोक्ष भी चेतन का ही धर्म होगा। इसी कारण से सृष्टि परार्थ ही कही गई है।[३०९] इक्कीसवी कारिका मे सृष्टि का प्रयोजन एव उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रकृति और पुरुष का पारस्पारिक सयोग वर्णित है। पूर्वोद्धृत कारिकाओ से इस कारिका मे यह विषेशता है कि जहॉ पूर्व उद्धृत कारिकाओ मे पुरुषार्थ–सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का सयोग और उस सयोग के द्वारा सृष्टि मानी गयी है। वही इस कारिका मे प्रकृति और पुरुष दोनों की अर्थ–सिद्धि के लिए सृष्टि को स्वीकार किया गया है। इस सबध मे प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मिश्र[३१०] पारस्पारिक स्वार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रधानस्य दर्शनार्थम् प्रकृति की पुरुष विषयक और पुरुषस्य कैवल्यार्थम पुरुष की प्रकृति विषयक अपेक्षा को स्वीकार करती है। कैवल्य के लिए अपेक्षित सत्व–पुरुषान्यताख्यति अर्थात प्रकृति पुरुष विवेकज्ञान के लिए प्रकृति की अपेक्षा इसीलिए स्वीकृत है क्योकि यह विवेकज्ञान बुद्धि का ही एक विशेष प्रकार का परिणाम है।[३११] और यह बुद्धि भी स्वय प्रकृति का परिणाम है अत प्रकृति का ही पारिणामभूत विवेकज्ञान उसके अभाव मे सर्वथा असभव है।

प्रयोजन के सबध मे उद्धृत कारिकाओ मे परस्पर विरोध दिखाई देता है क्योंकि सृष्टि के उपक्रम मे आई हुई कारिकाओं मे प्रकृति के दर्शनार्थ और पुरुष के कैवल्यार्थ सृष्टि की बात कही गई है। जबकि सृष्टि के उपसहार के रूप मे आयी हुई कारिकाओं मे पुरुष के भोग और

मोक्ष के लिए सृष्टि कही गयी है। लेकिन यहाँ वास्तविक विरोध नही है भोग वस्तुत एक ही जो भोग्य प्रकृति और भोक्ता पुरुष दोनो के बिना असभव है। यहा भोग पुरुष का ही स्वार्थ है क्योकि प्रकृति के गुणों द्वारा पूर्वजन्मो मैं किये गये और अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ अपना तादात्म्या ऐक्यरूप ग्रहण करने के कारण अपना समझकर समस्त प्रारब्ध कर्मों का दु खत्रय रूप फल भोगते हुए ही पुरुष को उससे मुक्ति पाने की इच्छा होती है[३१२] अन्यथा नही। मोक्ष और भोग दोनों ही पुरुष के ही रवार्थ है प्रकृति के नही। इस प्रकार पुरुष के हित सम्पादन हेतु प्रकृति पुरुष के सयोग से सृष्टि करती है। अर्थात दोनो का प्रयोजन समान या एक ही हे। लेकिन यहा शका उठती है कि परमार्थत पुरुष का कोई प्रयोजन नही हो सकता क्योकि वह स्वभवत निर्बन्ध और नित्य मुक्त है। इसी प्रकार प्रकृति का भी प्रयोजन नही सकता क्योंकि वह अचेतन है। साख्य दर्शन मे प्रकृति पुरुष के अधीन नही है। यदि पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता या नियामक माना जाता तो यह सम्भव था कि पुरुष अपने अधीन प्रकृति का अपने प्रयोजन की सिद्धि हेतु प्रयोग करता हे। चूँकि प्रकृति अचेतन है अत वह स्वय पुरुष का प्रयोजन समझकर उपकार भाव से उसकी सिद्धि के लिए प्रवृत नही हो सकती। यहाँ आचार्य ईश्वरकृष्ण का मत सगतपूर्ण नही है कि गुणवती उपकारिणी प्रकृति निगुर्ण अनुपकारी पुरुष के भोग–मोक्ष के सम्पादनार्थ ही सृष्टि मे प्रवृत होती है।[३१३]

रपष्ट है कि साख्यकारिका परमार्थत निर्बन्ध और नित्य मुक्त पुरुष के प्रयोजन की बात नही करता सृष्टि के प्रयोजन का तात्पर्य यह है कि पुरुष को जीवनगत अर्थात बद्धावस्था के लिए ही प्रयोजन की बात कही गई है जो उचित भी है। प्रकृति के साथ उसका अपना तादात्मय–ग्रहण अनादि अज्ञान अर्थात अविवेक के कारण होता है। दूसरे शब्दो मे विविध कर्म तथा उनके दु खादि फल का भोग वस्तुत तो है प्रकृति के परिणाम[३१४] पर प्रतीत दोनो की ही होती है। पुरुष को पुरुष का त्रिविध दु ख के साथ अभिघात या अभिसबध कहकर उससे मुक्ति पाने के लिए उसके निवतर्क हेतु की बात की गई है।[३१५] यह निर्वतक हेतु विवेक ज्ञान के सतत अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वज्ञान है जो पुरुष के स्वरूप से अभिन्न नित्यज्ञान है।[३१६] पुरूष इस पारमार्थिक स्वरूप के आधार पर ही उसे ससारण अर्थात जन्म–मरण रूप बधन एव मोक्ष से भी परे माना गया है।[३१७]

साख्य कारिका मे पाररपारिक सयोग से पुरुष के कर्त्ता ओर प्रकृति के चैतन्य होने की बात स्वीकार की गई है।[३१८] किंतु प्रश्न उठता है कि सृष्टि के पूर्व प्रकृति सूक्ष्तम गुणों की समस्या मे रहती है और पुरुष अपने शद्ध चिन्मात्र रूप मे हो तो फिर इन दोनों मे सभोग किस प्रकार होता है? कारिका मे न तो इस पर स्पष्ट विवेचन हे और न ही इसे सर्वविदित उदाहरणो द्वारा रपष्ट किया गया है। साख्य सूत्र मे कुसुम और रवच्छ रफाटिक इत्यादि दृष्टात इस सबध मे कुछ विशेष उपयोगी नही सिद्ध होते क्योंकि उक्त उदाहरण प्रत्यक्ष जगत के है। जबकि सृष्टि के प्रारम्भ के पूर्व प्रकृति ओर पुरुष सूक्ष्मातिसूक्षम पदार्थ है।[३१६] इसी प्रकार प्रकृति एव पुरुष मे स्थूलता का सर्वथा अभाव होने से दोनो के पारस्परिक सयोग और उससे उत्पन्न माना गया । पारस्पारिक प्रतिबिब के अभाव मे बीसवी कारिका मे उद्धत कथन सभव नही प्रतीत होता। भोगादि के लिए अपेक्षित सृष्टि के कारण–भूत उक्त सयोग का कारण योगदर्शन और आचार्य पचशिख अनादि अविद्या[३२०] को मानते है। सयोग की कारण भूता अविद्या यद्यपि अनादि है लेकिन नित्य नही अपितु सगत है। इसका कारण है कि प्रकृति और पुरुष के बच यह कोई रवाभाविक अविच्छेद सबध नही है अपितु सूक्ष्म वैचारिक सबध है। इस प्रकार यहा प्रकृति–पुरुप के सबध की दार्शनिक व्याख्या की जाती है तात्रिक नही। जैसा कि साख्यदार्शनिकों की मान्यता है कि जो ही साधक अपने तथा प्रकृति के वास्तविक रूपो का भेद–पार्थक्य जान लेगा त्यो ही इस सयोग का अत हो जायगा। सयोग का अत होते ही कर्तृत्वाभिमान जो पूर्व अविवेक कृत पाररपारिक सबध के कारण होता था नष्ट हो जायगा। तत्पश्चात् सारे सचित और क्रीयमाण कार्य विवेचन ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते है और साधक वास्तविक कैवल्य का अनुगान करता है।[३२१]

साख्यकारिका[३२२] प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के निमित्त होती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि यह कैसा पुरुष होगा तो वास्तव मे यह बद्ध पुरुष अर्थात् जीव ही होगा जो सृष्टि का परिणाम है। तब ऐसा बद्ध पुरुष प्रकृति के सयोग का आधार और निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य रूप कैसे हो सकता है तथा स्वय प्रकृति जड होने के कारण सयोग का आधार नही हो सकती। फिर कैवल्य की जो ज्ञान–साधन रूप है[३२३] वह निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य रूप पुरुष की ओर सकेत करता है जो साख्यकारिका मे अद्वैत की अरपष्ट अनुभूति कराती है।

इस प्रकार द्वैतवादी साख्य अद्वैतवादी आदर्श की सत्यता को नही छू पाता केवल बोध के उस स्तर पर ही सतुष्ट हो जाता है जो सत ओर असत् के भेद को महत्व देता है। दोनो क विरोध को यथार्थ तथा दोनो के तादात्म्य को अयथार्थ स्वीकार करता है। वास्तव मे साख्य की धारणा जो मनुष्य के मानसिक अनुभव की आवश्यकाता की कुछ पूर्ति करती है एक ऐसा दार्शनिक मत है जो अधिकतर तत्त्वविज्ञान विषयक प्रवृतियो के साचे के प्रभाव से प्राप्त हुआ है न कि वस्तुओ के अस्तित्व सबधी अवलोकन से उत्पन्न वैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा पाया जाता हे। किन्तु साख्य का दार्शनिक सिद्धान्त जो प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद तथा अनन्त पुरुषो के अनेकत्व को मानते है। प्रत्येक पुरुष असीमित है फिर भी वे अन्यो की असीमितता का व्याघात नही करते और उनसे बाह्य और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है जो दार्शनिक समस्या का सतोषप्रद समाधान नही देता। वास्तव मे द्वैतवादपरक यथार्थवाद मिथ्या तत्त्वविज्ञान (तत्त्वमीमासा) का परिणाम है।

पाद टिप्पणी

१ – पाण्डेय डा० राम शरण, महाभारत और पुराणो मे साख्यदर्शन पृ०– ३१

२ – साख्यकारिका पृ०– १५ व १७ योगसूत्र – २/१८ २० व २३ तथा ४/३३

३ – तमो वा इदमग्र आसीदेकम् – ५/२ मैत्रायणी उपनिषद्।। तम आसीत तमसा गूढमग्रे – १०/१२९/३ ऋग्वेद।।

४ – साख्यकारिका – ११

५ – मूल प्रकृति प्रधान मूलभूतत्वात्।। माठरवृत्ति का०न० ३ पृ० – २४

६ – साख्यसूत्र – १/६७

७ – सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति – १/६१ साख्यसूत्र

८ – माठरवृत्ति – ८

६ – साख्यतत्त्वकौमुदी – १३

१०– गौडपाद भाष्य – १३ पृ० – ३६

११– साख्यकारिका – १३

१२– साख्यकारिका – १२

१३ - अव्यक्त त्रिगुणाल्लिगात् – १/१३६ साख्यसूत्र

१४– ब्रह्मसूत्र भाष्य – १/१

१५– साख्यकारिका – १५ और १६ साख्यसूत्र – १/१७४

१६– निरवयवमूर्तत्वात – माठरवृत्ति

१७– दासगुप्ता पृ०– १५६ से १५७

१८– साख्यकारिका – ५६ और ६१

१६– साख्यकारिका – ६

२०– साख्यसूत्र – ६/३६।। सत्वरजस्तम इति एषैव प्रकृति सदा एषैव ससृतिर्जन्तोरस्या परि पर पद –साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ३३

२१– साख्यसूत्र १/६२ ।। सत्वादीगुणाना प्रकृतिधर्मत्व नास्ति प्रकृतिस्वरूपत्वादित्यर्थ – साख्य प्रवचन भाष्य, पृ० – ६३।। सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम ।।१६–गौडपाद भाष्य।।

२२– साख्यकारिका – १२ व १३ तत्त्ववैशारदी – २/१८वें सूत्र व्यासभाष्य पर साख्य प्रवचन भाष्य –१/१२७ से १२८

२३– अव्यक्त याहु प्रकृति परा प्रकृति वादिन – १२/३०५/२३ और १२/२१० व २११ ।।महाभारत।।

२४– साध्यर्म्य वैधर्म्य कृत सयोगोऽनदिमास्तयो – वायुपुराण ४/१०२/३४ ब्रह्मपुराण – ४/१२/३१

२५– Positive sciences of Hindus, pp- 4 to 7

२६– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-262

२७– Samkhya system,pp-28

२८– साख्य प्रवचन भाष्य

२६– History offIndian Philosophy, Pt-I, pp- 243 to 244

३०– भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० – २७२ की पाद टिप्पणी

३१– गीता रहस्य पृ० – १६८

३२– इवोल्यूशन ऑव साख्य पृ० –१६ से २०

३३– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-262 & 26७

३४– प्रकृते स्त्रिगुणायास्तु एते प्रधानस्य गुणास्त्रय सत्त्व रजस्तमश्चैव व गुणानेतान प्रचक्षते त्रिस्त्र प्रकृतया

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी वेव सत्व रजस्तमश्चैव त्रयोगुणा

३५– महाभारत – १२/२१२/४३ से ४५, १४/३६/३६ १४/३८/१५ नरो हि वेद गुणानिमान्सदा स तामसे

राजसै सर्वगुणै प्रमुच्यते नरस्तु यो वेद गुणानिमान्सदा गुणान्स मुक्ते न गुणै स युज्यते

३६– भगवद्गीता – ५/१० से १२

३७– देवी भागवत – ६/३०३१

३८– महाभारत – १२/३०६

३९– गीता रहस्य पृ० – १८८ छान्दोग्य उप० – ६/३४ श्वेताश्वर उप० – १/४

४०– साख्यकारिका – १०

४१– महान्त च समावृत्य प्रधान समवस्थितम् अनन्तस्य न तस्यान्त सख्यान चापि न विद्यते– विष्णु पुराण

४२– साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ६३

४३– अत्रोच्यते परिच्छिन्नत्वमत्र दैशिका भावप्रतियोगिताक्येदकावच्छिन्नत्वम –साख्य प्रवचन भाष्य पृ० –४३

४४– सत्त्वादि त्रयमपि व्यक्तिभेदादनन्तम् – साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ६३

४५– साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – २८

४६– श्रीवास्तव डा० सुरेशचन्द्र आचार्य भिक्षु और उनका भारतीय दर्शन मे स्थान पृ० – २२५

४७– गीता रहस्य पृ० – १७४ इण्डियन फिलासफीकल रिव्यू, भाग–३ पृ० –३०० से आगे

४८– साख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ० – १४० से १४२

४९– History offIndian Philosophy, Pt-I, pp- 28 to 29The nature of mind & its activities,

C N I, Pt-III, pp-507 to 509

५०– साख्यकारिका – २३ व ३७

५१– तत्त्वकौमुदी युक्तिदीपिका योगभाष्य

५२– Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 241 to 243

५३– Radhakrishanan, Indian Philosophy Pt-II, pp-271

५४– साख्यसूत्र – ३/२० व २२

५५– योगभाष्य तत्ववेशारदी ३/५२सूत्र पर

५६– Relationship between Body and Mind, Pt-II, pp -64 to 65

५७– Evolution of Samkhya system of thought, pp -39 & 40

५८– साख्यकारिका – ३८

५९– युक्तिदीपिका – १४१

६०– साख्यकारिका – ३२

६१– माठरवृत्ति – पृ० – ४६

६२– जयमगला पृ० – ३६

६३– साख्यकारिका – ३६

६४– युक्तिदीपिका पृ० – १४३

६५– मठारवृत्ति पृ० – २६६

६६– युक्तिदीपिका पृ० – ७६

६७– जयमगला पृ० – १२१ व २२

६८– मठारवृत्ति पृ० – २७

६९– जयमगला पृ० – २२ व २३

७०– युक्तिदीपिका पृ० –८२ व ८६

७१– कारणभावात् कार्यस्य कारणात्यकत्वात्। नहि कारणभ्दिन्न कार्य कारण च सदिति कथ तदभिन कार्यमसद् भवेत ? – साख्यतत्त्वकौमुदी– ९वीं कारिका पर

७२– तथाहि बुदध्यादय उपत्तमुपात्त देह त्यजन्ति देहान्तर चोपाददते इति तेषा परिस्पन्द – आचार्य मिश्र सक्रिप्रवेशादिक्रियावत् बुद्ध्यादयो ह्येक देह व्यक्त्वा देहान्तर प्रविशन्ति – नारायण तीर्थ

७३– योगभाष्य – २/१९

७४– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६१

७५– साख्यकारिका – ८

७६– योगभाष्य – ४/१३

७७– सञ्ज्ञामात्रम् – ।।१/६८ साख्य प्रवचन भाष्य ।।

७८– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६१ योगभाष्य – २/१८

७६– साख्य प्रवचन भाष्य – १/१२७ व १२८

८०– त्रिगुणात्मक ।।१३ साख्यकारिका।।

८१– राधाकृष्णन् इडियन फिलासफी खण्ड २ पृ० २६१ २६२

८२– विषमत्व ।।५/२ मैत्रायणी उपनिषाद्।।

८३– साख्यसूत्र वृत्तिसार – १/६१ और ६/३६ योगवार्तिका – २/१८

८४– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-330

८५– साख्यकारिका – ६

८६– शाक्तिमदिति शक्तम्

८७– नहि कारणदभिन्न कार्य कारण च सदिति कथ तदभिन्न चा कार्यमसद् भवेतु – साख्य तत्त्व कौमुदी।

८८– माडूक्य कारिका – ४/११

८६– माडूक्यकारिका भाष्य – २/७

६०– जगत्सत्यतव मदुष्ट कारण जन्मत्वाद् बाघ काथावात६/५२ साख्यसूत्र

६१– पुरुष ।।३ तत्त्वसमास।।

६२– साख्यकारिका – १६

६३– साख्यकारिका – १८

६४– साख्यकारिका – २०

६५– साख्यकारिका – ६

६६– अनिरुद्धवृत्ति साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ६६ (६/१ सूत्र पर)

६७– स्वानुभूत्येक मानाय नमश्चिन्मात्ररूपिणे – १ नीतिशतक

६८– कैगिटो अर्गो सम – देकार्ट

६६– साख्यसार उत्तर भाग प्रथम परिच्छेद साख्य प्रवचन भाष्य, पृ० – ६१

१००– साख्य तत्त्व कौमुदी पृ० – ११८

१०१– श्रीवास्तव, डा० एस० सी०, आचार्य भिक्षु और भारतीय दर्शन मे उनका स्थान पृ० – १४६ से १५०

१०२– साख्यसूत्र – १/४५ अनिरुद्धवृत्ति और इसकी टीका पृ० – ८२

१०३– विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धो भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे यथा चन्दमसोऽभ्यसि –षडदर्शन समुच्चय

१०४– पुरुषोऽविकृत्मत्मैव स्वनिमीसमचेतनम। मन करोति सान्निध्यादुपाग्नि स्फटिक तथा –षडदर्शनसमुच्चय

१०५– साख्यकारिका – २७

१०६– अनिरुद्धवृत्ति साख्यसूत्र – १/६७ से ६६

१०७– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६६

१०८– साख्य प्रवचन भाष्य – १/८७

१०६– योगभाष्य – १/७

११०– साख्य तत्त्व कौमुदी – ५वी कारिका पर

१११– अनिरुद्धवृत्ति – १/६८

११२– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६६

११३– असन्निकृष्ट प्रमातर्यवारुढोऽनधिगत् इति यावत चक्षुरादिषु तु प्रमाण व्यवहार परम्परैव सर्वथेति भाव – प्रारम्भ मे साख्य प्रवचन भाष्य

११४– साख्यसूत्र– पुरुषैकव्य साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७४

११५– तत्त्वसमास – ३

११६– महाभारत – १२/३०१ और १२/३१५/११

११७– ब्रह्मपुराण – २३६ अव्यक्तैत्वभित्याहु नानात्व पुरुषस्तया – १२/३१५/११ शातिपर्व

११८– साख्यकारिका – २८

११६– सुवर्णसप्तति शास्त्र भूमिका पृ० – १२ और १६

१२०– गौडपादभाष्य यूक्तिदीपिका साख्य तत्त्व कौमुदी और माठरवृत्ति (१०वीं व ११वीं कारिका पर)

१२१– साख्यकारिका – ४२

१२२– साख्यकारिका – ५७, साख्यसूत्र – ६/४४

१२३– साख्यकारिका – १७ साख्यसूत्र – १/१४२

१२४– गौडपादभाष्य – १७वीं कारिका पर विद्वतोषणी पृ० – २२७ व २२८

१२५– साख्यकारिका – ६

१२६– भोजवृत्ति – योगसूत्र ४/३३ पर

१२७– साख्यसूत्र – १/६६ व ६६

१२८– साख्यकारिका – २०

१२६– स्वामी डा० किशोरदास भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमासा पृ० – ११० व १११

१३०– साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७१

१३१– परिणामरूप धर्माणमेव पुरुष प्रतिषेधस्योक्तत्वात – साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७३

१३२– साख्यकारिका – १८

१३३– साख्य तत्त्व कौमुदी – १८वीं कारिका पर

१३४– जयमगला १८ वीं कारिका पर पृ० – २५

१३५– युक्तिदीपिका – १८वी कारिका पर पृ० – ६८

१३६– साख्यकारिका – ६३

१३७– वस्तुस्थिता न बन्धोडास्ति तद्भावान्न मुक्तता विकल्पघटितावुभावपि न किचन – साख्यसूत्र

१३८– साख्यकारिका– ६२व६८ साख्यसूत्र– ३/६५ ७१से७३ योगसूत्र– १/३ २/२५ ३/५०व५५ ४/३३

१३६– महाभारत – १३/१४१ /६०

१४०– साख्यसूत्र – ३/२० व २१ और ५/१२६

१४१– साख्यसूत्र – २/२६

१४२– साख्यसूत्र – ६/१ व २

१४३– साख्यसूत्र – १/१४६ साख्य प्रवचन भाष्य – १/७५ योगसूत्र – ४/१८

१४४– साख्य प्रवचन भाष्य – १/१४८

१४५– अनिरुद्धवृत्ति – ६/५६

१४६– साख्यकारिका १६, हरिभद्र षडदर्शनसमुच्चय ४१ पर मणिभद्र का मत – अमूर्तश्चेतनो योगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय अकर्ता निगुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शन ।

१४७– प्रकृते कार्यनित्यैक नित्यैका प्रकृतिर्जडा। प्रकृतेस्त्रिगुणावेशादुदासीनाऽपिकर्त्तृवत।।६ सर्वसिद्धान्तसारसग्रह।

१४८– साख्यसूत्र – ६/४५ और १/१४६ व १५०

१४६– साख्यसूत्र – ५/६१

१५०– साख्य प्रवचन भाष्य – ६/६३

१५१– साख्य प्रवचन भाष्य – २/४६

१५२– साख्यसूत्र – १/६६

१५३– साख्यकारिका –२० व २२ साख्यसूत्र – १/१६२ व १६३ योगसूत्र – २/१७

१५४– साख्य प्रवचन भाष्य – १/१७

१५५– साख्यसूत्र – १/१०५ से १०७

१५६– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 320 to321

१५७– साख्यकारिका – १७

१५८– साख्यकारिका – १८

१५९– सर्वसिद्धात सार सग्रह – १२/६८ व ६६

१६०– गौडपादभाष्य – ११ व ४४ वीं कारिकाओ पर

१६१– ब्रह्मसूत्र भाष्य – २/३/५० और ५३

१६२– साख्यकारिका – २० व २१

१६३– साख्यकारिका –३ पुरुषस्तु पुनर्नप्रकृतिरनुत्पाद कत्त्वात न च विकृतिरनुत्मन्नवात – माठरवृत्ति ३ पृ०२४ व २५

१६४– साख्य प्रवचन भाष्य

१६५– साख्यप्रवचन भाष्य २/१५ सूत्र पर

१६६– साख्यसूत्र – ६/५४

१६७– अनिरुद्धवृत्ति – २/१ सूत्र पर

१६८– साख्यकारिका – ६

१६९– साख्यकारिका – १७

१७०– साख्यकारिका – १८

१७१– साख्यकारिका – ३ ६२ व ६४

१७२– न प्रकृतिने विकृति पुरूष ।।३।। साख्यकरिका

१७३– तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससारति कश्चित् ।।साख्यकारिका ६२।।

१७४ - एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम ।।६४ सांख्यकारिका।।

१७५— साख्यकारिका — ६४ और ६५

१७६— तस्मादपि चासिद्ध परोक्षमाप्तागमात सिद्धम ।।६ साख्यकारिका।।

१७७— साख्यकारिका — ३ ६२ से ६८

१७८— सामान्यतोऽदृष्टादनुमनाद् यदसिद्ध परोक्ष तदत्यन्तपरोक्षत्वादागमात सिद्ध स्वर्गापवर्गो —जयमगला टीका

१७९— साख्यकारिका — ३

१८०— साख्यकारिका — ६२

१८१— साख्यकारिका — ६४

१८२— साख्यकारिका — १७

१८३— साख्यकारिका — २३

१८४— न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ।।३ साख्यकारिका।।

त्रिगुणमविवेक कि विषय सामान्यमं चेतन प्रसवधर्मि। व्यक्त तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पूमान।।१।।

१८५— उपादानग्रहणात् ।।९।।

१८६— तस्मातत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिगम। गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तैव भवत्युदासीन ।।२०।।

१८७— प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृतिनियमार्था १२

१८८— अन्योन्यभिमवाश्रयजननामिथुन वृत्त्यश्च गुणा १२

१८९— साख्यकारिका — ९

१९०— साख्यकारिका — १०

१९१— गीता रहस्य, भूमिका पृ० — १६१ व १६२

१९२— प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादि उभवापि — १३/१९

१९३— भागवद्गीता — ७/१४ और १५/७

१९४— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-261-262

१९५— साख्यकारिका — २१

१९६— साख्यकारिका — ५७

१६७— साख्यसूत्र — १/७

१६८— तत्त्वकौमुदी — २२वीं कारिका पर

१६६— तत्त्वकौमुदी — ३८ से ४१वीं कारिका पर साख्यसूत्र — ३/१ से १७ साख्य प्रवचन भाष्य — ३/११

२००— तत्त्वकौमुदी — २०वी कारिका पर

२०१— तत्त्ववैशारदी — योगभाष्य २/२३ पर टीका

२०२— योगसूत्र — १/४१ २/१७ व २३ ४/२२

२०३— योगभाष्य — ४/३३

२०४— त्रिविधोबन्ध ।।१६ तत्त्वसमास।।

२०५— व्यसाभाष्य और तत्त्ववैशारदी — योगसूत्र १/८ व २/५ पर

२०६— साख्यकारिका —१७ २१ ५६ व ६३ साख्यसूत्र —१/६६ १४२ व १४४ ३/५१ ५८ व ५६ ६/४०–४४

२०७— साख्यसूत्र —१/१६४ और ६/७२ विद्वतेषिणी पृ० २२७—२२८

२०८— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-528

२०६— साख्यकारिका — १० और ११

२१०— Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 9-10 मैकडोनल हिस्टी आफ सस्कृति लिटरेचर पृ० — ३६० ६१ और १३४ १३५

२११— तदैक्षत बहुस्या प्रयाजयेति तत्तेजोऽसृजत

२१२— ब्रह्मसूत्र भाष्य — १/१

२१३— रत्न प्रभा पृ०— २२४

२१४— सगद्यि कार्य जडप्रकृतिक कार्यत्वात् घटवत

२१५— साख्यकारिका — २१

२१६— साख्यकारिका— ८ १० ११और४से१७ साख्यसूत्र —१/६२ ७० १०२ १०३ १०६ ११०और ३०से४६

२१७— अत सावकाशतया साख्यतेवेश्वर प्रतिषेधाशे दुर्बलमिति —साख्य प्रवचन भाष्य पृ०—४

२१८— अत्र शास्त्रेकारणब्रह्मतु पुरुष सामान्य निगुर्णमेवेष्यते ईश्वरानश्यपगमात्— साख्य प्र० भाष्य पृ०—१६६

२१६— स्वत्रत प्रधान कारणतावादिन्याश्च कपिलस्मृतेरप्रमाण्य प्रसज्यते — सा०प्र०भाष्य पृ० — २६५

२२०— गीतारहस्य— पृ०—१६३ की टिप्पणी

२२१– गौडपादभाष्य– कारिका ६१वी पर टिप्पणी पृ०– ५५

२२२– विष्णुपुराण – २/७/३७

२२३– इडियन थीज्य सी एच आई खण्ड ३ पृ० ५३६ ३७

२२४– हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी खण्ड–१ पृ०– ४८०

२२५– साख्य कासेप्शपन ऑव परसनैलिटी पृ० – १४ से आगे

२२६– साख्यकारिका – ११ साख्यसूत्र – १/१२६

२२७– हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रिय मनेक माश्रित लिगम ।।१०।। साख्यकारिका साख्यसूत्र १/१२४

२२८– साख्यसूत्र – १/१२१

२२६– अध्यवसायादिरुप प्रतिनियत कार्यशून्यत्व ।।२/१८ योगवार्तिक।।

२३०– लिगयति गमयति– तत्त्वकौमुदी पृ० –८४से८६

२३१– व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी – योगसूत्र २/१७से२३ और ४/२३व२४ पर व्याख्या

२३२– साख्यकारिका भाष्य– ११वीं कारिका पर

२३३– साख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा पृ०– ६२

२३४– साख्यकारिका – १८

२३५– साख्यसूत्र – १/१५४

२३६– साख्यकारिका – ६१ साख्यसूत्र – १/१४६ १५७ और १५६ तत्त्ववैशारदी –योगसूत्र– २/२२ पर

२३७– अनिरुद्धवृत्ति साख्यसूत्र –६/४५ पर

२३८– साख्यसूत्र – २/३७ साख्यकारिका – ५७

२३६– साख्यकारिका – ५६ साख्यसूत्र – ६/४३ व ४४

२४०– साख्यसूत्र – १/६६

२४१– साख्यसूत्र – १/६६ गीता – ३/२७

२४२– साख्यसूत्र – १/१४६ व १४७

२४३– आर्य पुरुष चिद्धर्मत्व

२४४– जडप्राकशयोगात् प्रकाश – १/१४५ साख्यसूत्र

२४५— साख्य प्रवचन भाष्य — ५/२—५

२४६— गीता रहस्य पृ०— २३७ से २४१

२४७— भागवद्गीता२/१६ साख्यकारिका —६ साख्यसूत्र — १/११० ११४ ११८ १२० और १२१

२४८— स्वालक्षणम् वृत्ति —तत्त्वकौमुदी २६वीं कारिका पर त्रयाणा स्वालक्षण—२/३० साख्य प्रवचन भाष्य

२४६— साख्यकारिका — २३ साख्यसूत्र — २/३१ से ५१

२५०— साख्यकारिका — ६३ साख्यसूत्र — ३/७३

२५१— साख्यकारिका — ३५ व ३६

२५२— साख्यकारिका — ३७

२५३— साख्यकारिका — ३३

२५४— व्यक्तिभेद कर्मविशेषात् ।।३/१० साख्यसूत्र।।

२५५— साख्यसूत्र — ३/११ से १३

२५६— साख्यसूत्र — १/१५६ ३/४७ ६३ ६६ व ७०

२५७— साख्यसूत्र — ३

२५८— योगसूत्र — १/२३ २६

२५६— योगसूत्र — ५/२ से १२

२६०— नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत । उभयोऽपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनलयोस्तत्व दर्शिभि ।।गीता।।

२६१— द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ।।१/१६४ /२० ऋग्वेद।।

२६२— प्रकृते क्षोभात् प्रकृति पुरुषसयोगास्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धात ।।साख्य प्रवचन भाष्य ५/१०१।।

२६३— साख्यसूत्र — १/५५

२६४— अविवेकश्च सयोग द्वारैव बन्धकारण प्रलये दर्शनात् ।।राख्य प्रवचपन भाष्य १/५५।।

२६५— अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्ते ।।६/१२ साख्यसूत्र।।

२६६— साख्य प्रवचन भाष्य — १/१२० व १२१

२६७— छान्दोग्य उपनि० — ६/२/२ भागवत गीता — २/१६

२६८— योगभाष्य — ४/३

२६६— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 258 fn 111

२७०— योगभाष्य — ३/१३

२७१— साख्यसूत्र — १/१२१

२७२— साख्यसूत्र —५/५२ से ५३

२७३— साख्यसूत्र —५/५५

२७४— साख्यसूत्र — १/४२

२७५— साख्यप्र०भाष्य — १/२६

२७६— साख्यसूत्र — २/१ और ३/५८

२७७— साख्यकारिका — ५६

२७८— साख्यसूत्र — ३/६१

२७९— साख्यकारिका — ५७ साख्यसूत्र — १/६६

२८०— साख्यसूत्र ६/१२ से १५

२८१— योगसूत्र — २/२३ स २४

२८२— साख्य प्रवचन भाष्य — १/१९

२८३— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 327 to 328

२८४— प्रकरोतीति प्रकृति ।।साख्यसूत्र १/७६।।

२८५— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 328 to 329

२८६— साख्यकारिका —२२ व २३ (परवर्ती वेदान्त मे बुद्धि का समष्टि रूप मे हिरण्यगर्भ की उपाधि करके लिया गया है) Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 266 -267

२८७— साख्य प्र० भाष्य — २/४१ से ४२

२८८— साख्यकारिका — २३

२८९— साख्यकारिका — २२

२९०— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-267 to 268

२९१— साख्यकारिका — २४ साख्य प्र० भा० १/६३ बहुस्यामप्रजामेय — साख्यसूत्र— ६/५४

२९२— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-275 to 277

२९३— साख्यसूत्र — ३/११

२६४– साख्य प्रवचन भाष्य– ६/६६ यदाहुर्वासुदेवाख्यचित तन्महदात्मक ।। ३/२६/३१ भागवत पुराण।।

२६८– न हि स्वप्नरज्जवा बन्धन दृष्टम ।। साख्य प्रवचन भाष्य १/२०।।

२६६– साख्यकारिका – ६५

३०१– साख्य प्रवचन भाष्य – १/२६ विष्णुपुराण – १/२(प्रकृति सर्वोपारि प्रभु का कार्य है) विकारजननी मायामदृष्टरूपामजा ध्रुवाम – चूलिका उपनि०

३०२– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II pp- 288

३०३– गौडपाडभाष्य – २१ वीं कारिका

३०४– विधारण्य विवरणप्रमेय सग्रह पृ० – ६३ इडियन थाट खण्ड–१ पृ० – ३७६

३०५– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 330 to 332

३०६– Radhakrishanan, Indian Philosophy Pt-II, pp- 332 to 333

३०७– विमुक्त विमोक्षार्थ स्वार्थ व प्रधान्सय – २/१

३०८– साख्यप्रवचन भाष्य – २/१

३०६– प्रधानसृष्टि परार्थ स्वतोऽप्य भोक्तृत्वादृष्ट्रड क्रुमवहनवम् – ३/५८ और ६/४० ।साख्यसूत्र। साख्यकारिका – ५६ व ६० साख्यतत्त्वकौमुदी – ६०वीं कारिका परमार्थ कृत चीनी अनुवाद अय्यास्वामी शास्त्री कृत सस्कृत रूपान्तर पृ०– ८४ यथा कश्चित स्वार्थ त्यक्तवा मित्रकार्याणि करोति एव प्रधानम् – गौडपाद भाष्य

३१०– साख्य तत्त्व कौमुदी – २१ वी कारिका

३११– साख्यकारिका – २३

३१२– दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हैतो ।।१–साख्यकारिका।। भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्न पुरुषस्त–दूगत दुखत्रय स्वात्मन्यभिमन्यमान कैवल्य प्रार्थयते ।।साख्यतत्व कौमुदी–२१वी कारिका।।

३१३– साख्यकारिका – ५७ और २१

३१४– साख्यसूत्र –१/१०६ और ६/११ साख्यकारिका – १

३१५– तदनेन दुखत्रयेणान्त करणवर्तिना चेतनाशक्ति प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिघात इति एतावता प्रतिकूल वेदनीयत्व जिहासहेतुरुक्ता – साख्य तत्त्व कौमुदी

३१६– साख्यकारिका – ६४

३१७ साख्यकारिका ६२

३१८— साख्यकारिका — २०

३१९— साख्यसूत्र — २/३५ महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष पर। पुरुषान्न पर किचित सा कोष्ठा परागति ।।१/३/११ कठोपनि०।।

३२०— तस्य हेतुरविद्या ।।२/१८ योगसूत्र।। अविवेक निमित्तो वा पचशिख ।।६/६८ साख्यसूत्र।।

३२१— साख्यकारिका — ६७ से ६७

३२२— पुरुषविमोक्ष निमित्त तथा प्रकृति प्रधानस्य ।।साख्यकारिका — ५७।।

३२३— अविपर्ययाहिशुद्ध केवलमत्पद्यते ज्ञानम ।।साख्यकारिका ६४।।

अध्याय पंचम्

सांख्य दर्शन का पाश्चात्य दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन

साख्य दर्शन के द्वैतवाद मे एक विशुद्ध चेतन्य पुरुष हे तो दूसरा जडात्मक तत्व प्रकृति है और आध्यात्मवादी विवेक–ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है। साख्य कारणता सिद्धात मे परिणामवादी और सत्कार्यवादी है तो निरीश्वरवादी होने के साथ उसका सृष्टि के उत्पत्ति–सम्बन्धी मत मे विकासवादी धारणा है जो यत्रवादी दिखाई भले ही देती हो किन्तु वह प्रयोगवादी धारणा को स्वीकार करती है। पाश्चात्य दर्शन मे भी विविध दार्शनिक विचारधाराए मिलती है। जिनका कही साख्यमत से साम्य है तो कही विरोध भी मिलता है। जिसका तुलनात्मक अध्ययन निम्न शीर्षकों के अर्न्तगत किया गया है –

(I) तत्त्व सिद्धात

साख्य दर्शन दो प्रकार के मूलतत्त्वो को रवीकार करता है। उसके अनुसार प्रकृति ओर पुरुष दो परमतत्त्व है जिनके पारस्परिक सबध से इस जगत की उत्पत्ति होती है। ये दोनो तत्त्व एक दुसरे से रवतत्र रवरूप मे भिन्न तथा समानत सत्य है। दोनो अजन्मा नित्य सर्वव्यापक तथा विश्व के आधार है। किन्तु दोनों का स्वरूप एक दुसरे से बिलकुल भिन्न है। प्रकृति जड और एक है। किन्तु पुरुष चेतन और अनेक हैं। प्रकृति जगत का मूलकारण है और पुरुष निरपेक्ष द्रष्टा। साख्य सम्भवत इस रूप में अनीश्वरवादी नही है कि वह यह सिद्ध करता है कि ईश्वर नही है अपितु केवल यह मानता है कि ईश्वर है ऐसा मानने का कोई हेतु नही है।[१] आचार्य भिक्षु अनेकश साख्य को वेदान्त के विचारों के समान बताने का प्रयास करते है।[२] वे एक व्यापक पुरुष की सार्थकता को स्वीकार करते हुए मानते है कि वह सर्वोपरि अर्थात सार्वभौम सामूहिक पुरुष है सब कुछ जानने तथा सबकुछ करने की शक्ति रखता है और चुम्बक पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है।[३] लेकिन आचार्य ईश्वरकृष्ण ऐसे किसी ईश्वर रूपी परमतत्त्व की कोई विवेचना नही करते। वास्तव मे साख्य दर्शन परमतत्त्व की सख्या की दृष्टि से अनेकत्ववादी और सके स्वरूप की दृष्टि से द्वैतवादी है।

पाश्चात्य दर्शन मे द्वैतवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हाइडे ने किया था जिसके अनुसार मूलतत्त्व शुभ के साथ–साथ अशुभ तत्त्व का भी सहअस्तित्व है । बाद मे नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र

से हटकर तत्त्वमीमासा के क्षेत्र मे क्रिश्चियन वुल्फ ने द्वैतवाद के आधार पर शरीर (अचेतन या जड) और आत्मा (चेतन) को पारस्परिक रूप से दो स्वतन्त्र तत्त्व मानते है। इस प्रकार द्वैतवाद के अनुसार परमतत्त्व की प्रकृति अथवा स्वरूप मे द्वैत है। दुसरे शब्दो मे विश्व का मूलतत्त्व एक प्रकार का नही प्रत्युत उसमे स्वाभाविक अथवा गुणात्मक द्वैत है।[४] पाश्चात्य दर्शन मे द्वैतवाद का प्रथम प्रमाण प्राचीन यूनानी दर्शन से होता है। थेलीज एनेक्जिमेण्डर तथा हेराक्लाइटस ने क्रमश जल वायु और अग्नि को मूलतत्त्व माना किन्तु उसमे जीव अर्थात चेतना का समावेश भी स्वीकार किया। अत यहॉ मूलद्रव्य को एकात्मक मानने पर भी उनके स्वरूप मे द्वैत है।[५]

दार्शनिक रूप से प्रथम द्वैतवादी एनेक्जेगोरस को माना जाता है। जिसने सर्वप्रथम चेतना को भौतिक जड द्रव्य से पृथक माना। उसके अनुसार जड द्रव्यो के साथ–साथ चेतना भी पारमार्थिक है। चेतन तत्त्व ही विभिन्न मूल जड द्रव्यों से विश्व के भिन्न–भिन्न पदार्थों का निर्माण करता है। अत परमतत्त्व अनेक है चेतन (नाउस) और भिन्न–भिन्न जडद्रव्य किन्तु उनका स्वरूप चिदात्मक तथा जडात्मक है।अत परतमत्त्व सख्या की दृष्टि से अनेकत्ववादी है जबकि अपने स्वरूप की दृष्टि से द्वैतवादी है।[६]

द्वैतवाद का विस्तृत विवरण प्लेटो और अरस्तू के दर्शन से मिलता है। प्लेटो के अनुसार श्रेयस प्रत्यय तथा जड द्रव्य से सयोग से विश्व की सृष्टि होती है। दोनो ही पारमार्थिक तत्त्व है। सामान्य प्रत्ययों की सख्या अनन्त है और सभी यथार्थ है किन्तु सभी का स्वतत्र अस्तित्व नही है। पूर्ण रूप से स्वतत्र सत्ता केवल श्रेय प्रत्यय की है जो सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक एव सभी प्रत्ययो का अधिष्ठान है। मूलतत्त्व के चेतन पक्ष में परमतत्त्व एक सर्वव्यापी प्रत्यय श्रेयस है। जिसे प्लेटो ईश्वर कहता है। जडतत्त्व निर्गुण और आकारविहीन है। उसका अस्तित्व किसी श्रेयस प्रत्यय पर आधारित नही है। श्रेयस प्रत्यय विचार स्वरूप है। किन्तु जडद्रव्य अचेतन है। एक शुभ और पूर्णता का द्वैतक है तो दूसरा अशुभ और अपूर्णता का, एक विश्व को शुभ से विभूषित करता है तो दूसरा उसमे अशुभ का समावेश करता है। जडद्रव्य उपादान है। जिनपर भिन्न–भिन्न प्रत्ययों के अकित होने से विभिन्न पदार्थ निर्मित होते है। अकित करने वाला श्रेयस प्रत्यय ईश्वर है। जो निमित्त कारण है। इस प्रकार प्लेटो प्रत्यय और जड अर्थात अचेतन और जड दोनो को विश्व का मूल आधार मानने के कारण तत्त्वमीमासी दृष्टि से द्वैतवादी है।[७] किन्तु

प्रत्ययों पर अधिक बल देने के कारण उनका आदर्श प्रत्ययवाद है। प्लेटो का यह मत समीचीन है कि यदि सभी देवताओ के विश्व की उत्पत्ति के विषय मे अनेको सम्मतियो के बीच हर एक अश मे हम अपने विचारों को परस्पर सगत तथा सूक्ष्म रूप में ठीक नही बना सके। जो दूसरे की अपेक्षा कम सम्भव हो। क्योंकि हमें अवश्य याद रखना चाहिए कि जो बोलता हुँ और तुम जो उसका निर्णय करते हो हम सभी मरण्यधर्मा पुरुष है। इस प्रकार इन विषयो के ऊपर एक सम्भव गाथा से ही सतुष्ट रहना चाहिए और इससे अधिक की माग नही करनी चाहिए।[८]

अरस्तू के द्वैतवाद मे विश्व का मूल आकार और भौतिक द्रव्य है। इन्ही दोनों के सयोग से विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। आकार निमित्त कारण अर्थात प्रेरक कारण है। जो उपादान कारण जडतत्त्व को कार्य के रूप में परिवर्तित करता है। दोनों के स्वरूप के सबध मे अरस्तू का मत है कि दोनो एक दूसरे के विपरीत है। उनके स्वरूप या प्रकृति मे द्वैत है और यह द्वैत सदैव विद्यमान रहता है। मूल आकार सामान्य तथा विचार स्वरूप है जबकि उपादान शुद्ध विशेष और पूर्णत भौतिक है। अत यहॉ अरस्तू परमतत्त्व को सख्या और स्वरूप दोनो दृष्टि से द्वैतवादी मानते हैं।[९]

प्लेटो का सामान्य पृथक अतीन्द्रिय तथा प्रमुख आदर्शमय रूप युक्त है किन्तु अरस्तू के अनुसार दो वस्तुओ का श्रेय यथार्थ मे सुकरात को दिया जा सकता है आगमनात्मक अनुमान सबधी तर्क और सामान्य परिभाषा जो दोनों ही विज्ञान के प्रारम्भ से सबद्ध है। किन्तु सुकरात ने सामान्यो अथवा परिभाषाओं के अस्तित्व को पृथक नही किया तो भी उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें पृथक्–पृथक् अस्तित्व माना और इसे वे विचार कहते है।[१०] सुकरात से सहमत होते हुए प्लेटो की आलोचना अरस्तु करता है वे विचारों को एक साथ सामान्य द्रव्य और पृथक् व विशिष्ट मानते हैं। यह बात सम्भव नही यह पहले से ही बताया जा चुका है। उन व्यक्तियों ने के कहते है कि विचार सामान्य है दो मतों को जो एक में मिला दिया इसका कारण यह है कि उन्होने आदर्श द्रव्यो तथा इन्द्रियगम्य वस्तुओं को एक समान नही माना। उन्होने सोचा कि इन्द्रियगम्य विशिष्ट पदार्थ एक प्रवाह की अवस्था मे है और उनमे से कोई शेष नही रहता,किन्तु सामान्य इनसे पृथक और भिन्न है। सुकरात ने इस प्रकल्पना को प्रेरणा दी अपनी परिभाषाओ के द्वारा किन्तु उसने उन्हे बिशिष्ट पदार्थों से पृथक् नही किया था और उचित ही सोचकर पृथक्

नही किया था।[११]

प्लेटो सत् तथा परिणमन से भी आगे बढकर श्रेयस तक पहुचता है। प्लाटिनस निरपेक्ष सत्ता को अभी तक उददेश्य तथा विधेय के मध्य मे अविभक्त और इसलिए समस्त भेदभाव से ऊपर के रूप में जानने की चेष्टा करता है। यह निरपेक्ष परमसत्ता उन वस्तुओं में से एक भी नही है। जिनका कि यह आदि स्रोत है। इसका स्वरूप ऐसा है कि इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता अर्थात अस्तित्व रहित तत्त्व के विपरीत जीवन का अभाव—क्योंकि यह वह है जो इन सबसे अतीत है एक बार जब तुमने उसके लिए श्रेय शब्द का प्रयोग कर दिया तो फिर इसके अतिरिक्त और किसी विचार को इसके आगे जोडने की आवश्यकता नही क्योकि और कुछ जोडने से तुम उक्त अश मे उसकी न्यूनता का बखान करते हो। यहॉ तक भी मत कहो कि इसके अन्दर बोध की प्रक्रिया है। क्योंकि इससे भी तुम इसके अन्दर विभाग का समावेश कर दोगे।[१२] इसी प्रकार एलेक्जेड्रिया का क्लीमेट एक ऐसे लक्ष्य बिदु पर पहुँच जाता है जहॉ पहुँच कर सर्वोपरि सत्ता को इस रूप में नही कि यह क्या है अपितु इस रूप मे समझा जाता है कि क्या नही है। इरिजेना के अनुसार वह जो सृष्टि करता है किन्तु स्वय अजन्मा है वह जो रचना करता है और स्वय भी उत्पन्न हुआ है वह जिसकी रचना हुई है और जो रचना करता नही और वह जिसकी न तो रचना हुई है और न जो रचना करता है स्पष्ट है कि यह वर्णन पुरूष अथवा ब्रम्हा के अनुरूप है। डेकार्ट के अनुसार द्रव्य का अर्थ है स्वअस्तित्ववान् होना अपने अस्तित्व का वह स्वय कारण है। जो कि स्वतत्र और निरपेक्ष है। निरपेक्ष तत्त्व एक ही हो सकता है वह ईश्वर है।[१३] परन्तु सापेक्ष द्रव्य के बिना निरपेक्ष द्रव्य का कोई अर्थ नही है। सापेक्ष द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए अन्य द्रव्य पर निर्भर होता है। सापेक्ष द्रव्य दो प्रकार के है आत्म और जड जो अपने अस्तित्व के लिए निरपेक्ष द्रव्य पर निर्भर है। इस प्रकार डेकार्ट के दर्शन में निरपेक्ष और सापेक्ष का द्वैत होने के साथ सापेक्ष द्रव्यों में चेतन और जडतत्त्व का द्वैत है। द्रव्य के अनिवार्य सर्वव्यापी और अवियोज्य धर्म को गुण कहा जाता है। द्रव्य को नष्ट किए बिना गुण को उससे अलग नही कर सकते। निरपेक्ष द्रव्य के अनन्त गुण है। जबकि सापेक्ष द्रव्य में सीमित गुण होते है आत्मा का गुण विचार और जड (शरीर) का गुण विस्तार है गुणो के आधार पर ही द्रव्यो की सत्ता का अनुमान किया जाता है।[१४]

आत्मा और जडद्रव्य के गुण परस्पर विरोधी है विचार की व्याख्या के लिए न तो विस्तार की आवश्यकता है और न विस्तार की व्याख्या के लिए विचार की । दोनों एक दूसरे से स्वतत्र सापेक्ष द्रव्य के गुण है। डेकार्ट के दर्शन में न केवल गुणो का द्वैत है अपितु गुणों के पर्यायों में भी द्वैत पाया जाता है। पर्याय का अर्थ किसी विशेष गुण की विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्ति है। आकृति और गति विचार के तथा सवेदना और कल्पना विचार के पर्याय है। पर्याय द्रव्य और गुण पर अस्तित्व के लिए निर्भर करते है। यही नही डेकार्ट की ज्ञानमीमासा भी द्वैतवादी है। जिसके अनुसार ज्ञान वस्तुओं का होता है और साथ में प्रत्ययो का भी।[१५]

देकार्ट के मत मे मनुष्य दो विभिन्न तत्वों का बना हुआ है आत्म अथवा मनस और शरीर उसका शरीर प्रकृति का अश है जबकि उसकी आत्म एक विशुद्ध चेतन पदार्थ है। आत्म जीवन का तत्त्व नही है जीवन का तत्त्व शरीर है जो एक पूर्णत नियमबद्ध व्यवस्था अथवा सगठन है आत्मा और शरीर इतनी बडी भिन्नता होने के बावजूद भी इन दोनों मे काफी गहरा सम्बन्ध है। इनको सम्बन्धो के देकार्ट ने पदार्थीय सयोग कहा है। आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्धो की कार्यकरण व्याख्या देने के पहले वे अपनी इस व्याख्या पर जोर देते है कि आत्मा का शरीर पर सीधा व्यापार सभव है अर्थात आत्मा सीधे ही शरीर को सक्रिय करने मे पूर्णयता समर्थ है । कदाचित् यह बात उनके इस कथन से प्रकट होती है कि मेरी आत्मा मेरे शरीर मे जहाज के चालक की तरह स्थित नही है। देकार्ट का यह भी कथन है कि आत्मा को दुख दर्द और अनेकानेक दूसरी सवेदनाए भी महसूस होती है। यदि उनसे पूछा जाये कि इन सवेदानाओ को आत्मा कहॉ महसूस करती है तो देकार्ट का उत्तर है कि शरीर मे उनकी दृष्टि मे शरीर की जरूरतो और इसमे दशाओ की जानकारी भी आत्मा को रहती है। यद्यपि यह जानकारी केवल बौद्धिक प्रकार की जानकारी नही है। इस प्रकार यहॉ दो ही प्रकार के पदार्थ जाने गए है ——चेतन और जड तत्त्व । ईश्वर और आत्मा चेतन तत्त्व है जबकि शरीर और दूसरी कोई भी भौतिक धातु जड अथवा द्रव्य पदार्थ है विस्तार या देशधर्मता जड पदार्थ का अनिवार्य गुण है।[१६]

जैसा कि साख्य दर्शन मे पुरुष और प्रकृति के सबध मे धारणा मिलती है । प्रकृति एक प्रकार से जड और विषम रूप दोनो है यद्यपि इसे जड कहने की अपेक्षा विषय कहना उचित

होगा । यदि दो वस्तु दो है तो उनके बीच सदृश्य और भेद दोनों मानना होगा और जब केवल भेद हो तो वहाॅ सबध नही होगा। इस प्रकार जड पदार्थो के बीच या चेतन पदार्थो के बीच सबध एक समस्या होगी । किन्तु यहाॅ पर स्पष्ट नही है कि देकार्ट को एक धर्मी पदार्थो के बीच होने वाले कार्य–कारण सबध या किन्ही अन्य सबधो के बारे मे किसी कठिनाई का अनुभव हुआ। विशेष रूप से विभिन्न चेतन पदार्थो के बीच सबध साधारणतया यदि ईश्वर को छोड दे तो जड शरीर के माध्यम से ही होता है। फिर चेतन पदार्थो के बीच सबध और जड पदार्थो के बीच मे सबध की समस्या मे एक मूलभूत अन्तर है।[१७] शायद यही कारण था कि ग्यूलिक्स और मैलब्राश ने स्पष्टत स्वीकार किया कि चेतन (मनस अर्थात आत्मा) ओर जड (शरीर) आदि समस्त गति का प्रदाता एक मात्र ईश्वर है । उक्त द्वय सयोगवादी दार्शनिक मनस–देह के सबध की व्याख्या के लिए देकार्ट द्वारा प्रतिपादित क्रिया–प्रतिक्रिया के सिद्धन्त की अनिवार्यता को आवश्यक मानते है। अन्तत देकार्ट भी इस निष्कर्ष को स्वीकार करता है कि यद्यपि गति पिण्डो का मुख्य लक्षण है तथापि पिण्डो की प्रेरक शक्ति स्वय पिण्डो मे न होकर ईश्वर मे रहती है।[१८]

स्पिनोजा परम द्रव्य सत को एक ही मानता है। द्रव्य वह है जिसका आधार उसके स्वय के अन्दर हो अर्थात जड स्वनिष्ठ और आत्मबोध युक्त हो। द्रव्य के दो गुण विस्तार और विचार उसके अनन्त गुणो मे से एक है। विचार और विस्तार भिन्न–भिन्न है न कि विरोधी। विचार और विस्तार का द्रव्य से कोई विरोध नही है क्योंकि द्रव्य निर्विदष्ट है अत वे दोनो द्रव्य के विधेय हो सकते हैं।[१९] वास्तव मे स्पिनोजा का द्रव्य विचार और विस्तार दोनो के परे है। स्पिनोजा के अनुसार जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता कि किसी उद्देश्य से नही होती उसी प्रकार ईश्वर का कार्य भी किसी प्रयोजन से नही होता वह पूर्ण है। अत उसका कोई प्रयोजन नही हो सकता। यदि वह क्रियाशील है तो अपने स्वभाव के कारण हो यही उसकी स्वत्रता है।[२०] चूॅकि जड और चेतन दिखाई देने वाली प्रक्रियाये एक ही मूल सत की दो विशिष्ट विधाए है। इसलिए उनके अनुसार जो चेतन सत् मे अभिव्यक्त और चेतन के बीच कोई कार्य–कारण सबध नही है तभी वह एक दूसरे को स्वतत्र रूप मे प्रतिबिम्बित करते है जो बाद मे लाइबनित्ज के दर्शन मे भी मिलता है। स्पिनोजा द्वारा व्यक्त द्रव्य की परिभाषा के आधार पर लाइबनित्ज ने अनेक द्रव्य सत् की कल्पना की और कहा कि ये मोनाड है।[२१]

मनस शरीर के द्वैत सबध के विषय मे हाकिग का मत है कि जो ऐसे सिद्धान्त है जिन्हे क्रिया –प्रतिक्रियावाद और समानातरवाद कहा गया है। ये दोनो सिद्धात मनस और शरीर को दो द्रव्य मानने की अपेक्षा दो प्रतिक्रियाओ के रूप मे स्वीकार करती हैं । क्रिया–प्रतिक्रियावाद के अनुसार मस्तिष्क घटनाए मनस घटनाओ को प्रभावित करती है जबकि समानान्तरवाद मे मस्तिष्क घटनाए तथा मनस घटनाए बिना किसी भी पक्ष के हस्तक्षेप के एक दूसरे के पूर्णत अनुरूप चलती है। ये दो श्रखलाए या तो एक दूसरे को प्रभावित करती है या प्रभावित नही करती है। अत द्वैतवाद के लिए कोई अन्य विकल्प नही है।[२२]

स्पिनोजा की भाति लाइबनित्ज एक द्रव्य के सप्रत्यय को स्वीकार नही करता है। वह ईश्वर को अन्तिम द्रव्य मानता है। किन्तु उसका मत है कि यदि एककों की स्थापना न करे तो ईश्वर के अतिरिक्त विश्व की सभी वस्तुए सारहीन हो जाएगी। अत आपातिक वस्तुओ की व्याख्या के लिए बहुद्रव्यो के सप्रत्यय की आवश्यकता है। लाइबनित्ज के मत मे कोई भी दो वस्तुए जिन्हे एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है एक नही हो सकती। दो वस्तुओ की अभिन्नता कल्पित करना एक ही वस्तु को दो नामो से अभिहित करना है। लाइबनित्ज देकार्ट द्वारा ईश्वर के पश्चात् आत्म (चेतन) द्रव्य जो कि गौण हे को स्वीकार करता है। किन्तु वह जड द्रव्य को नही मानता है। उसके अनुसार सरल एव अविभाज्य वस्तुए ही द्रव्य हो सकती है। अत विस्तार को द्रव्य नही माना जा सकता। लाइबनित्ज ने मनोवैज्ञानिक विवेचना से स्पष्ट किया कि आत्मचेतन व्याक्तियो मे ही चेतनता के स्तर सदैव समान नही रहते जैसे सुषुप्ति या मूर्छा की अवस्था मे। अत उनके अनुसार एकक परिवार मे प्रत्यक्ष की श्रेणिया असीमित भिन्न स्तरीय हो सकती है।[२३]

यही कारण है कि लाइबनित्ज ने द्रव्य की इकाइयो के रूप मे एकको की स्थापना की और इन्ही से विश्व की सभी वस्तुओ की रचना की कल्पना की। इनका मूल स्वभाव प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति है किन्तु ये सभी एक दूसरे से भिन्न है। यद्यपि सभी मिलकर प्रत्यक्ष के सभी सभव विकास स्तरो की अभिव्यक्त करते है। पर इसका अर्थ यह नही कि यह विकासवादी धारणा है। लाइबनित्ज के मत मे समस्त विश्व एककों से परिपूर्ण है किन्तु प्रत्येक का दृष्टिकोण शेष से

भिन्न है। प्रत्येक मे अपना अलग–अलग परिवर्तन का स्रोत है क्योंकि सभी मे प्रवृत्ति की भिन्न–भिन्न स्थिति होती है। अत वह कहता है कि एकको के लिए परस्पर भिन्न होना आवश्यक है। लाइबनित्ज के शास्त्र मे जन्म मरण अथवा पुनर्जन्म मानने के लिए कोई स्थान नही है। अत एकक ईश्वरीय चमत्कार से उत्पन्न हुए हे और चमत्कार से ही नष्ट हो सकते है।[२४]

लॉक मूल तत्त्व को द्रव्य कहता है जो सत्ता की दृष्टि से स्वतत्र है। द्रव्य सरल प्रत्ययो का योग है। द्रव्य गुण का आधार है बिना द्रव्य के गुण की सत्ता सम्भव नही है। गुणो का ही प्रत्यक्ष होता है द्रव्य का नही। लॉक द्वैतवादी है वह तीन प्रकार के द्रव्य मानता है। प्रथम जड द्रव्य द्वितीय आत्म द्रव्य और तीसरा ईश्वर। आकार विस्तार घनत्व स्थिति गति सख्या आदि जड द्रव्यो के गुण है और सोचना–समझना इच्छा करना विचार आदि आत्म द्रव्य के गुण है। जिस प्रकार शरीर द्रव्य का गुण विस्तार उसी प्रकार आत्म द्रव्य का गुण विचार है। विचार और विस्तार के द्वारा ही उनके आधार का अनुमान होता है। ईश्वर परम पुरुष है। इस प्रकार ईश्वर निरपेक्ष और उसके सापेक्ष जड और चेतन द्रव्य है। लॉक द्रव्य के गुणो को दो प्रकार का मानते है, एक मूल गुण जो द्रव्य के अविच्छेद वास्तविक कर्म है ऐसे गुणो की सत्ता ज्ञाता पर निर्भर नही करती। मूल गुण हमारी बुद्वि मे सवेदना उत्पन्न करती है। जिसके प्रत्ययो की उत्पत्ति होती है। दूसरे उपगुण मे द्रव्य के धर्म नही है इनकी सत्ता ज्ञाता पर निर्भर करती है। उपगुण मूलगुणो के कारण इन्द्रिय सवेदन के रूप मे उत्पन्न होते है।[२५] मूलगुण घनत्व विस्तार आकार गति आदि और उपगुण शब्द स्पर्श रूप आदि है। लेकिन लॉक द्रव्य को अनेक मानता है अत वह कहता है कि द्रव्य के अपने स्वरूप के सबध मे हम कुछ नही जानते है। इस प्रकार लॉक न तो द्रव्य को आस्तित्व को नकारता है और न ही गुणो के हेतु आश्रय की आवश्यकता का ही निषेध करते है। वे निषेध करते है पदार्थ वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक के ज्ञान का।[२६]

बर्कले केवल दो प्रकार की सत्ताए मानता है आत्माए जो द्रष्टाए है तथा प्रत्यय जो दृष्ट है। समस्त ज्ञेय जगत प्रत्ययो के अतिरिक्त और कुछ नही है। बर्कले के दर्शन मे भौतिक जगत के लिए कोई स्थान नही है। जिसे हम वस्तुओ से परिपूर्ण रूप मे जानते है तथा जिसकी सत्ता हमारे मन से स्वतत्र है बर्कले प्रत्ययो की स्थिति मनस मे स्वीकार करता है। बर्कल आगे कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वीकर करेगा कि न तो हमारे विचार न भाव न कल्पना द्वारा निर्मित प्रत्यय

ही मन के बिना कोई अस्तित्व रखते है तथा यह भी कम स्पष्ट प्रतीत नही होता कि विभिन्न सवेद अथवा इन्द्रियो द्वारा प्राप्त प्रत्यय चाहे वे किसी प्रकार निश्चित हो अर्थात उनसे कोई भी विषय बनता हो। उस मनस के बिना नही रह सकते जो उनका प्रत्यक्ष करता है कोई भी व्यक्ति सबध वस्तुओं के विषय मे प्रयुक्त अस्तित्व शब्द का अर्थ अपनी सहानुभूति से ही समझ सकता है। जिस मेज पर मै लिखता हूँ, वह है अर्थात मे उसे देखता हूँ और उसका अनुभव करता हूँ और यदि मै अपने अध्ययन कक्ष के बाहर होता तभी मे यह कहता कि वह है। जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि यदि मै अपने अध्ययन कक्ष के भीतर होता तो मै उसका प्रत्यक्ष कर सकता था अथवा यह कि कोई अन्य व्यक्ति उसे वास्तव मे देख रहा है। गध है अर्थात उसे सूघा गया अथवा ध्वनि हुई अर्थात उसे सुना गया। इस प्रकार के अन्य समान कथनो का मे यही सब अर्थ लगाता हूँ। कारण कि वस्तुओ के विषय मे उनके प्रत्यक्ष होने के सन्दर्भ के बाहर जो भी कहा जाता है वह पूर्णयता अबोध प्रतीत होता है । इन वस्तुओ को प्रत्यक्ष करने वाले मनस अथवा चितनशील वस्तुओ की परिधि के बाहर उनका कोई अस्तित्व सभव नही है।[२७] बर्कले अस्तित्व के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहता है कि उसके द्वारा आत्मा अथवा मन के अस्तित्व को भी सिद्ध कर सकते है– अस्तित्व का अर्थ है प्रत्यक्ष किया मन अथवा प्रत्यक्ष करना इस प्रकार सत्ता दृष्टता है का तात्पर्य केवल वर्तमान दृष्टि से ही नही अपितु त्रैकालिक रूप मे ग्रहण करना चाहिए बर्कले प्रत्ययो की व्याख्या करते हुए बताते है कि प्रत्यय निष्क्रिय है वे चित्र के द्वारा स्पष्ट तो होते है, परन्तु स्वय चित्र रूप नही होते। आत्माए तथा प्रत्यय एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। जब यह कहा जा सकता हे कि उनका अस्तित्व है। उन्हे जाना जाता है तो इस प्रकार के कथन से उन दोनो की किसी समान प्रकृति का अन्दाजा लगाने की भूल नही करनी चाहिए। अत जब हम कहते है कि प्रत्यय मन मे है तो उसका अर्थ मात्र है कि वे मन पर आश्रित है।[२८]

बर्कले के अनुसार यदि हम सृष्टि के विशाल अवयवो की विस्मयाकरक शोभा सौन्दर्य तथा पूर्णता के साथ छोटे अवयवो की उत्कृष्ट रचना तथा उसके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के सतुलन पर ध्यान दे तथा यह जानने का प्रयास करे कि नित्य अनन्त ज्ञान शिव तथा पूर्ण आदि शब्दो से किन गुणो का परिचय प्राप्त होता हे तो हमे उस आत्मा का बोध हो जायेगा जो सर्वोपरि है जिसके द्वारा सभी कुछ सचालित है और जिसमे सबका अस्तित्व है। वस्तुत यह प्रकृति जिसका हम सदैव दर्शन करते है ईश्वरीय माया ही तो है। जिसमे नित्य प्रति हम उसी प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार करते रहते है जैसे अन्य आत्माओ की। बर्कले जगत की यथार्थता को स्वीकार करते

हुए कहते है कि सूर्य चन्द्र नदियॉ पर्वत मकान यहॉ तक कि अपने शरीर के विषय मे भी क्या ये सब केवल मात्र किसी मनमौजी की कपोल कल्पनाए तथा भ्रातियॉ है मेरा उत्तर है कि पूर्ण व्यथित तथ्यो के सिद्वात के आधार पर इस प्रकृति के किसी भी एक पदार्थ से वचित नही होते। हम जो कुछ देखते है स्पर्श करते है सुनते है अथवा सुरक्षित रहता है सदा के लिए यथार्थ है। इस जगत मे एक प्राकृतिक अस्तित्व है ओर यथार्थ सत्ताओ तथा कपोल कल्पनाओ के मध्य का भेद अपनी पूरी शक्ति को स्थिर रखता है।[२९] रुथ के अनुसार ईश्वर के मन मे जगत की अवधारणा को जिस प्रकार शकराचार्य मानते हे वह बर्कले के विचारो से भी साम्य रखती है।

काट के अनुसार दोनो प्रकार के विषय अह–प्रत्यय और वस्तु–प्रत्यय आन्तरिक रूप से परस्पर भिन्न है। बल्कि केवल इस रूप मे भी भिन्न है कि ये एक दूसरे के बाहर प्रतीत होते है। सभव है कि प्रातिभासिक उपादान के मूल मे अन्तर्निहित वस्तुसत् भी वैसा परायत्त विषय–निबद्ध नही हो जैसा कि प्रतीत होता है।[३०] ईश्वर मेरे लिए इतर सत्ता नही है। वह मेरे स्वरूप का ही उच्चतम शिखर है । इसके विपरित जगत (इहलोक) मेरा ही इतरत्व है। हम ऐसी पराशक्ति का अभ्युपगम कर सकते है जो यद्यपि प्रकृति से अत्यन्त भिन्न है किन्तु साथ ही उसका कारण भी है और जिसमे परम श्रेमस और परमश्रेमस का समवय सिद्ध है।[३१] काट भौतिक को रवरूपवान् तत्त्व नही मानता है वह इसे केवल प्रतिमासिक मानता है उसके अनुसार भौतिक की स्वायत्त सत्ता कल्पनीय नही है। क्योकि रवरूप सत् केवल शुद्ध चित् ही हो सकता है। काट के मत मे मेरी पत्थर उठाने की इच्छा तथा हाथ और पत्थर का उठना एक ही लोक मे घटित होते है। जबकि देकार्ट दोनो को दो लोको की घटना मानकर असबद्व रूप से घटित करता है और इस प्रकार मै प्राकृतिक घटनाओ का कारण हूँ। क्योकि यहा कारण भूत मै और मेरी इच्छा प्रकृति ही है किन्तु तब ये सभी क्रियाकलाप सकल्प अथवा कर्त्तव्य नही है। कर्त्त के रूप मे मै इस प्रकृति मे कुछ घटित नही कर सकता।[३२] दूसरे शब्दो मे विषयकरण व्यापार मेरे स्वरूप के अन्तगर्त है। केवल विषय कृत उपादान मेरे से परे है। यहॉ साख्य के मत मे प्रतिभास विषयो–मुखता है और इस विषयोन्मुखता का और विषय का जो कि एक ही विषय है पुरुष से कोई सबध नही है। किन्तु काट साख्य के समान अपने सिद्वात के सबध मे निश्चित नही है।

काट आनुभविक जगत को प्रती तिरूप मानते है और मानवीय मस्तिष्क की रचना को इस

आनुभविक जगत का कारण मानते है। उनके अनुसार मनुष्य के लिए अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करना असभव है क्योकि जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है। वह देशकाल काल की आकृतियो और बोधग्रहण की श्रेणियो के अन्दर आबद्व ज्ञान प्राप्त होता है। वह उसका केवल आभास मात्र है। पर्याप्त मात्रा मे असद्भासता के कारण हमारी तार्किक क्रियाशीलता हमे प्रतीत रूप से जगत की ओर बलात ठेलती है। जो सदा के लिए हमारे तथा यथार्थसत्ता के मध्य मे अपना स्थान बनाती है। काट के अनुसार यदि तार्किक बुद्वि अपने को यथार्यता कर निर्माण आने वाली समझती है तो सत्य की प्राप्ति के अधिकार से वचित हो जाती है। यह भ्राति की अन्तर्निहित शक्ति के रूप मे परिणत हो जाती हे। देकार्ट के विपरीत जो हमारे अपने अस्तित्व सबघी ज्ञान जो साक्षात तथा सशयरहित है तथा बाह्य विषयो के ज्ञान के बीच भेद करता है जो अनुमानजन्य तथा समस्यापूर्ण है। काट का मत है कि ब्रह्म जगत का ज्ञान भी हमारे लिए उतना ही प्रत्यक्ष तथा निश्चित है जितना कि हमारा आत्मविषयक ज्ञान। काट बर्कल के प्रत्ययवाद के विरुद्ध कहता है कि सरल किन्तु आनुभविक रूप से निर्णीत मेरे अपने अस्तित्व की चेतना यह सिद्ध करती है कि बाह्य पदार्थो का अस्तित्व देश के अन्दर है।[३३] काट अनुभवम्य सब पदार्थो को प्रतीति मात्र कहता है तात्विक नही। इस प्रकार राधा कृष्णन् के मत मे काट वस्तुओ के अपने आप मे अनेकत्व मे विश्वास करता है। काट दृश्य ओर यथार्थ स्वरूप मे भेद करते हुए कहते हैं कि दृश्य स्वरूप वह है जो हमारे सामने प्रकट होता है तथा यथार्थ अर्थात स्वलक्षण दृश्य नही है, यह ज्ञान की सीमा है। सत्–असत बुद्धि के विकल्प है जिस प्रकार ये बुद्धि–विकल्प लागू नही होते। उन्हे सत् या असत् नही कह सकते है इस प्रकार ज्ञेयवादी काट बुद्धि की सीमा निर्धारित करते है।[३४]

फिक्टे के तत्त्वविज्ञान के अनुसार विज्ञान आत्मस्वरूप है। यही परमतत्व भी है जो आत्मरूप है। अचित भी चित्‌रूप ही है। विश्व का परमतत्व विज्ञान है यह विज्ञान ज्ञाता का रवरूप होने के कारण ज्ञाता से अभिन्न है। आत्मा मे सकल्प–शक्ति है। इसी सकल्प–शक्ति की स्वतत्रता के कारण आत्मा अपने को अनात्म वस्तु के रूप मे प्रकट करती है। अचित् अर्थात अनात्म ज्ञेय रूप है। किन्तु दोनो से भिन्नता होने के बावजूद उनमें विरोधी नही है। क्योंकि चित्–अचित दोनो एक ही परमात्मा की अभिव्यक्तियॉ है।[३५] किन्तु शैलिग परमतत्त्व को प्रकृति

कहता है इसके अनुसार परमतत्त्व की अभिव्यक्ति पहले जगतरूप मे फिर जीव मे होती है। अत चेतन अर्थात ज्ञाता ही अचेतन अर्थात ज्ञेय रूप मे प्रतीत होता है। प्रकृति ही दृश्य आत्मा है और आत्मा अदृश्य प्रकृति है। फिक्टे के विपरीत शैलिग चित–अचित् मे विरोध नही मानता है। अत जड चेतन मे भेद सभव नही है क्योंकि वे पररपर सहायक है।[३६]

विज्ञानवादी हेगेल विशिष्टाद्वैतवादी है। उनका परमतत्त्व परमविज्ञान है। सम्पूर्ण जगत इसी परमविज्ञान की अभिव्यक्ति है। परमविज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है। परमतत्व अपने विकास के पूर्व भी है। हेगेल सृष्टि की त्रिआयामी पक्ष विपक्ष सपक्ष को द्वद्वात्मक विकास को द्वारा जगत की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार वह जगत का अन्तर–सत् है जो तत्त्वत है। वह वस्तुनिष्ठ तथा विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। तथा स्वय से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस रूप मे वह बदलता है तथा स्वय के लिए है परन्तु इस विशेषीकरण में भी तथा अपने अन्य तत्त्व में भी वह स्वय से एकात्म है। वह स्वय मे एव स्वय के लिए तथा स्वत पूर्ण दोनों एक साथ है। वह स्व स्थित प्रकृति अपने मे अव्यक्त है आध्यात्मिक द्रव्य है। उसे अपने लिए तथा अपने ही कारण स्वनिष्ठ होना है। उसे आत्मा का ज्ञान होना चाहिए तथा स्वय के लिए विषय रूप मे उपस्थित होना चाहिए। परन्तु साथ ही उसे उस विषयनिष्ठ रूप का परिहार तथा अतिक्रमण करना है। इस प्रकार अपने अस्तित्व मे उसे उस विषयरूप में अपना बोध है। जिसमे वह स्वय ही प्रतिबिम्बित है। जब इस प्रकार विकसित रूप मे चित स्वय को चित रूप में जान लेता है, तब वह ज्ञान होता है।[३७] यह स्पष्ट है कि सत तथा उसकी गत्यात्मकता की अभिन्नता का बोध होता है तो दूसरी ओर गत्यात्मकता के स्वरूप का प्रकाशन होता हे। यही कारण है कि हेगेल परमतत्व को स्वरूपनिष्ठ सत् कहता है।

हेगेल के अनुसार परमचित् जो समग्र सत का मूर्त साकार अन्तिम तथा परमसत्य है। वह अपने उत्कर्ष के अत में स्वच्छद रूप मे अपना अतिक्रमण कर जाता है तथा अव्यवहित सत् का रूप अपना लेता है। वह उस जगत की सृष्टि के लिये कृतसकल्प होता है। जिसमे अत तक पहुचने के पुर्व ही समस्त विषय विद्यमान है ओर वह सब इस अनुलोम स्थिति के कारण अपने आरम्भ सहित किसी ऐसी अवस्था में परिणित हो जाता है। जो साध्य पर आश्रित है क्योंकि

साध्य ही तो सिद्धात है जहाँ ज्ञान अपनी समग्रता मे एक ऐसा वृत्त होता है। स्वय अपनी आरमिक स्थिति मे प्रत्यावर्तन को जहाँ प्रथम अन्तिम हो तथा अन्तिम प्रथम हो।[३८] हेगेल शेलिग की भाति प्रकृति को दिव्य नही मानता है अपितु उसे परमतत्त्व का ही एक पक्ष मानता है। यहाँ हेगेल प्रकृति की यथार्थता को स्वीकार करने के साथ प्रकृति को परम का ही एक अग मानने के कारण उसकी आगन्तुकता को भी स्वीकार करता है। अत वह प्रकृति के आन्तरिक और बाह्य पक्ष के बीच भेद करता है। एक ओर प्रकृति की अन्त रचना प्रत्यय के प्रतिबिम्बन तथा मौखिक सरचना से अभिन्न है तो दूसरी ओर प्रकृति के बाह्य पक्ष मे आगन्तुक तथा अभौक्तिकता है। लेकिन जो भौतिक है वह वास्तविक है तथा जो अभोक्तिक है वह अवास्तविक है। यदि आगन्तुकता को वास्तविक मानते तो तत्र के भीतर द्वैत उत्पन्न हो जायेगा अत यह अवास्तविक ही है।[३९]

ब्रैडले के मत मे निरपेक्ष परमब्रह्म ईश्वर नही है। मेरे लिए धार्मिक चैतन्य से बाह्य ईश्वर का कुछ अर्थ नही है और वह तात्त्विक रूप से क्रियात्मक है। मेरी दृष्टि मे निरपेक्ष ब्रह्म ईश्वर नही हो सकता। क्योकि अन्त मे निरपेक्ष का सबध किसी के साथ नही रहता तथा इसके सीमित सकल्प के अन्दर कोई क्रियात्मक सबध नही हो सकता हे। जब आप निरपेक्ष सत्ता की अथवा विश्व की पूजा करना प्रारम्भ करते है ओर इसे कार्य का विषय बनाते हैं तो अपने उस क्षण इसका रूपान्तरण कर दिया।[४०] आत्म सगत विचार के दृष्टिकोण से दोनो प्रकार के अनुभव अव्यवहित और व्यवहित तथा वस्तुए और विचार ससृष्टियॉ यहाँ तक कि ईश्वर का प्रत्यय भी यद्यपि ईश्वर कि अनुभूति सत्ता आभास नही है। परन्तु तत्वमीमासी या विचारात्मक दृष्टि से ईश्वर का प्रत्यय आत्मघाती है इसलिए आभास है। सभी कुछ अन्तत आभास है। निरपेक्ष सत ही परम सत् है। पर क्या हम आभासो को नितान्त सतविहीन या निरपेक्ष सत् से पृथक् मान सकते हैं ? स्पष्ट है कि नही, क्योंकि ऐसा मानने से निरपेक्ष सीमित अथवा सारहीन हो जायेगा तथा चिन्तन का आदर्श न रहकर (ब्रैडले के) तत्वज्ञान के लिये निरर्थक हो जायेगा प्रत्येक आभास कि अपनी सत् की मात्रा है। अस्थिर रूप से ही सही उसमें कुछ अन्तर्वस्तु और आत्मसगति है तो इसलिए किसी आभास को हम तुरन्त ओर पुर्णरूप से आभास नही कह सकते।[४१]

ब्रैडले के अनुसार जो कुछ मुझे अस्तित्व मे जगत मे अथवा अपने अन्दर मिलता है वह दर्शाता है कि यह कुछ है और यह इससे अधिक प्रदर्शन नही कर सकता। जो उपस्थित है वह नि सन्देह उपस्थित है और उसे मानना ही होगा ओर उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु एक स्वीकृत तत्त्व को मानने ओर बिना किसी सन्देह के उसकी विषयवस्तु को यथार्थ मान लेने मे बहुत बडा अन्तर है।[४२] अनेको के स्वरूप इसलिए केवल अपने में प्रत्येक अपने आप मे आत्म निर्भर नही है। क्योंकि यदि तुम प्रत्येक मे से उसके परे के प्रत्येक उल्लेख को मिटा दो तो अनेकत्व कही भी नही रहता और शब्द का अर्थ सिवाय इसके और कुछ नही है कि वह पूर्ण इकाई के आधार को अभिव्यक्त करता हे ओर एकात्मकता से अलग विविधता का अपना कोई अर्थ नही है इसलिए जिन विषयों कि आवश्यकता नही है वे स्वात्म विरोधी है और पृथक्–पृथक् पक्षों में प्रत्येक के अन्दर भेद करने से तुम बच नही सकते। क्योंकि इस प्रकार का मार्ग हमे नये विशेषो के विभाग कि ओर ले जायेगा। जिनमे से प्रत्येक के सम्बन्घ मे वही समस्या उत्पन्न होगी। यदि अनेको मे से प्रत्येक अपने से परे नही हैं तो वे अनेक नही रह सकते और दूसरी ओर जो आत्मनिर्भर नही रह सकता वह विशेष अथवा विलक्षण भी नही कहा जा सकता। इसलिए विशेष जिनमे से प्रत्येक यदि सम्भव हो सके तो विलक्षण हो केवल अमूर्त भाव ही सिद्ध होते है। क्योंकि ये सिद्धात रूप मे स्वात्म विरोधी है। इसलिए अयथार्थ है और अन्ततोगत्वा निरर्थक है।[४३]

यहॉ हाकिग का मत है कि पाश्चात्य दर्शन मे प्राचीन द्वैतवाद मुख्यत विश्व की उस दृष्टि से सम्बन्ध था जिसमे मनुष्य की दोहरी प्रकृति जिसकी एकं प्रकार की प्रतिध्वनि है किन्तु आधुनिक द्वैतवाद मुख्यत मनस और शरीर की समस्या से सम्बन्धित है और विश्व की व्याख्या इस आन्तरिक विभाजन के सन्दर्भ में की जाती है।[४४] हयूम के पश्चात मिल रसेल विटगेन्सटाइन एयर आदि अनुभववादियों ने वस्तुए अनुभूत गुणो के सग्रह के अलावा और कुछ नही है। इन गुणो के आश्रय स्वरूप किसी स्थायी आधार को मानना प्रमाणों पर आधारित नही है। बल्कि एक कल्पना मात्र है। मिल ने द्रव्य को मात्र एक सम्भावना के रूप में लिया और माना कि यह सवेदनो की एक स्थायी सम्भावना है। समकालीन दर्शन मे तत्त्वमीमासा का निषेध कर दर्शन को तार्किक विश्लेषण तक ही सीमित रखा गया है। इस सम्बन्ध मे विटगेस्टाइन ने माना की

दर्शनशास्त्र विज्ञान के वाक्यो के अर्थो अथवा भाषा की तार्किक व्याख्या है तो ए० पी० एयर के अनुसार दर्शन का कार्य किसी अभौतिक तत्व की परिकल्पना करना नही इसका मुख्य कार्य आलोचनात्मक है। इस प्रकार रसेल एयर आदि ने द्रव्य सम्बन्धी धारणा को भाषा का एक भ्रागक प्रयोग का परिणाम माना है। आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषणो मे गुणो के आधार के रूप मे मुलभूत सत्ता के रूप मे किसी स्थायी अपरिवर्तनशील सत्ता को स्वीकार न करके परिवर्तन गति शक्ति ऊर्जा को विश्व का मूल माना गया है।[४५]

(II) सृष्टि-कारणता सिद्धांत

साख्य दर्शन मे ससार की समस्त वस्तुए मन शरीर इन्द्रिय बुद्धि आदि सीमित तथा सापेक्ष होने के कारण कार्यरूप है जो कतिपय उपादानो के सयोग से उत्पन्न माना गया है। यह जगत कार्यकारणो का प्रवाह है अत इस श्रखला का कोई न कोई मूलकारण अवश्य होना चाहिए। इस मूलकारण को साख्य प्रकृति कहता है जो समस्त कार्यो का कारण है किन्तु स्वय अनादि है। इस प्रकृति को निरपेक्ष और नित्य कहा गया है। प्रकृति के अन्दर सत्त्व रज और तम तीन तत्त्व है जिन्हें गुण कहा गया है। इन तीनो गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यहॉ गुण का अर्थ धर्म है। त्रैगुण्य प्रकृति मे सत्व वह है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपने को चैतन्य मे अभिव्यक्त करती है क्योकि ये लक्षण जीवन मात्र मे पाए जाते है इसलिए ये मूल प्रकृति के है।[४६] साख्यसूत्र के अनुसार यदि ईश्वर को सृष्टि का कारण मान ले तो वह या तो किसी स्वार्थवश या दयावश ही सृष्टि कार्य करेगा। लेकिन ईश्वर जिसके सभी स्वार्थ पुर्ण हो चुके है। वह पूर्णत नि स्वार्थ है, क्योकि यदि ईश्वर स्वार्थमय उद्देश्यो अथवा इच्छाओं से प्रभावित होता है तो वह स्वतत्र नही है और यदि वह स्वतत्र है तो वह सृष्टि रचना सबधी कार्य मे अपने को लिप्त नही करेगा। इसी प्रकार ईश्वर ससार की रचना को दयावश भी नही करता क्योंकि सृष्टि रचना से पुर्ण आत्माओं को कोई दु ख नही था। जिससें छुटकारा पाने की उन्हे आवश्यकता हो। यदि ईश्वर केवल शुभ कामना से ही प्रेरित हो तो उसके द्वारा उत्पन्न सभी प्राणी सुखी होने चाहिए। फिर यदि यह मान ले कि आचरण के भेदो के अनुसार ईश्वर को मनुष्यो के साथ भिन्न–भिन्न व्यवहार करना होता है तब फिर कार्य विधान ही कार्यकारी सिद्धात

होगा ईश्वर नही।

परवर्ती साख्यदार्शनिक भिक्षु वाचरपति नागेशादि आचार्यों ने पुरुष की आवश्यकताओं तथा प्रकृति के कार्यों के इस सामजस्य की व्याख्या करना असभव देखकर प्रकृति के विकास का पथ प्रदर्शक ईश्वर को स्वीकार किया।[४७] आचार्य वाचरपति मिश्र के अनुसार प्रकृति के विकास का सचालन एक सर्वज्ञ आत्मा द्वारा होता है तो आचार्य भिक्षु के मत मे महार्षि कपिल द्वारा ईश्वर का निषेद्ध एक प्रकार का नियामक सिद्वात हे ऐसा आग्रह इसलिए किया गया है कि ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना सत्य ओर भेद विधायक ज्ञान के मार्ग मे बाधक होता है। आचार्य भिक्षु आगे कहते है कि निरीश्वरवाद को रवीकार करने का कारण यह था कि दुर्जन–पुरुषो को भरमाया जा सके जिससे कि वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने से दूर रहे।[४८] आचार्य भिक्षु प्राय साख्य के विचारो को वेदान्त के सामानान्तर लाने का प्रयास करते है।[४९] एक व्यापक पुरुष की यथार्थता स्वीकार करते हुए कहते हे कि वह सर्वोपरि अर्थात व्यापक सार्वभौम सामुहिक पुरुष है जब कुछ जानने तथा सब कुछ करने की शक्ति रखता है और चुम्बक–पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है।[५०]

साख्य दर्शन प्रकृति परिणामवादी है ओर सत्यकार्यवाद को स्वीकार करने के कारण कार्य को उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे निहित मानता हे। उसके अनुसार कार्य करण की वास्तविक अभिव्यक्ति है। प्रकृति पुरुष के सानिध्य मात्र से विक्षुब्ध होती है तत्पश्चात सृष्टि प्रकिया लग जाती है । इस प्रकार पुरुष निमित्त कारण ओर प्रकृति उपादान कारण है।

परिवर्तन हर जगह तथा हर एक क्षण मे हो रहा हे हम एक ही जलधारा मे दो बार पग नही डाल सकते क्योकि कोई भी जल दो क्षण के लिए वही नही रहता और यह भी सत्य है वही व्यक्ति उसी जलधारा मे दो बार पग नही डाल सकता है क्योंकि इसी बीच जैसे जलधारा मे परिवर्तन हो गया उसी प्रकार व्यक्ति मे भी परिवर्तन हो गया। सब वस्तुए तथा अवस्थाए बाह्य तथा आतरिक इस परिवर्तन के नियम के अधीन हे। हेराक्लाइटस आगे भी कहता है कि जिस प्रकार मूलतत्त्व से जगत की सृष्टि होता है उसी प्रकार प्रलय की अवस्था मे जगत अपने मूलतत्त्व

मे विलीन हो जाता है।[५१] इसी परिवर्तन प्रक्रिया मे से मनुष्य का मस्तिष्क पूर्ववर्ती तथा पश्चातवर्ती के सबध द्वारा कार्यकारण नियम की रचना करता है ।

एम्पेडाक्लीज के अनुसार मात्र वस्तुओ का उदभव और विकास होता है मूलतत्त्व अपरिवर्तनीय और निर्जीव है । उसके अन्दर गति नाम की कोई चीज नही है हॉ प्रेम और घृणा नामक दो विरोधी शक्तिया है। जो भौतिक शक्तिया है मूलद्रव्य पृथ्वी जल वायु और अग्नि चार है इन्ही के द्वारा विरोधी शक्तिया की सक्रियता से सृष्टि और प्रलय होता है। जगत का आदि और अन्त नही है सृष्टि क्रम चक्राकार रूप से निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। साख्य दर्शन मे प्रत्यक्ष विषय के रूप इस जगत मे पाच इन्द्रियो के अनुरूप पचतन्मात्राओ के अनुरूप एम्पेजक्लीज की भी मान्यता है।[५२]

प्लेटो के अनुसार सृष्टि क्रम के पूर्व ईश्वर के पास प्रत्यय और द्रव्य नामक दो वस्तुए भी प्रत्ययो के प्रतिबिम्ब को द्रव्य मे अकित करके ईश्वर नाना प्रकार के जगत की रचना करता है । सर्वप्रथम विश्वात्मा महत् की सृष्टि हुई जो देश–काल मे स्थित है। यद्यपि वह निराकार है तदन्तर दिव्यलोक पृथ्वी महाभूतो आदि की सृष्टि होती है। प्लेटो के कारण सिद्धात मे चार कारण– निमित्त कारण उपादान कारण स्वरूप कारण और लक्ष्य कारण है। लक्ष्य कारण के कारण ही प्लेटो का सृष्टिविज्ञान प्रयोजनमूलक है। प्रकृति अथवा प्रकृति की शक्ति को प्लेटो समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री कहता है। उनके अनुसार यथार्थवाद की जहॉ तक यथार्थ जगत को सर्वथा देश और काल के ऊपर है। एक ऐसी यथार्थता जो वर्णविहीन है आकृतिरहित तथा स्पर्श के अयोग्य है जो केवल मन के लिए दृश्य है जो आत्मा का स्वामी है।[५३] यहॉ प्लेटो तत्त्वो के अनेकत्व मे विश्वास करता है। प्लेटो के दर्शन मे ईश्वर के अतिरिक्त दो तत्त्व– प्रत्यय और द्रव्य मिलते है। लेकिन प्लेटो की दार्शनिक विवेचना मे ईश्वर निमित्त कारण प्रत्यय स्वरूप कारण और शुभ लक्ष्य कारण एक ही परमतत्त्व के विभिन्न सदर्भो मे किया गया वर्णन मात्र है। अत प्लेटो का कारण सिद्धात द्वैतवाद पर आधारित है जो अरस्तू के दर्शन मे स्पष्ट होता है।

अरस्तू के दर्शन मे कारणता सिद्धात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्लेटो के द्वारा कथित चारो कारण निमित्त उपादान स्वरूप और लक्ष्य कारण की व्यापक विवेचना करता है । उक्त चारों कारणो को द्रव्य– उपादान कारण ओर आकार–निमित्त स्वरूप ओर लक्ष्य कारण इन दो तत्त्वो मे ही सीमित कर देता है। उनके अनुसार ओपचारिक ओर अन्तिम कारण तादात्मयक है । आकारिक कारण किसी वस्तु का सत्व सप्रत्यय या प्रत्यय अन्तिम कारण उस वस्तु के प्रत्यय की वास्तविकता मे परिणित होता है । इसी प्रकार निमित्त कारण और अन्तिम कारण मे भी तादात्म्य है। निमित्त कारण सम्भूति का कारण है और अन्तिम कारण इस सम्भूति का अन्त अर्थात लक्ष्य सभी वस्तुए अपने अन्त को प्राप्त करने का प्रयास करती है। प्रकृति जड है। यद्यपि उसमे ऐसा कोई मरितष्क नही है जिसके अन्त का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप मे हो सके। किन्तु फिर भी प्रकृति अन्त की ओर अग्रसर हो रही है और अन्त ही उसकी गति का कारण है। यहॉ तीनो ही कारण आकार के प्रत्यय मे विलीन हो जाते है। इस प्रकार अन्तत भौतिक अर्थात उपादान कारण रूप द्रव्य ही शेष बचता है।[५४]

अकार के सिद्धात मे आकारिक अन्तिम और निमित्त तीनो कारण विद्यमान है अत ईश्वर ही तीनो कारण है, आकार ही वास्तविकता है। इसलिए विकास के सोपान के शिखर पर स्थित ईश्वर ही एक मात्र पूर्ण रूप से वास्तविक है । ईश्वर समस्त गति और सम्भूति का अन्तिम कारण है यही आदि प्रवर्तक है किन्तु स्वय अपरिवर्तित है। सृष्टि प्रयोजनमूलक है आकार ही अन्त अर्थात उद्देश्य होने के कारण सृष्टि मे पूर्व ही विद्यमान थी परम आकार ही इसका अन्त है किन्तु इसकी प्रप्ति कभी नही हो सकती, अत जगत का अन्त कालातीत है।[५५] अरस्तू के अनुसार समस्त दृश्य जगत निरकार द्रव्य और द्रव्यहीन आकार है दोनों के मध्य स्थित है। जगत की विभिन्न वरतुए निराकार द्रव्य से द्रव्यहीन आकार की ओर क्रमश विकास का परिणाम है। अत सृष्टि–प्रक्रिया अर्थात द्रव्य का आकार के रूप मे परिवर्तन तत्त्वता सोद्देश्य है। प्रकृति मे उद्देश्य है इसका यह अर्थ नही है प्रकृति अपना उद्देश्य जानती है। दूसरी ओर ईश्वर एक अस्तित्वमूलक चेतन प्राणी नही है क्योंकि वह कभी भी प्राप्त नही है। अर्थात प्रकृति की जितनी भी क्रियाए है वे सभी ही बुद्धि द्वारा ही की जाती है। किन्तु अस्तित्वमूलक यह चेतन बुद्धि द्वारा नही। दूसरे शब्दो सहज प्रकृति और गुरुत्वाकर्षण आदि यात्रिक शक्तिया तत्त्वत बुद्धि ही है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि बुद्धि द्वारा उनकी सृष्टि हुइ हे। बल्कि यह है कि वे बुद्धि ही है जो अपने को निम्न रूपो मे अभिव्यक्त कर रही ह। प्रकृति का अजैविक है। अत उसे यह ज्ञात नही है। उसकी क्रियाए बौद्धिक है। अत वह अपने कार्यों को सहज प्रवत्यात्मक ओर यात्रिक ढग से कर रही है जो बुद्धि के निरन्तर रूप हे प्रकृति सृष्टि प्रक्रिया मे आकार सदैव प्रेरणा प्रदान करती है और द्रव्य अवरोध उत्पन्न करता हे। अत जगत मे व्याप्त गति आकार द्वारा द्रव्य को परिवर्तित करने का प्रयास मात्र हे।[५६]

साख्य का पुरुष अरस्तू के ईश्वर से भिन्न नही हे। यद्यपि अरस्तू का मत है कि ससार के प्रारम्भ मे गति देने वाला एक सर्वशक्तिसम्पन ईश्वर हे तो भी ससार के कार्यकलाप मे ईश्वर का कोई अशदान नही है इसको वह नही मानता। अरस्तू के अनुसार ईश्वर विचारमग्न सत्ता जो अपने अन्दर ही सीमित है ओर इसलिए वह न तो विश्व के प्रति किसी प्रकार का कार्य कर सकती है और न उसकी ओर कुछ ध्यान ही दे सकती हे। वह सर्वप्रथम गति देने वाला ईश्वर है जिसके सम्बन्ध मे कहते है कि वह स्वय ऐसा उद्देश्य हे कि जिसकी प्रप्ति के लिए प्राणी मात्र पुरुषार्थ करता है ससार को गति देते है किन्तु ससार उसके कार्य से किसी भी प्रकार से निर्धारित नही होता है यदि वह सासारिक व्यापारो की भिन्नता करे तो उसके ईश्वरीय अस्तित्व की पूर्णता ही नष्ट हो जाती हे। इस प्रकार ईश्वर विशुद्व विज्ञान रूप है और स्वय अचल है मात्र अपने अस्तित्व से ससार को गति देता है तत्पश्चात वस्तुओ का विकास अपने–अपने स्वभाव के कारण होता है किन्तु साख्य मे पुरुष की प्रकृति से बाह्य कहा गया है किन्तु बुद्धिगम्य नही। अत दोनो का सबध एक रहरय हे।[५७]

सेंट थामस एक्जीनस के कारणता सिद्वात मे ईश्वर को परमकारण माना गया है। उसके अनुसार जगत मे गति और परिणाम है। गति ओर परिणाम का प्रथम कारण न मानने पर अनवस्था दोष हो जाता है। अत आदि करण ईश्वर हे। इसी प्रकार प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ सभाला है अत कोई न कोई अनिवार्य सत सत्ता अवश्य होगी और वह ईश्वर है। प्रत्येक कार्य का कारण उपादान तथा निमित्त दोनो होता है कोई भी उपादान बिना किसी निमित्त कारण की सहायता के किसी कार्य मे पाणित नही होता है। निमित्त कारण श्रृखला का आदि कारण ईश्वर है।[५८]

देकार्ट कारण–कार्य के सबध मे परम्परावादी ह। इनके अनुसार ईश्वर ही जड ओर चेतन के बीच सबध का आधार है। प्रत्येक कार्य–कारण श्रृखला का चाहे वह जड वस्तुओ के बीच मे हो अथवा चेतन वस्तुओ के बीच अथवा उन दोनो के मध्य हो इनका आकार ईश्वर है केवल ईश्वर मे ही कार्यात्मक शक्ति है देकार्ट के अनुसार कार्य मे ऐसा कुछ भी नही हो सकता जो कारण मे पहले से ही विद्यमान हो। यह निगमानात्मक शेली की पूर्व मान्यता पर आधारित है। जिसके अनुसार निष्कर्ष अपने आकार वाक्य मे विद्यमान होता है। इस प्रकार कार्य पूरी तरह से अपने कारण पर निर्भर होता है किन्तु समय के सम्बन्ध मे कार्य का पूर्ववर्ती होना अनिवार्य नही है। अत देकार्ट कार्य–कारण मे अनुवर्ती पूर्ववर्ती का सबध नही स्वीकार करते। यहॉ वे कार्यसिद्धात मे काल के प्रत्येक खण्ड को एक दूसरे को पूर्णत भिन्न तथा पृथक मानते है। यही कारण है कि देकार्ट को भौतिक घटनाओ की व्याख्या के लिए सहयोगवादी मत को स्वीकार करना पडता है।[५९]

स्पिनोज भी देकार्ट के कारण–कार्य के निगमनात्मक सबध को स्वीकार करते है। द्रव्य या ईश्वर सर्वथा निरपेक्ष है यह जगत का रवतत्र कारण हे। द्रव्य को स्वतत्र कारण के रूप नेचर नेचूरस कहा गया है। ईश्वर अपरिवर्तनशील होते हुए भी जगत का कारण है । ईश्वर ब्रह्म नही अर्न्तयामी कारण है। ईश्वर मे बुद्धि ओर इच्छा का द्वैत नही है। ईश्वर द्वारा अच्छी या बुरी सृष्टि मानना ईश्वर की सम्पूर्णता का परिचायक हे न कि उसकी पूर्णता का । यही कारण है कि ईश्वर विकल्प प्रस्तुत नही करता । ईश्वर मे इच्छा स्वाज्य न होने का अर्थ है सृष्टि प्रयोजनात्मक नही है । क्योकि प्रयोजनवाद को स्वीकार करने पर प्रयोजन अर्थात शुभ ईश्वर से भी ऊपर माना जायेगा । यदि वह क्रियाशील हे तो अपने स्वभाव के कारण यही उसकी स्वतत्रता है। ईश्वर पूर्ण और एकमाात्र कारण हे। अत जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता किसी उद्देश्य से नही होती उसी प्रकार ईश्वर का कार्य भी किसी प्रयोजन से नही होता।[६०]

लाइबनित्स का कारणता सिद्धात पर्याप्त कारण का नियम है जिसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त कारण का होना आवश्यक है। विश्व कारण–कार्य की श्रखला है किन्तु आदि कारण स्वयभू ओर अकारण हे । अनिवार्य शक्ति अविरोध के नियम

और सम्भाव्य शक्ति पर्याप्त कारणता सिद्वात पर आधारित हे ईश्वर ही अनेक सम्भावनाओ मे से ही किसी एक को सभव बनाता है।[६१] प्रकृति का अचेतन किन्तु अन्तस्थ हेतु विज्ञान जो लाइबनित्ज के पूर्व स्थापित समाज्सय के सिद्धात का स्मरण करता है। यह एक दुरूह स्थित है कि कैसे प्रकृति का विकास पुरुषो के आवश्यकता के अनूकुल हो जाता है दोनो को एक दूसरे से नितात विलक्षण मानना कठिन है। वास्तव मे पुरुष भूलवश प्रकृति के साथ सयोग कर लेता है और उसके प्रतिकार का उपाय इस समस्या ओर अधिक बढा देता है । ऐसा मत है कि बुराई उसका पूर्ण उपभोग करके दूर करना चाहिए। अत पुरुष को मोक्ष तभी प्राप्त होगा जब इसे प्रकृति के कार्यकलाप से सर्वथा विरक्ति हो जायेगी।[६२]

लॉक के कार्य–कारण नियम मे शक्ति की धारणा मिलती है जिनमे कुछ विशेष प्रकार के सबध का समावेश है। यहॉ शक्ति के दो प्रकार है– सक्रिय तथा निष्क्रय। सक्रिय शक्ति ही कारणात्मक क्रिया है लॉक के अनुसार एव कार्यणात्मक क्रिया का स्वरूप अत अनुभुति द्वारा जाना जा सकता है। लेकिन बाह्य विश्व के सबध मे लॉक अज्ञेयवादी है । अत बर्हिमुखी कारण सबधो के विषय मे जितने अनभिज्ञ है उतने ही अज्ञान हम पदार्थों के सार्वभौमिक सत्य के विषय मे। लेकिन लॉक यह दावा करता हैं कि प्रकृति विज्ञान निश्चित ज्ञान नही देता वह सम्भावित ही होता है। वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु का जिसका प्रारम्भ होता है कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए और हमारा सकल्प व्यापार कारण प्रक्रिया का अनुभव का श्रोत है।[६३]

बर्कले कारणता सिद्धात के अर्न्तगत कहता है कि प्रत्ययो का कारण आत्मा है। उत्पन्न करने की शक्ति अथवा वास्तविक कारणतत्त्व केवल आत्मा मे ही है । आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् सक्रिय नही होता। यहॉ प्रश्न उठता है कि यदि वस्तुए प्रत्यय है तथा प्रत्यय होने के कारण आत्मा के द्वारा सृष्ट है तो ऐसा नही कि ससार उस के विविध प्रपच मेरे मन की परिधि मे सीमित है। किन्तु बर्कले दृश्य या प्रत्यय के अस्तित्व के सबध मे कहता है कि यदि मै उसका प्रत्यक्ष नही करता हूॅ तो अन्य प्रत्यक्ष करता है ओर यदि कोई भी नही करता तो परमात्मा उसका प्रत्यक्ष करता है।[६४] बर्कले के कारणता सम्बन्धी सिद्धात मे एक विशिष्टता है जिसके अनुसार कारणत्व की क्षमता केवल सकल्प युक्त आत्मा मे ही है। किन्तु ससीम्म आत्माए भी परमात्मा

की सृष्टि है। अत स्पष्ट है कि कारण केवल एक ही है और वह स्वय परमात्मा है उसके अतिरिक्त अन्य सभी कार्य मात्र है । बर्कले मानते हे कि ऐसा कहना ठीक नही है कि अग्नि ताप उत्पन्न करती है बल्कि यह कहना ठीक है कि ताप अग्नि का चिन्ह है और यही कहना तर्क सगत और वैज्ञानिक भी है । यहाँ बर्कले कारण शब्द का प्रयोग निमित्त अर्थात सोदेश्य कारण के रूप मे करता है जोकि उसकी धार्मिक आस्था के अनुरूप हे अन्यथा इस धारणा के परिणति ह्यूम के सदेहवाद मे ही होगी।[६५]

सन्देहवादी ह्यूम ने कारण–सिद्धात को खण्डित कर विज्ञान जगत को हिला दिया था क्योंकि वे इसे सश्लेषणात्मक अवधारणा मानते थे। जिसके अनुसार कार्य अभिव्यक्त होने के पूर्व अपने कारण मे विद्यमान नही रहता। अत कार्य एक नूतन अभिव्यक्ति है। किन्तु काट ने कारण–कार्य नियम की स्थापना करते हुए इसे विश्लेषणात्मक माना ।

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। सृष्टि भी एक कार्य है जिसका कारण ईश्वर माना जाता है। पर यह स्वय स्वयभू ओर अकारण है। लेकिन काट ऐसी कारण सबधी मान्यता का खण्डन करता हुआ कहता है कि कारण–कार्य बुद्धि विकल्प है यह एक व्यावहारिक मान्यता है । इसीलिए यह पारमार्थिक विषयो पर लागू नही होता है। सृष्टि के सबध मे काट का मत है कि सृष्टि कल्पना मात्र अर्थात प्रत्यय मात्र हे। प्रत्ययो को जब वस्तु मान लेते है तभी विरोधाभास उत्पन्न होते है। जिसे काट सृष्टि विज्ञान सबधी विरोध कहता है जैसे यदि यह मान ले कि जगत की उत्पत्ति स्वतत्र कारण से हुई है तो अनवस्था दोष से बचने के लिए हम आदि कारण अर्थात् स्वतत्र कारण को स्वीकार करते हे किन्तु ऐसा स्वतत्र कारण स्वय अकारण होगा। परन्तु अकारण कोई घटना नही होती क्योंकि ऐसी वस्तु अनुभवातीत होगी जो हमारे अनुभव का विषय नही होगी और तब हम उन पर बुद्धि विकल्पो को लागू नही कर सकते है।[६६]

काट कारण कार्य सिद्धात को दोषपूर्ण मानते है। उनके अनुसार एक अतीद्रिय सत्ता को व्यावहारिक और ऐन्द्रिक जगत का कारण नही कहा जा सकता है । अत काट कहते है कि आपातिक जगत की सत्ता को आधार पर हम अनिवार्य अतीन्द्रिय सत्ता को नही प्राप्त कर सकते। यद्यपि आपातिक घटनाए अनिवार्य सत्ता की ओर सकेत करती है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही

होता कि अनिवार्य सत्ता की वास्तविकता है। अनिवार्य सत्ता केवल प्रत्यय मात्र है अत प्रत्यय के आधार पर वास्तविकता स्थापित नही हो सकती। दूसरे एक पूर्ण और निरपेक्ष सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करती क्योकि ऐसा न मानने पर कारण–सिद्धात उभयतो पास को प्राप्त होता है। इस प्रकार काट कारणता सिद्धात के आधार पर जगत के मूलतत्त्व को सिद्ध करने का विरोध करते है।[६७]

साख्य और काट दोनो ही मे इस प्रपचमय जगत का निर्माण अतीनद्रिय विषयी अर्थात पुरुषो तथा विषय या प्रकृति के सहयोग से हुआ हे। दोनो ही परलोक मे आत्माओ की स्वाध् ीनता को रवीकार करते है और प्रकृति के अस्तित्व को भी । क्योंकि विषयी अपनी निष्क्रियता के कारण अपनी सवेदनाओ को उत्पन्न नही कर सकता। दोनो के अनुसार हम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते है।[६८] फिक्टे कारणता पद का प्रयोग काट से सर्वथा भिन्न अर्थ मे करता है फिक्टे के सबध मे कारणता पद स्वतत्र क्रिया सामर्थ्य या परिवर्तन घटित करने की योग्यता का वाचक है। जबकि काट मे यह कारण्ता से अतिक्रामी है और इसी से स्वतत्र क्योंकि कारणता काट मे प्रातिभसिक जगत की एक विकल्पमूलक वर्गणा है । किन्तु यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि काट क्रिटिक आय प्रैक्टीकल रीजन मे कारणता का प्रयोग इस अर्थ मे भी किया है इसे वह काजा नाउमिना कहता है।[६९]

हेगेल परम्परागत कार्य–करण नियम की आलोचना करता है। उसके अनुसार कारण–सिद्धात के अर्न्तगत ससार की कोई भी घटना अकरण नही घटती है। किन्तु हेगेल कहता है कि ऐसा मानने पर परमकारण जो अकारण है की धारणा ठीक नही होगी । अत अनवस्था दोष बचने के लिए विश्व की व्याख्या करने के लिए किसी एक तत्त्व को परमकारण मानना तर्कसगत नही है । हेगेल के अनुसार परमतत्त्व का तार्किक स्वरूप सभव है। विश्व का परमतत्त्व कोई कारण नही वरन तर्क है। इसका विश्व कार्य नही अपितु निषकर्ष है। हेगेल परमतत्व और विश्व मे आधारवाक्य और निष्कर्ष का सबध मानते है। अत दोनो मे तार्किक अनिवार्यता का सबध है। परमतत्त्व वस्तु नही विज्ञान हे । वरतुए भोतिक और अभौतिक दोनो है। यह दैशिक–कालिक सत्ता होने से अनित्य ओर परिणामी है। जबकि विज्ञान देश–काल से

परे नित्य और अपरिणामी विज्ञान विशेष नही सामानय हे। व्यक्ति मरता है जाति तो नित्य है। यह विज्ञान ही विश्व के सर्वप्रथम सिद्धात है । विज्ञान रवत साध्य है अत हेगेल का विज्ञान निरपेक्ष विज्ञान है किन्तु हेगेल के विज्ञान वस्तुओ से पृथक नही है। हेगेल विज्ञान को वस्तु मे अनुस्यूति मानता है क्योंकि विज्ञान वस्तु के धर्म हे। दूसरे शब्दो मे विज्ञान मूर्त सामान्य है अर्थात् समान्य–विशिष्ट–विशेष है । यही हेगेल का परमतत्त्व है।[७०]

हेगेल सृष्टि वर्णन करते हुए मानते है कि विज्ञान जो कि अमूर्त है। किन्तु वे अपने आप मे अमूर्त रूप मे नही रह पाते। अमूर्त मे मूर्त अन्तनिहित हे और अमूर्त सृष्टि प्रकिया द्वारा अपने मूर्त रूप को अभिव्यक्त करता है । यही प्रकृति के रूप मे अभिव्यक्त होता है इस प्रकार आतरिक विज्ञान का बाह्य रूप है । प्रकृति वर्णन मे हेगेल देश को पक्ष मानते हुए ससार से सभी पदार्थों को इस अनत दिक के परिणाम दिक रिक्त ओर अमूर्त है। शुद्ध विज्ञान के समान इसका कोई स्वरूप नही है। दिक सृष्टि प्रकिया के निम्नतर रतर पर ओर आत्म जगत उच्चतम् स्तर पर है । प्रकृति की सभी वस्तुए इन दोनो के बीच हे। हेगेल के अनुसार सतत विकास निम्न से उच्च की ओर अग्रसर होती है। सम्पूर्ण जगत चेतना का विकास है।[७१]

हेगेल का विश्व विकासात्मक रूप मे विद्यमान है । निरपेक्ष विज्ञान अर्थात ईश्वर द्वारा विश्व की रचना होती है । ईश्वर और विश्व अभियोज्य सबध है अर्थात् विश्व ईश्वर का ही रूप है । विश्व की विशिष्ट वस्तुओ मे इस परमतत्त्व के विकास का स्तर अवश्य भिन्न है । यथा भौतिक वस्तुओ पेड पौधो पशु पक्षियो तथा मनुष्यो मे परमतत्त्व का क्रमश उत्तरोत्तर अधिक विकास हुआ । अत यह बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नही तो बिना विश्व के ईश्वर भी सम्भव नही है। सामान्य प्रत्यय अर्थात् मूल धारणाए (कटेगरीज) ही वस्तु है। कार्य कारण की मूल धारणा ही है। हेगेल कहता है कि चित ओर सत अर्थात बोध और सत्ता दोनो एक ही है। अब हेगेल के विज्ञान विचारनिष्ठ मूल धारणाए हे जो तार्किक सत्ता कहलाती है। यद्यपि यह प्रयोजनमूलक रचना है।[७२]

ब्रैडले के अनुसार कार्य–कारण भाव वस्तुत समय के अन्दर हो रही परिवर्तन सम्बन्धी

निरन्तर प्रक्रिया की पुनर्रचना है। पृथक अवस्थाओ का परस्पर मिलना और प्रक्रिया का प्रारम्भ इनके बीच कही कोई विराम या अन्तरावकाश नही है। कारण और कार्य मे काल को लेकर भेद नही किया जाता उसमे काल सम्बन्धी भेद केवल कल्पनात्मक है। क्योंकि यदि कारण सेकेण्ड के एक अश भर भी रहा तो अनन्त काल तक भी रह सकता है। कार्य–कारण भाव का सूत्र एक कल्पनात्मक एकता है। जिसकी खोज और जिसका निर्माण हम परिवर्तनो से निरन्तर क्रम मे करते है। किन्तु उस क्रम के प्रवाह मे इसकी कोई वास्तविक सत्ता नही है। पर यह पहले व्याप्तियों के जगत मे रहता है।[७३] इसी सम्बन्ध मे व्हाइटहेड का मत है कि घटनाओं के विषय मे हमे ऐसा विचार नही करना चाहिए कि वे एक प्रस्तुत समय मे एक प्रस्तुत देश मे घटती है और प्रस्तुत स्थायी सामग्री मे हुये परिवर्तनों वाली है। काल–देश और सामग्री घटनाओं के सहायक है। सापेक्षता की पुरानी प्राकल्पना के आधार पर काल और देश सामग्री के मध्यगत सम्बन्ध है। हमारी प्रकल्पना के आधार पर वे घटनाओ के मध्यगत सम्बन्ध है। अत ब्रैडले के अनुसार परमकारण अपने मूलस्वरूप मे सम्बन्ध निरपेक्ष निर्गुण और निर्वैयक्तिक सत्ता है। हमे जिस जगत का ज्ञान होता है वह सत नही आभास मात्र है। चूँकि ब्रैडले विज्ञानवादी है। अत उनके मत मे जगत भौतिक नही आध्यात्मिक है।[७४]

बर्गसा के अनुसार सृजन का मूल आधार प्राणतत्त्व जिसे बर्गसा ईश्वर भी कहता है। जिसमे कोई भी पूर्वनिर्मित वस्तुए विद्यमान नही है। वह अविछिन्न जीवन प्रक्रिया और स्वातन्त्र्य है। सृष्टि कोई रहस्य नही है। वस्तुत जड और चेतन दोनों का स्रोत एक ही है। यद्यपि हमें जगत मे दो परस्पर विरोधी शक्तिया दिखाई देती है, एक है एकीकरण और सगठन और दूसरा है विभेदीकरण और विघटन । ससार में सबकुछ गतिशील प्रवाहमान और परिवर्तनशील है। यहाँ बर्गसा का मत है कि गति और परिवर्तन की समुचित व्याख्या उसी तत्त्व के द्वारा की जा सकती है। जो नित्य होने के साथ सतत् परिवर्तनशील हो और ऐसा तत्त्व है प्राणतत्त्व। सृष्टि की निष्पत्ति प्राणतत्व के द्वारा ही होती है जो स्वतत्र रूप मे स्वय को विभिन्न दिशाओ के विविध प्रकार से अभिव्यक्त कर सतुलन और समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है जैसे की एक ही कोशाणु विभाजित होकर अनेक कोशिकाओं को उत्पन्न करता है। अत सृष्टि के भीतर समन्वय इसलिए नही होता कि उसके भीतर सभी वस्तुए किसी एक ही लक्ष्य की ओर सचेष्ट

प्रक्रिया करती है। बल्कि समन्वय का कारण है कि सभी वस्तुए एक ही प्राणशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियॉ है।[७५]

व्हाइटहेड के कारणता सिद्धात मे मूलकारण ईश्वर वैचारिक कोटि व्यवस्था का ही एक अग है। जिसका सत् तथा जगत प्रक्रिया की व्याख्या मे अपना अनिवार्य स्थान है। सत् का मूलरवरूप सृजनात्मक है। सत प्रवाह की इकाई वास्तविक तत्त्व है। जगत प्रक्रिया वास्तविक तत्त्व तथा शाश्वत वस्तु के सहयोग से चलती है। इस प्रकार सृष्टि प्रकिया ईश्वरीय अनुभव केन्द्र में चलती है। हर क्षण की सृष्टि ईश्वरीय अनुभव का अग है। जहॉ पर उसे नई सभावना का नई शाश्वत वस्तु का रूप मिलता जो दूसरे अग की सृष्टि में व्यक्त होती है। इस तरह ईश्वर भी सृष्टि प्रक्रिया का अग है। अत जैसे हर क्षण मे नये–नये रूप लेते हुए जगत प्रक्रिया प्रवाहित होता हुआ अग्रसर है। ईश्वर का रवरूप कोई पूर्णतया निश्चित रवरूप नही है वह भी सृजनात्मकता का अग है। व्हाइटहेड के मत मे जगत–सम्बन्धी तात्त्विक विचार आगिक दर्शन पद्धति का है जगत हर क्षण सृष्टि की निरन्तर प्रवाह है। इस प्रवाह का अनिवार्य अग सृष्टिकर्ता ईश्वर भी है।[७६]

आधुनिक वैज्ञानिक न्यूटन ने जगत को प्राकृतिक नियमो के द्वारा सचालित माना है। उनके अनुसार ईश्वर एक बार सृष्टि की रचना कर उसे जो प्रक्रिया प्रदान करता है। उसमे वह बार–बार हस्तक्षेप नही करता इस प्रकार न्यूटन का विचार तटस्थेश्वरवादी विचार का पोषक है लेकिन जॉन हिक[७७] के मत मे विश्व–रचना–सम्बन्धी सिद्धात में रचना का जो अर्थ है वह सामान्यत पहले से विद्यमान सामग्री को नये रूप प्रदान करना मात्र नही है। अपितु इसका तात्पर्य है कि अभावसे रचना करना अर्थात अपनी इच्छानुसार सृष्टि को तब अस्तित्व में लाना जब केवल ईश्वर की सत्ता थी परन्तु जार्ज गैलोवे[७८] इससे सहमत नही है। अपितु उसके अनुसार अभाव से सृष्टि–सम्बन्धी विचार मे व्याघात निहित है । वस्तुत जब हम रचना करने की बात करते है तो हमारे लिये मानवीय क्रिया से प्राप्त उदाहरणो और अनुभवो को छोडना बिल्कुल असम्भव है। किन्तु यह भी सच है कि इनके द्वारा इस बात की समुचित व्याख्या नही हो सकती कि स्वय इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है ?

(III) सृष्टि-विकासवाद

साख्य दर्शन के विकासवाद मे दो तत्त्व माने गये हे। एक प्रकृति जिसका सम्पूर्ण विश्व परिणाम है ओर दूसरा पुरुष जिसका विश्व प्रक्रिया के विकास मे कोई महत्वपूर्ण योगदान नही है। पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति चेतन की भाति प्रवृत्त होने लगती है तब प्रकृति के तीनो गुण तीन भिन्न प्रकार से क्रियाशील होते है। इसी विजातीय परिणाम का फल सृष्टि रचना है। साख्य को गुण–गुणी का भेद मान्य नही है। गुणी अथवा द्रव्य के एक विशेष प्रकार से क्रियाशील होने को ही गुण कहा जाता है।[७९] इस प्रकार गुण साम्य के कारण जब वह अव्यक्त होती है तब प्रलय होती है। गुण वैषम्य के कारण जब वह व्यक्त होती है तब उससे इस विविध विश्व का विकास होता है। साख्य दर्शन के अनुसार विकास प्रकिया मे साम्यावस्था मे वैषम्यावस्था अविशेष भावों से विशेष भावों का और अयुत्सिद्ध अव्यवयों समूहों से अयुत्सिद्ध अवयवों समूहों का उदय होता है।[८०] साख्य दर्शन के विकासवाद में दो बाते महत्वपूर्ण है पहली की साख्य देश–काल आदि पदार्थों की पृथक् या स्वतत्र सत्ता नही मानता अपितु ये सभी प्रकृति के ही परिणाम है। दूसरा की भोतिक जगत की व्यष्टियॉ ही नही मनोवैज्ञानिक अर्थात मानसिक जगत की व्यष्टियॉ भी प्रकृति के ही दूरवर्ती परिणाम है।

स्पष्ट है कि साख्य दर्शन प्रकृति की निरन्तर परिणमनशीलता को स्वीकार करता है। जो रजस गुण की स्वाभावत गतिमयता के कारण है।[८१] साख्य में किसी अपूर्व की कल्पना नही की गई है वह किसी ईश्वर को भी नही मानता विश्व–प्रक्रिया अपने मे पूर्ण और निरपेक्ष है तथा उसमे घटित होने वाली प्रत्येक घटना का कारण उसके अतीत मे है। अत यहॉ यात्रिकवाद का आभास होता है किन्तु ऐसा नही है। क्योकि साख्य मे प्रकृति का विकास पुरुष की मुक्ति के लिए होता है। अत साख्य का सृष्टि–विकासवाद कैवल्यार्थम् होने से सप्रयोजन है।[८२]

साख्य जगत के सर्वोच्च तत्त्व का विचार एक ऐसे एकत्व के रूप मे करता है जिसका तत्त्वो के साथ यथार्थ विरोध है। एक अमूर्त इकाई को या तो निरतर क्रियाशील या निरन्तर निष्क्रिय होना चाहिए। प्रकृति स्वरूपत अस्थिर नही है। अत इसे अनिवार्य रूप से भिन्न–भिन्न

होने की आवश्यकता नही है। प्रकृति जो अपने अन्दर सब वस्तुओं की सम्भावनाओ को धारण करती है । विचार के उपकरणों के रूप में और विचार के विषयो के रूप मे विकसित होती रहती है। यहाँ वरतुए सदा उत्पन्न की जाती है किन्तु नये रूप मे उत्पन्न नही होती उत्पत्ति केवल अभिव्यक्ति मात्र है और विनाश तिरोभाव मात्र है। उक्त दोनों प्रतिक्रियाकारी शक्तियो की अनुपस्थिति तथा उपस्थिति पर निर्भर करते है। बाधाओ के हटने पर ही वस्तुए अभिव्यक्त होती है। जो अभिव्यक्त होता है वह सत्त्व का रूप है। अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है तमस बाधा है। जो सत्त्व की अभिव्यक्ति के मार्ग मे उपस्थित होती है। जिस पर विजय प्राप्त करनी है।[८३]

पूर्व सुकरातवादी ग्रीक दर्शन मे एक ऐसी विचारधारा मिलती है जिसमे नित्य परिणामिकता (बिकमिग) को नित्य सत्ता (बिइग) से उच्च स्थान दिया गया है इस परम्परा का प्रमुख दर्शन हेराक्लाइटस था। उसने पारमेनिडीज की एक अनादि अपरिवर्तनशील सत्ता की धारणा और जीनो द्वारा गति और गत्यात्मकता के विरुद्ध की गई आलोचनाओं का प्रबल विरोध किया था। इसी को लम्बे अन्तराल के बाद बर्गसा ने जिस परिवर्तन की धारणा को स्वीकार कर एक नई दिशा दी ।[८४]

अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक एक रवाभाविक पूर्ण या विकसित आकार अथवा रूप है और प्रत्येक वस्तु उसी आकार को प्राप्त करने की क्रिया मे लगी हुई है। विश्व मे समस्त पदार्थ अपने–अपने आदर्श आकारों की ओर विकसित होती है। प्लेटो के विरूद्ध अरस्तु का मत है कि भौतिक द्रव्य अर्थात उपादान और उसका आकार अलग–अलग नही है। आकार वस्तु के उपादान मे रहता है और स्वय वस्तु इस आकार को अभिव्यक्त करने अथवा प्राप्त करने का लगातार प्रयास करता है। जिसे हम वस्तु या पदार्थ कहते है वह बीजभाव से वास्तविकता या वास्तविक भाव की ओर सक्राति या सक्रमण–क्रिया है। बीज भाव से वास्तविकता की ओर सक्रमण के लिए एक ऐसे पदार्थ की सहायता अपेक्षित होती है जो स्वय वास्तविकता रूप है। वास्तविकता की सहायता से ही बीज भाव वास्तविक बनता है। अरस्तू के दर्शन मे विकास का अर्थ उन्नति या प्रगति नही है। उराका अर्थ केवल प्रकिया विशेष का पूरा होना है। विश्व प्रक्रिया अपने को पूर्ण करने मे अवश्य लगी हुई है किन्तु जिस पूर्णता की प्राप्ति उसका लक्ष्य है उसे

एक उच्चतर दशा नही कह राकते। इस प्रकार अरस्तू का विकासवाद सप्रयोजन है।[८५] यहाँ अरस्तू के विकास मे भी साख्य के विकास की भाति विकास की प्रक्रिया में सब कुछ पूर्व से निहित है।

डॉ० सील[८६] के मत में प्रत्येक घटना मे तीन प्रकार के मूलतत्त्व है। बुद्धिगम्य सार शक्ति और घनत्व। निकट सयोग में ये वरतुओं के अन्दर अनिवार्य रचनात्मक अवयवों के रूप में प्रवेश करते है। किसी वस्तु का सार वह है। जिस रूप में वह अपने को बुद्धि के समक्ष अभिव्यक्त करती है और इस प्रकार की अभिव्यक्ति के बिना चेतनामय जगत में कुछ भी नही रह सकता किन्तु यह सारतत्व तीन लक्षणो मे से केवल एक है। यह न तो पुज को और न गुरूत्व को ध ारण करता है। न यह बाधा ही देता हे ओर न कोई कार्य ही करता हे। उसके बाद तमस का यह अश है जो पुज निष्क्रियता भौतिक सामग्री है। जो गति के मार्ग में तथा चेतनामय चितन के भी मार्ग मे बाधा देता है। किन्तु बुद्धि सामग्री तथा भौतिक सामग्री कोई कार्य नही कर सकती और अपने आप मे रचनात्मक क्रियाशीलता से रहित है। समस्त कार्य रजोगुण से होता हे जो शार्क का अश है और जो भौतिक द्रव्य की बाधा पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को भी शक्ति प्रदान करता है जिसकी आवश्यकता इसे अपने चेतनामय नियमन और अनुकूलन के लिए होती है।

हेगेल के शब्दों म प्रकृति निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति है जो ससार को अस्तित्व मे लाती है। यदि हम ऐसी खाई को लेकर चले जो भरी नही जा सकती तो ससार का एकत्व कभी बुद्धिगम्म न होगा। जैसे ही निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय अभिज्ञ होती है वह सर्वोपारि प्रमाता बन जाती है।[८७] प्रकृति को किसी अर्थ मे न तो एकत्व और न सामजस्य ही माना जा सकता है। यह मूर्त रूप सामान्य नही है जो भिन्न–भिन्न सत्ताओ के बधन मे एकत्व रखता है अथवा सत का नग्न एकत्व भी नही है जो न सबका लक्षण है। यह गुणों की एक क्षुब्धावस्था है प्रकृति के क्षेत्र मे व्यवस्था लाने तथा उसे सार्थक करने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। प्रकृति के तीनो गुणों के धारण करने से ही जगत का आत्मविरोधी स्वरूप प्रकट होता है क्योकि पूर्वता अथवा यर्थाथता वह है कि जिसमे तीनो गुणों के विरोध का दमन कर दिया गया है अथवा

उसका अतिक्रमण कर लिया गया है। किंतु प्रकृति का रवरूप ऐसा नही है इसलिए यथार्थ नही है प्रकृति की प्रक्रिया की अन्तहीनता ही इसे अयथार्थ और सापेक्ष बना देती है।[८८]

फिक्टे के सिद्धात मे व्यावहारिक पक्ष विषयिता के परम सिद्धात के रूप मे परिणत हुआ। शेलिग व्यावहारिक तथा रसात्मक के महत्व को स्वीकार करते हुए भी फिक्टे के विरुद्ध प्रकृति को एक ऐसे रूप में ग्रहण करता है जिससे आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। हेगेल इन सभी पक्षो को ग्रहण करता है और परम के एक ऐसे दर्शन को प्रस्तुत करता है जिसमे विषयीनिस्ठ तथा विषयनिष्ठ सवेदन तथा बुद्धि रौद्धान्तिक तथा व्यावहारिक सभी को पररपर विरोधी होते हुए भी अनिवार्य रूप में लिया गया है जो सम्पूर्ण की गत्यात्मकता मूर्तता तथा उसकी प्राणवत्ता में योगदान करते है ।[८९] फिक्टे के सिद्धात सक्रियता के रूप मे अह तथा अनाह के बीच जो द्वैत उत्पन होता है । वह अपरिहार्य रहता है तथा परमहस का स्वरूप अन्तत अनुभव के परे रहता है।[९०]

शैलिग के मत मे सृष्टि का प्रारम्भ एक के द्वारा आत्मजनन की कामना अर्थात एकोऽह बहुरयाम् से होता है अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि अतल अर्थात आधार आदि असत् में प्रकट वासना के रपन्दन होता है। दूसरा प्रारम्भ प्रेम के सकल्प से होता है जिसके द्वारा प्रकृति मे शब्द ब्रह्म (वर्ड) का विस्फोट होता है और ईश्वर अपना व्यक्तित्व देता है। साथ ही एक अद्वय सत् ही प्रकृति माया के अन्ध गह्वर मे और शाश्वत प्रकाश मे व्याप्त है एक ही सत् वस्तुओं की कठोरता और एकाकीपन को और उनके सम्मिलित और स्नेह को व्याप्त करता है एक ही सत् शुभ मे प्रेम के सकल्प के और रूप मे अध के क्रोध के रूप मे व्यक्त होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि अद्वय तत्त्व वस्तुत ही अपने को द्विधाविभक्त करता है। ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति एक निर्धारित और यादृच्छिक क्रिया नही है बल्कि एक नैतिक रूप से अनिवार्य कर्म है जिसमे कि प्रेम तथा शिवत्व विजयी होते है।[९१] शैलिग की व्यवस्था में नेचुरान को साख्यिकीय प्रकृति नही कहा जा सकता क्योंकि उसकी पृथक सत्ता नही है। इसका स्वरूप मूलाविद्या या मूल माया के समान है। क्योकि ईश्वर एक है इसलिए जगत भी सभव्यत और वरतुत एक ही होगा।[९२]

शैलिग के मत मे समग्रसत्ता अह तथा अनह प्रकृति के बीच विभक्त है फलत समस्या उनके समवय मे है। इस सम्बन्ध मे हेगेल को फिक्टे का मत उचित लगता है कि वाछित समवय सभव नही है। फिक्टे अह को प्रकृति के ऊपर मानता है। उसके अनुसार अह को विषय या वस्तु के रूप में नही अपितु परमह के रूप मे देखना चाहिए। यद्यपि अह को विषायिता रवय उसके तथा विषयता के बीच समवय का माध्यम बन सकती है परन्तु इस बिदु को फिक्टे उसकी चरम तक नही ले जाता। फलत अह तथा अनह द्वैत बना रहता है परन्तु हेगेल अपरिहार्य द्वैत की उस स्थिति को रवीकार नही करता। न ही शैलिग की अभद की अवधारणा उसे आकर्षक लगती है। हेगेल काट ही भॉति फिक्टे के असीम अहम के विषय मे कोई निरूपण देने को तैयार नही है। फिक्टे की तरह हेगेल द्वैत की वारतविकता को रवीकार करता है तथा ससीम अह के इस द्वैत के परिहार के सतत प्रयास के महत्व को भी रवीकार करता है। परन्तु उसके मत मे असीम अहबोध से निताात परे नही है। दूसरी और शैलिग के साथ वह समवय की आधारभूत एकता के सिद्धात को भी नही मानता है परन्तु वह इस सिद्धात को बोध के भिन्न रूप में ग्रहण करता है।[६३]

विकास मे प्रत्येक अनुवर्ती अवस्था पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम है न केवल पूर्ववर्ती अवस्था का अतिक्रमण है आपितु साथ ही उसका सहार एव सरक्षण भी है। हेगेल कहता है कि इस आभ्यन्तरिक विकास की अन्तर्वस्तु अपने को आत्मचेतन मे अभिव्यक्ति करती है।[६४] अन्तिम सत्य को केवल द्रव्य नही अपितु विषयी के रूप मे देखना चाहिए। अर्थात् परमसत् जडवत् मृत अथवा निष्क्रिय न होकर असीम जीवन तथा आध्यात्मिकता से मुक्त है। किंतु अरस्तू के सबध मे हेगेल का मत इस अर्थ मे भिन्न है कि हेगेल ने चितन को एक परम सत् के रूप मे न देखकर उसे अन्तर्वस्तु के रूप मे देखने का प्रयास किया।[६५]

हेगेल ने विश्व–प्रक्रिया के समग्र भाव से नियमित होने पर बल दिया उनकी यह प्रकृति विज्ञान के अनुकूल थी। उनके अनुसार विश्व का सामान्य नियम द्वन्द्न्याय है। निषेध स्वय व्यापकता को हटाकर रामजरय रूप पूर्णता को प्राप्त करने के लिए है। अत अरागजपूर्णता या परम प्रत्यय को भी विश्व–प्रक्रिया का नियामक वहा गया है। क्योंकि परम प्रत्यय को भी विश्व

विकास का लक्ष्य अर्थात प्रयोजन कारण है।[९६] हेगेल के लिए निषेध निरपेक्ष रूप मे निषेध नही है अपितु किसी पूर्ण मे किसी अश का निषेध है। यही नही वह विशेषीकरण भी है। निषेध का जितना अस्वीकार है उतना ही स्वीकार भी है।[९७] निषेध का हेगेल की डायलोक्टिक मे प्रथम स्थान है। हेगेल के मत मे प्रकृति स्वरूप अर्थात अपने सम्बोध की दृष्टि से दिव्य है परन्तु अपनी सत्ता मे वह अपने प्रत्यक्ष के अनुरूप प्रतीत नही होती है।[९८] दिक् तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति तो तब होती है जब प्रकृति अपना अतिक्रमण कर आत्म् रूप को प्राप्त करती है। प्रकृति आत्म की पूर्वावस्था है स्वय आत्म नही चित्त स्वतत्रता का क्षेत्र है जबकि प्रकृति अनिवार्यता का।[९९] हेगेल के शब्दों मे प्रकृति निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति है जो ससार को अस्तित्व मे लाती है। यदि हम ऐसी खाई बना ले जो भरी न जा सके तो ससार का एकत्व कभी बुद्धिगम्म नही होगा। ज्यो ही निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय मे आभिन्न होती है वह सर्वोपरि प्रमाता बन जाती है।[१००]

अरस्तू की तरह विश्व–ब्रहाण्ड विकास–प्रक्रिया है जो एक निश्चित दिशा की ओर बढ रही है। हेगेल के मत में विश्व मे तर्कबुद्धि अथवा बुद्धितत्त्व व्यापत है। अर्थात विश्व की हर एक घटना पूर्ण रूप से नियामित है। प्रत्येक घटना विश्व के अस्तित्व मे नियमो का पालन कर रही है। बुद्धि और विश्व मे ज्ञाता तथा ज्ञेय मे कोई द्वैत नही है वे दोनों ही एक बुद्धितत्त्व या तर्कबुद्धि की अभिव्यक्तियॉ है विश्व प्रक्रिया को विभिन्न कोटियो मे उसके विकास का क्रम व्यक्त करती है जो बुद्धितत्त्व विश्व–ब्रह्माण्ड मे व्यापत है वो एक सरल इकाई न होकर एक तत्र है। विश्व के बुद्धितत्त्व को हेगेल ने प्रत्यय अथवा परम प्रत्यय माना है समस्त अपूर्ण प्रत्ययो की परिसमाप्ति परम प्रत्यय मे होती है इसी परिसमाप्ति या पर्यवसान के लिए धारणाओं मे विकास होता है। एक अपूर्व धारणा का दूसरी आशिक पूर्ण धारणा से बाध्य हो जाता है और एक तीसरी धारणा में इन पहली विरोधी धारणा का सामजस्य हो जाता है। यह तीसरी धारणा भी आगे चलकर अपनी विरोधी धारणा को उत्पन्न करती और उनके सामजस्य के लिए फिर एक नवीन धारणा का उदय होता है। पक्ष प्रतिपक्ष और सम्पक्ष इस क्रम से धारणा जगत का विकास होता है मानवी चिंतन इस विकास प्रतिफलित करता है। परम प्रत्यय विश्व- प्रक्रिया का अमूर्तसार है वह विश्व की आत्मा है। परम प्रत्यय विश्व–प्रक्रिया मे बुद्धितत्त्व के रूप मे व्याप्त है। जिस प्रकार

धारणाये या प्रत्यय पूर्णता की ओर विकसित होती है उसी प्रकार विश्व की मूर्त व्यष्टिया भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है। धारणा जगत की भॉति प्रकृति जगत मे भी द्वद्व नियम का साम्राज्य है। वास्तव मे मूर्त जगत अमूर्त प्रत्यय जगत का ही शरीर अथवा ब्रह्म रूप है। प्रत्यय जगत मूर्त जगत की आत्मा है। हेगेल के अनुसार जो कुछ वास्तविक अर्थात् तात्त्विक है वह बुद्धिगम्य है और जो बुद्धिगम्य है वही वास्तविक है अर्थात अनुभव जगत के समस्त क्षेत्रो मे तर्कबुद्धि का साम्राज्य है।[१०१]

यान्त्रिक विकासवादी लाप्लासा रपेन्सर आदि के अनुसार विश्व यान्त्रिक और विकासशील है। यान्त्रिक का अर्थ है विश्व–प्रक्रिया मे कोई प्रयोजन अथवा उद्देश्य नही है अपितु प्राकृतिक नियमो का अखण्ड साम्राज्य है जिसमे कोई हरतक्षेप नही कर सकता प्राकृतिक घटनायें अतीत कारणों से सचालित होती है अर्थात प्रकृति एक अखण्ड कार्य–कारण श्रृखला सम्पूर्ण विश्व जीव तथा चेतन का विकास जड परमाणुओ के आकस्मिक सयोग से हुआ। इसके अनुसार जडद्रव्य (मैटर) गति (मोशन) तथा ऊर्जा (एनर्जी) विकास के मूलतत्त्व है। इसके अनुसार स्वअस्तित्ववान परमाणु गति के कारण एक दूसरे से सयुक्त होते है तथा अलग हो जाते है। जड और चेतन का भेद परमाणुओ की व्यवस्था सख्या तथा उसकी जटिलता की मात्रा पर आधारित है। स्पेन्सर का एक परम या निरपेक्ष तत्त्व है। आदिकारण मे विश्वास था। साख्य के विकास के साथ इसके मत से आश्चर्यजनक समानता है। यद्यपि रपेन्सर उस परम को अज्ञेय मानता है। उनका विषय है कि ज्ञान का विषय सापेक्ष तत्त्व है। जो द्रव्य गति ओर ऊर्जा है।[१०२] इस सम्बन्ध मे मत है कि स्पेन्सर का विकास भौतिक द्रव्य का सगठन और गति का सहवर्ती विखरन या क्षय है। जिसमे भौतिक द्रव्य अनिश्चित अससत सजातीयता से निश्चित अससक्त और विजातीयता की ओर जाता है और उसका प्रतिधृत गति मे सामानान्तर रूपान्तरण होता है।[१०३]

जैविक विकासवाद मे लैमार्क डार्विन आदि के अनुसार विश्व मे विद्यमान समस्त जीवो का वर्तमान रवरूप विकास का फल है। जीव शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे लिया गया है। जिराके अनुरार वनरपति पशु आदि राभी प्राणी आ जाते है। इरा रिद्धात के अनुरार राभी जीव परिवर्तनशील है और उनके मध्य कोई मूल भेद नही है। विकास क्रम मे सर्वप्रथम कुछ बहुत ही

सरल जीवित कोशिकाए उत्पन्न हुई और उन्ही के क्रमिक विकास के परिणाम स्वरूप आज इतने जटिल और विभिन्न प्रकार के जीव उपलब्ध होते है। लेकिन सरल अथवा मूल जीवित कोशिकाओ की उत्पत्ति क्यो और किस प्रकार होती है। इसका कोई निश्चित उत्तर जैविक विकासवाद मे नही मिलता।[१०४] डार्विन के अनुसार स्रष्टा ने कुछ निर्जीव जड जनन कोशिकाओ मे जीवन डालकर आदि जीवित कोशिकाओं को उत्पन्न किया और जब जीवित कोशिकाओ का निर्माण होता है तो स्वयमेव प्राकृतिक नियमो द्वारा विकसित हो रही है।[१०५] डार्विन के विकासवाद मे प्राकृतिक वरण अर्थात् योग्यतम की अतिजीविता का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योकि योग्यतम की अतिजीविता को ही डार्विन ने प्राकृतिक वरण कहा हे।[१०६] सघर्ष मे पराजित जीवों का विनाश तो नही होता किन्तु अपने वाद अपनी सन्तान छोड जाने का अवसर उन्हें नही मिलता या बहुत ही कम मिलता है।[१०७] डार्विन के मत मे परिवर्तन अकारण अथवा आकस्मिकरूप से जीवित कोशिकाओ मे हो जाते है। आकस्मिक कहने का तात्पर्य यह नही है कि उनका कोई कारण नही है। ऐसे परिवर्तनो का कारण अवश्य होता है। किन्तु इन कारणो का पूर्णज्ञान हमे नही होता।[१०८] वशानुगत परिवर्तन के सम्बन्ध मे डार्विन का मत है कि ऐसा कोई परिवर्तन जो वशानुगत नही है हमारे लिये महत्वपूर्ण नही है तो प्रश्न है कि किस प्रकार के परिवर्तन सक्रात होते है और इनके सक्रात होने का कारण क्या है ? इस प्रकार के प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर डार्विन नही देता। अत वह स्वय कहता है कि वशानुगत से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न अधिकाशत अज्ञात ही है।[१०९]

बर्गसा सृजनात्मक विकासवाद में प्रातिभ की प्रसशा करता हुआ मानता है कि बुद्धि जैविक विकास के रहस्य को नही समझ सकते।[११०] उनके मत में जीवन शक्ति या प्राणात्मा ही एलेनविटल ही सम्प्रभु अर्थात परमतत्त्व । यह एक मूलशक्ति है वस्तु नही यह निरन्तर सृजन की माग है। जीव विकास का इतिहास तीन पृथक दिशाओ की ओर सकेत करता है। वनस्पति की जडता पशुपक्षियों की नैसर्गिक प्रवृत्तियॉ और मानव में बुद्धि। बर्गसा के अनुसार अनुकूलता विकास की एक आवश्यक अवस्था अवश्य है। परन्तु उसका कारण नही सत्य तो यह है कि अनुकूलता का सिद्धात विकास की प्रकिया मे मोड या घुमाव का ही वर्णन करता है न की उसकी दिशाओं की या स्वय इस प्रकिया की व्याख्या ।[१११] जैविक विकास वास्तव में लाखो व्यक्तियो के द्वारा विभिन्न दिशाओं मे हुआ है। जिनमे से प्रत्येक एक चौराहे पर आकर समाप्त होती है।

वहॉ रो फिर नये–नये मोड लेती हुई अपने मार्ग पर अग्ररार होती है।[११२] जीवन एक रवतत्रता है। जो आवश्यकता मे प्रवेश करती है। यदि जडतत्त्व में इस सीमा तक नियत्रण होती की उसमें शिथलीकरण के लिये कोई स्थान ही न हो तो जीवन असम्भव होता।[११३] बर्गसा के अनुसार विकासवाद न तो यत्रवाद न ही प्रयोजनवाद यत्रवाद की मूलधारणा अतीत व भविष्य को वर्तमान के गणनीय प्रक्रिया के रूप मे देखती है दूसरे शब्दो मे सबकुछ पूर्वप्रदत्त है। किसी भी प्रकार की नवीनता सम्भव नही है। इसी प्रकार प्रयोजनवाद मे भी सबकुछ पूर्वनिश्चित है। इस तरह चरम हेतुवाद केवल उल्टा हुआ यन्त्रवाद है।[११४] मूलप्रेरक शक्ति सामान्य है। समरूपता तो पीछे है न कि आगे है। यह केवल धकेलने वाली शक्ति की एक रूपता के कारण है न कि किसी रागान्य लक्ष्य के कारण ।[११५] प्रगति का तात्पर्य प्रथग प्रेरणा रो नियत्रित एक रामान्य दिशा मे बढना है तो नि सन्देह प्रगति हुई है परन्तु यह प्रगति जैविक विकास की केवल दो या तीन बडी शाखाओं मे हुई है। इन शाखाओ के बीच मे अनेक छोटे–छोटे मार्गों की भीड है। जिसमें अवरुद्धता अध पतन आदि भी दिखाई पडते है।[११६] बर्गसा के अनुसार जीवन शक्ति ईश्वर का रूप है। ईश्वर एक ऐसा स्रोत है जहॉ से उसके रवतत्र प्रयास के फलस्वरूप प्रवृत्तियॉ या तरगे निकलती है जिनमें से प्रत्येक एक जगत बना देती है। किन्तु ईश्वर में कोई बनी बनाई वस्तु नही वह तो जीवन कर्म और रवतत्रता की निरन्तरता है।[११७]

उद्गामी विकासवाद के अनुसार विकास में बिल्कुल नवीन गुणों का उद्भव होता है अर्थात ऐसे गुण का आर्विभाव जिसकी कल्पना पहले से न की जाती हो इस सिद्धात के अन्तर्गत एस० एलेक्जेण्डर का मत है कि देश–काल एकतत्त्व है। जो शुद्ध गत्यात्मक है। यह स्वतत्र गति रूप है और जड द्रव्य उससे उत्पन्न होता है । यदि देश–काल मिलकर एक ही तत्त्व है जिसमे बिन्दु क्षण अशभूत है। इन बिदु क्षणों में क्रमश जडद्रव्य की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् क्रमश रूप रस गन्ध आदि गुणो का आर्विभाव होता है। जिससे सृष्टि की रचना होती है। विकास क्रम में चेतना के उपरान्त जिस गुण का उद्गम या आर्विभाव होगा वह दैवतभाव (डिवीनिटी) है। विश्व का विकास प्रत्येक क्षण दैववाद की ओर बढ रहा है ईश्वर का सृजन कर रहा है। ईश्वर रादैव रिाद्ध है। इस विश्व–प्रकिया मे एक आन्तरिक प्रेरणा निहित है जो उसे दैवतभाव की ओर अग्रसर करती है। सबसे अन्त में विकास–किया के उच्चतम फल के रूप में देवता या **ईश्वर**

(डाइटी) का उद्गमन होता है। ये देवता ससार के फल–पुष्प कहलाते है। किन्तु ये आदिकारण नही है।[११८] मार्गन के अनुसार प्रकृति में दो प्रकार की वस्तुए पाई जाती है जिसमे एक को परिणमित और दूसरे को उद्भूत माना जाता है । परिणमित उन वस्तुओ को कहा जाता है जो पूर्ववर्ती अवस्थाओ या कारणो के परिणाममात्र है। उद्गत वे तत्त्व अथवा नवीनताए है। जिनके सम्बन्ध में पहले से तो कुछ नही कह सकते। मूलतत्त्व न तो चित है और न ही अचित् है। वह चिदचिदात्मक है। जगत दो न होकर एक ही है। जड जगत और चेतन जगत भिन्न–भिन्न नही है। विश्व–प्रकिया गत्यात्मक है। मार्गन वास्तविक जगत के तीन स्तर मानता है। जडद्रव्य प्राण(जीवन) और मन। विकास की क्रिया सृजनात्मक सश्लेषण द्वारा होती है। यथा इलेक्ट्रान और प्रोट्रान परमाणु (एटम) अणु (मालिक्यूल्स) बन जाता है। अणु सगठित होकर यौगिक और परिवर्तित हो जाते है और यौगिक प्रोटोप्लाज्मिक (मैटर) जीवद्रव्य का रूप धारण करता है। इन उद्गामी गुणों का कारक ईश्वरीय अन्त प्रवृत्ति है । ईश्वर वह अन्त वृत्ति या प्रेरक सत्य है जिसके कर्तृत्त्व द्वारा उद्गामी गुणों का आर्विभाव होता है । ईश्वर विकास–प्रकिया का प्राण है। वह विकास–प्रकिया से बाहर कोई चीज न होकर उसी मे पूर्णतया व्याप्त है।[११९]

अभिनव पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धातो में यह विश्वास सामान्य रूप मे मान्य है कि विकास की प्रत्येक अवस्था पर निर्माणात्मक शक्तियो का प्रभाव अवश्य होता है। बर्गसा सृजनात्मक विकासवाद उत्तरकालीन चिन्तन के लिये काफी सहायक सिद्ध हुआ। जनरल इस्टेमस जो साकल्यवादी विकासवादी के मत में विश्व विकासशील है और विकास प्रकिया में एक प्रेरक सत्य है। जिसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक बडी समष्टि या साकल्यो को बनाने मे होती है यथा विद्युत अणुओं से परमाणु बनते है और परमाणुओं से द्वयणुक और त्रयणुक तथा उनसे भौतिक द्रव्य के बडे समूह बनते है। जीवन के क्षेत्र में पहले एक कोशिका वाले जीवों का उद्गम होता है और फिर क्रमश सहस्रों कोशिकाओं वाले जीवों का उद्भव होता है।[१२०] इसी सम्बन्ध मे व्हाइटहेड ने भी कहा है कि विज्ञान एक नया पक्ष ग्रहण कर रहा है जिसे न तो शुद्ध रूप से भौतिक कह सकते है और न शुद्ध रूप से जैव ही[१२१] व्हाइटहेड के पूर्व ऊर्जा सरक्षण और उसके रूपान्तरण का सिद्धात मे उस विचार को समाप्त किया जिसमे द्रव्य को एक पिण्ड के रूप मे माना जाता था। परमाणुकता और उसका जीव विज्ञान मे उपयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि

जीवित कोशिका ही नही अपितु सम्पूर्ण निर्जीव परगाणु भी निरतर गति ओर शक्ति के सगठित केन्द्र है अन्तर केवल मात्रात्मक अथवा स्तरों का है। डार्विन के विकासवाद के आधार पर माना गया कि पत्थर से लेकर मनुष्य तक में एक ही प्रक्रिया का तात्पर्य उपलब्ध होता है। उक्त तीनों के आगे व्हाइटहेड ने सम्पूर्ण–दिक मे शक्ति और सक्रियता के क्षेत्र का अस्तित्व के आध ार पर कहा कि द्रव्य और मन यथार्थ प्रकृति में एक दूसरे से उतने भिन्न नही है जितना की सामान्यत लोग समझते है। सबकुछ यहॉ तक ईश्वर की एकतन्त्र के अन्तर्गत जिसे अवव्ययी कहते हैं। इस प्रकार पररपर सम्बन्धित है कि उन्हें पृथक् नही किया जा सकता। व्हाइटहेड ने ईश्वर को आत्म सृजनशील प्राणी कहा जाता है। वह स्रष्टा नही अपितु सृजनात्मक क्रिया है वह स्थिर नही अपितु गतिशील है। वह आध्यात्मिक होने से समरत परिवर्तन से परे है यह अवयवी सिद्धात का प्रतिपादन करता है जिसे प्रकृति का सर्वागीण सिद्धात कहा गया है।[१२२]

विलियम पेटन के अनुसार विकास आरम्भ कारिक अर्थ नही अपितु वास्तविक अर्थ मे एक समूह है। उसमे एक ऐसी सृजनात्मक प्रवृत्ति होती है जो अव्यवस्था के निरर्थक सघर्ष से ऊपर उठकर स्थिर सरचनात्मक सगठन और एकता की ओर उन्मुख रहती है। उनके अनुसार समस्त विकासात्मक क्रियाओं के मूल में रचनात्मक क्रिया की एक सर्वव्यापी बाध्यता होती है। पेटन के मत में प्रत्येक रचनात्मक क्रिया उन कुछ मूलगुणों का परिणाम है जो समस्त जीवन और मन में मिलते है। ये गुण है आत्मरक्षणा आत्मत्याग और सहयोग यहॉ विकास स्वतत्रता की अपेक्षा अनुशासन मे एक प्रगति है।[१२३] लेकिन अमेरिकन विकासवादी दार्शनिक चार्ल्स पियर्स इसे नही मानते इनके अनुसार यह मानना ठीक नही है कि नियम में स्थायित्व होता है परिवर्तन नही। बल्कि जगत में केवल विकास का नियम है जो सदिग्ध है। जिन नियम को अचल और स्थिर माना जाता है। वे भी वास्तव मे विकास नियम के अधीन ही हैं। नियमो की स्थिति आदतो जैसी है। आदत धीरे–धीरे बनती है। इसी प्रकार नियम भी धीरे–धीरे स्थिरता को प्राप्त होते हैं क्योंकि कोई विशेष नियम आज इतना व्यापक है वह अपने प्रारम्भ में इतना महत्वपूर्ण नही था। भौतिक में सबसे प्रसिद्ध नियम गुरुत्वाकर्षण का नियम है। सामान्य विचार के अनुसार जगत गे कोई प्राकृतिक पदार्थ छोटा या बडा निकट या दूर ऐसा नही है जो उसके प्रभाव में न हो पियर्स के मत मे व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी रपष्टता प्रतीत होती है। अव्यवस्था केवल

आभारा नही अपितु उसकी वास्तविक राता है। इसका गुख्य कारण है कि व्यवस्था पूर्व से नही बनी है अपितु बन रही है।[१२४]

इस प्रकार विकासवाद विकास प्रक्रिया के सरल से जटिल रूप की प्रगति मानता है। ऐसा मानने वाले प्राचीन विकासवादी विकास प्रक्रिया को एकमार्गी के समर्थक थे। किन्तु आधुनिक विकासवादियो के अनुसार विकास की गति कभी सरल से जटिल और कभी जटिल से सरल दोनो ओर होती है। किन्तु विकासवाद मे ईश्वर को मानना आवश्यक नही है। इसमे ईश्वर को माना भी जा सकता है और नही भी। कुछ विकासवादियो ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार भी किया है और कुछ के अनुसार उसके अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टिवाद की पुष्टि नही होती।[१२५] सर्वोपरि प्रभु के नियन्त्रण द्वारा प्रकृति के अनेकत्व मे बराबर उन्नति होती है। जैसे की बर्गसा की प्राणशक्ति का एक ही स्पन्दन विभक्त होकर प्रकृति में नानाविध प्रतिध्वनियो से परिणित हो जाता है। आ० भिक्षु सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि पुरुष का उल्लेख करते है। महत्व उनके साथ उपाधि अथवा बाह्य विनियोग के रूप मे था।[१२६] साख्यसूत्र के अनुसार एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को रवीकार करता ह। जो सृष्टि रचना काल में प्रकृति के क्रमिक विकासों की व्यवस्था करता है। साख्य एक ऐसे ईश्वर को मानता है जो पहले ही प्रकृति के अन्दर लीन था और पीछे से प्रकट हुआ।[१२७] रवीटजर के मत मे यदि हम इस जगत को ठीक ऐसा ही समझ ले जैसा यह दिखाई देता है तो मनुष्यो तथा इस की व्याख्या करना सम्भव होगा। हमारे लिए इस जगत मे किसी प्रकार के ऐसे प्रयोजन सम्बन्धी विकास को खोज निकालना कठिन है। जिससे हमारे अपने कर्मो की सार्थकता प्रकट हो सके।[१२८]

पाश्चात्य दर्शन में भारतीय दर्शन की अपेक्षा विश्व व्याख्या के विविध सिद्धातो को जन्म दिया जिसका मुख्य कारण वहाँ की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक खोजे थी। यद्यपि वैशेषिक और साख्य मत में विश्व की महत्वपूर्ण व्याख्याए की गई। लेकिन अन्य मतावलम्बियो के सम्बन्ध मे ऐसा नही हुआ। साख्य के यान्त्रिकवाद में आश्चर्यजनक पूर्णता और आधुनिकता है तथा वह वर्तमान भौतिकी के काफी समीप दिखता है। फिर भी पाश्चात्य दर्शन में विश्व की व्याख्या में

विविधता और वैज्ञानिकता है।

(IV) आत्मतत्त्व

साख्य दर्शन मे आत्मतत्त्व को पुरुष नाम से अभिहित किया गया है जो विशुद्ध चेतन स्वरूप किन्तु निष्क्रिय सत्ता है। अत वह साक्षी रूप से अकर्ता अभोक्ता निरवयव व निर्गुण रूप है। पुरुष निर्विक्त और अपरिणामी होने के कारण अकर्ता है। फिर पुरुष बुद्धिहीन होने के कारण भोक्ता या कर्ताभाव से रहित है। बुद्धि प्राकृतिक लिग है। पुरुष का नही है। अत पुरुष निष्क्रिय और उदासीन सत्ता है। लेकिन साख्य के अनुसार पुरुष एक नही जैसा कि प्रकृति है अपितु पुरुष अनेक है। प्रत्येक पुरुष का जन्म मृत्यु और इन्द्रियॉ आदि भिन्न–भिन्न होती है। यही नही प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्तियॉ भी अलग–अलग होती है। इसी प्रकार पुरुष का बन्धन मोक्ष और सासारिकता समझना अज्ञान के कारण होता है। जबकि वास्तव मे ये सभी प्रकृति में होती है। वास्तव मे चेतनरूप पुरुष के सयोग मे आने पर बुद्धि जो प्रकृति का परिणाम है चैतन्य युक्त हो जाती है। फलस्वरूप हम पुरुष को कर्ता कामी भोक्ता आदि मानने लगते हैं। साख्य मत में अन्त करण और बुद्धि प्रकृति के ही परिणाम है अर्थात मानसिक क्रियाए भौतिक तत्त्व है। यह मत आधुनिक शरीर–क्रिया मनोविज्ञान के अनुरूप है। अत आत्मतत्त्व इससे भिन्न विशुद्ध चेतना स्वरूप है।[१२९] दूसरी ओर ईश्वरवाद अमरत्व मे आस्था को दुर्बल करता है। क्योंकि यदि आत्माओं का स्रष्टा कोई है तो आत्माए अनादि न होगी और तब आत्मा को अमरत्व भी नही प्राप्त होगा साख्य का जो ज्ञान की कडी सीमायो के ही अन्दर रखने के लिये उत्सुक है। उसके अनुसार ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणो के द्वारा सिद्ध नही हो सकती।[१३०]

पाश्चात्य दर्शन आत्मा के सम्बन्ध मे प्राचीन और स्पष्ट विचार पाइथागोरस के दर्शन मे मिलती है पाइथागोरस नैतिक और धार्मिक दार्शनिक था। उसके अनुसार आत्मा समाधि के द्वारा मुक्त होकर आवागमन के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेती है और दिव्य को नित्य आनन्द का अनुभव करता है। सयम और साधना द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। दर्शन बुद्धि विलास नहीं अपितु जीवनयापन की पद्धति है। ज्ञानी ही सर्वोत्तम है क्योकि वही आवागमन से मुक्ति पाता है।[१३१]

एनेक्जेगोरस के नाउस के साथ शरीर आत्मा का भेद प्रारम्भ हुआ जगत के मूलकारण के रूप मे भी आत्मा को रवीकृति मिलने लगी। परिणामस्वरूप ग्रीकदर्शन मानव केन्द्रित हो गया इसी परम्परा में साफिष्ट जो दार्शनिक की अपेक्षा नैतिक शिक्षक थे मानवतावादी दर्शन की स्थपना करते है। इसमें प्रोटोगोरस का मत था कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है। वे जो उसके सापेक्ष है उनका अस्तित्व है ओर जो उसके सापेक्ष नही है। उनका अस्तित्व नही है किन्तु उन्होंने मनुष्य का अर्थ सामान्य मनुष्य के अर्थ में नही लिया। बल्कि व्यक्ति विशेष के अर्थ में लिया। इसी प्रकार सभी वरतुओं के मापदण्ड का अर्थ सभी वस्तु की सत्यता के मापदण्ड से नही है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उस सत्य का मापदण्ड है जो उनके लिए सत्य है। इस तरह सत्यता प्रत्येक व्यक्ति की सवेदना और अनुभूतियो से सम्बन्धित है अर्थात सत्यता व्यक्तिगत मामला है। वस्तुगत नही परिणामस्वरूप नैतिकता की वरतुनिष्ठता भी खण्डित हो गई जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व तो सबल रहा किन्तु सत्य दुर्बल हो गया। फिर नैतिकता का मापदण्ड सुख को मान लेने से आत्मिक शक्ति और आध्यात्म की उपेक्षा हुई।[१३२]

रवय को जानो (दाई इटसेल्फ) का सदेश देने वाले सुकरात मे आत्मा पर बल देते हुई नैतिक जीवन को ही सर्वोच्च जीवन माना। इन्होने ही ज्ञान को बुद्धि पर आधारित मानते हुए सत्य की वरतुनिष्ठता को स्थापित किया। उनके अनुसार ज्ञान ही सद्गुण है ओर सद्गुण ही ज्ञान है। आगे कहते है की निरन्तर अभ्यास ओर आत्म–नियन्त्राण द्वारा व्यक्ति अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है। क्योंकि सुकरात ज्ञान को ही सद्गुण का एकमात्र आधार मानते है। अत ज्ञान को ही मुक्ति का सर्वोत्तम साधान भी कहते हैं। सद्गुण एक ही को सभी प्रकार सद्गुण आत्मसयम विवेक, दूरदर्शिता, करुणा आदि एक ही य्रोत से उत्पन्न हुये है और वह स्रोत है ज्ञान इसलिए ज्ञान ही एकमात्र सद्गुण है।[१३३]

प्लेटो के दर्शन में आत्मा प्रकृति और उसकी वस्तुओं के सचालक और नियत्रक है। गति का मूल आत्मा है। आत्मा अपने भी गति का मूल है। आत्मा एक सम्राट की भाति है। जो अपना आदेश रवय प्रसारित करता है। वह रवशासक है आत्म–प्रत्यानयन ओर आत्म–प्रजनन स्वरूप होने से आत्मा अविछिन्न रूप से गतिशील है और गति के जन्म का कारण भी। इस का आत्मा

जैविक बौद्धिक आदि क्रियाओ का स्रोत है आत्मा समस्त सृष्टि में व्याप्त है। अत यह एक प्राकृतिक शक्ति है। प्लेटो का आत्म सम्बन्धी मत प्रकृतिवादी है। नैतिकतावादी नही क्योंकि आत्मा विनाश उत्पत्ति व्यवस्था अव्यवस्था सत्य असत्य सभी का स्रोत है। यह नीति निरपेक्ष है। यह वस्तुनिष्ठ है व्यक्तिनिष्ठ नही। आत्मा एक आदर्शमूलक क्रिया है। यह शुभ के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। इसका लक्ष्य पूर्णता है। अत यह मूल्यो के सरक्षण की ही प्रेरणा शक्ति है। इस प्रकार विश्व प्रक्रिया निष्प्रयोजन नही सप्रयोजन है।[१३४]

प्लेटो आत्मा के दो रूप मानता है—(i) – विश्वात्मा जो परोपकार अविनाशी और सर्वव्यापी है। यह ऐन्द्रिक जगत तथा प्रत्यय जगत के बीच मध्यस्थता का कार्य करती है। यही जगत का सचालक और जगत की नियमितता और सवाद का स्रष्टा है।(ii) – जीवात्मा जो कि जीवनशक्ति है। इसका विनाश जीवधारी की मृत्यु के बाद भी नही होता है। शरीर एक बन्दीगृह है और आत्मा इससे मुक्ति चाहती है। मुक्ति विशुद्ध ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो आत्मा के दो भाग करता है—(i)– बौद्धिक आत्मा और (ii)– अबोद्धिक आत्मा अबोद्धिक आत्मा को पुन दो भागों मे बॉटता है कुलीन और अकुलीन और अबौद्धिक आत्मा बौद्धिक भाग आत्मा का सर्वश्रेष्ठ भाग है। यह सरल अदैहिक अविभाज्य अविनाशी ओर अमर है। इसका धर्म बुद्धि है और कार्य ज्ञान है। जबकि अबोद्धिक आत्मा सावयव दैहिक विभाज्य विनाशी और मर्त्य है। इसका कार्य सवेदना वासना तथा किया है। सादृश्य आत्मसम्मान और अन्य सभी उदात्त सवेग इसके धर्म है। अकुलीन आत्मा का मुख्य धर्म आत्मसयम है। बुद्धि साहस और आत्मसयम के अतिरिक्त आत्मा में एक अन्य गुण न्याय भी होता है। न्याय तब उत्पन्न होता है जब अन्य तीनों ने आनुपातिक सामजस्य होता है। यही जीवन उत्तम भी होता है।[१३५]

प्लेटो के अनुसार आत्मा अमर है। क्योंकि वह अपनी गति का कारण स्वय है। वह सावयव नही निरवयव है। आत्मा अभौतिक तथा आदिरहित है। अत आत्मा अपरिवर्तनशील है। प्लेटो के मत में प्रत्येक 'वस्तु' अपने विरोधी से उत्पन्न होती है। अत यह मानना चाहिए कि जीवन की उत्पत्ति मृत्यु से होती है अर्थात् जीवन मृत्यु से आता है और मृत्यु का पुनर्जन्म होता है। रपष्ट है कि आत्मा जीवन का आधार है। चुकि आत्मा प्रत्ययो का ज्ञान प्राप्त करता है ।

अत आत्मा को भी प्रत्ययों की भॉति दिव्य होना चाहिए। मेनो नामक सवाद में प्लेटो आत्मा की अमरता को स्मृति के आधार पर सिद्ध करता है। उसके अनुसार प्रत्यय जगत से अवतीर्ण होने के कारण आत्मा ऐन्द्रिक जगत के सम्पर्क मे आकर अपने ज्ञान को तिरोहित व धूमिल कर लेता है। अत इस रपष्ट स्मृति को रमरण कराना पडता है। इसी के आधार पर न्याय बराबरी सत्यता आदि का स्मरण होता है। उक्त तर्कों के आधार पर प्लेटो आत्मा के पुनर्जन्म अर्थात आवागमन के सिद्धात को रवीकार करता है । प्लेटो के अनुसार सृष्टि में विविध प्रकार की वस्तुए है। इनमें पुरुष सर्वाधिक सम्पन्न है। इनमें भी कुछ अत्यन्त उच्च कोटि के पुरुष है किन्तु ऐसे पुरुषो का जीवन एक जन्म का परिणाम नही है। अत वर्तमान जन्म के पूर्व भी आत्मा का जीवन रहा होगा। इस प्रकार आत्मा अमर है । प्रत्ययो का जगत ही इसका मूल स्थान है। अत जब मनुष्य शुभ जीवन व्यतीत करता है। वह आनन्दमय प्रत्ययों के जगत को लौट जाता है और जो अशुभ जीवन व्यतीत करता है। वह मृत्यु के पश्चात नारकीय जीवन पाता है।[१३६]

सत्य के साक्षात्कार के विषय मे प्लेटो का मत है कि जिस प्रकार ग्लौकस द्वारा समुद्र की तह मे डुबकी लगाने के कारण पहचाना नही जाता क्योंकि उसका शरीर समुद्र की काई रीप मछली तथा अन्य वस्तुओं द्वारा इतनी अधिक मात्रा मे ढक जाता है कि वह पहचाना नही जा सकता । उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा विकृत रूप में है। अर्थात सासारिक उपलब्धियो तथा अज्ञानता से ग्रसित जीवात्मा अपने वास्तविक रवरूप को नही जान पाता है। जब तक हमे ससार रूपी समुद्र से निकाल कर इसके ऊपर जमे हुए काई सीप तथा तलछट आदि मलो को हटाकर शुद्ध नही कर लेते तब तक हम इसके सत्य स्वरूप को नही जान सकते।[१३७]

अरस्तू के मत मे आत्मा शरीर का आकार अर्थात सगठन है। जिस प्रकार द्रव्य और आकार का अविच्छेद सम्बन्ध है उसी प्रकार आत्मा का शरीर से आत्मा शरीर की क्रियाशीलता है। प्लेटो के विपरीत अरस्तू की धारणा है कि आत्मा नूतन शरीर विशेषकर पशु शरीरो मे जन्म धारण करती है। अरस्तू प्लेटो की बात से सहमत नही है। एक आत्मा दुसरे शरीर मे प्रवेश करती है क्योंकि अरस्तू कहता है कि यदि प्लेटो की उक्त बात स्वीकार कर ले तो आत्मा के अमरत्व की धारणा समाप्त हो जोती है क्योकि किरी वस्तु के विनाश के साथ उसके व्यापार

का भी अन्त हो जाता है। प्लेटो के अनुसार आत्मा एक अतिन्द्रिय वस्तु है जो शरीर मे रखी अथवा निकाली जाती है। इस प्रकार आत्मा और शरीर अर्थात आकार और द्रव्य के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध माना जाता है। किन्तु अरस्तू कहता है कि आत्मा शरीर का आकार है। अत वह शरीर से अलग नही हो सकता है दोनो के बीच जैविक सम्बन्ध है यान्त्रिक नही।[१३८]

अरस्तू बुद्धि को सक्रिय और निष्क्रिय रूप मे बाटते हुए कहता है कि सक्रिय बुद्धि अविनाशी और शाश्वत है। यह अनादि और अनन्त है। यही उत्पत्ति के समय शरीर मे प्रवेश करता है और मृत्यु के समय निकल जाता है। चूँकि मनुष्य की बुद्धि ईश्वर से ही प्रादुभूर्त होती है। अत मृत शरीर से निकलकर उसी मे यह विलीन हो जाती है। ईश्वर निरपेक्ष और पूर्ण बुद्धि है। लेकिन निष्क्रिय बुद्धि शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। अरस्तू की आत्मा शाश्वत है किन्तु शाश्वत का अर्थ सर्वकालीनता नही अपितु कालातीतता है। अरस्तू भौतिक सद्गुण को पूर्णरूप से बोद्धिक मानता है और एकमात्र ज्ञान को ही अत्यावश्यक रवीकार करता है। जिसके लिए आत्म नियन्त्रण और निरन्तर अभ्यास पर अत्याधिक बल देते है। यहॉ बैराग्य पर बल न देकर बुद्धि और वुभुक्षा दोनों को रवीकार किया गया है। क्योकि वुभुक्षा और उद्वेग सदगुणो के द्रव्य है। तो बुद्धि उनका आकार है। सद्गुण का अर्थ है नियन्त्रण न कि उन्मूलन। इस तरह अरस्तू मध्यममार्गी है। अरस्तू इच्छा–स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार मनुष्य को शुभ और अशुभ दोनो को चुनने का अधिकार है।[१३९]

प्लेटो दार्शनिको के लिए ज्ञान प्राप्ति का विधान करता है। जिसका अन्तिम फल श्रेयस का विचार है तथा अन्यों के लिए सत्य सभाति का जिसकी पहुँच अपने स्थान तथा कर्तव्यो तक ही है। इस प्रकार अरस्तू साधारण पुरुषो के लिए नैतिक धर्मो का विधान करता है। जो अधिकतर मानवीय व्यापार है और ऐसे मनुष्यो के लिए जिनका लक्ष्य अमरत्व प्राप्ति है। तर्क का प्रयोग बताया गया है। जो उत्तम तथा दैविय वस्तुओं का बोध करा सकता है।[१४०]

प्लाटिनस के अनुसार परम विज्ञान से जो प्रथम आत्मा उत्पन्न होती है वह विश्वात्मा है। यह दैवीय ओर ऐन्द्रिक जगत के बीच मध्यस्थता का कार्य करती है। विश्वात्मा शाश्वत और कालातीत है यह स्वयप्रकाश्य है। अविभाज्य और अमूर्त होते हुए भी यह विभाज्य और मूर्त

वरतुओ की ओर झुकाव करती है। विश्वात्मा से एक अन्य आत्मा का जन्म होता है जो प्रकृति कहलाती है। इनमे प्रत्येक आत्मा अनेक आत्माओ से मुक्त है और अनेक आत्माओ को जन्म देती है। सृष्टि की इस प्रक्रिया मे अशात्माए लोकोत्तर जगत की निम्नतम सीमा पर पहुँचती है जहॉ दैवीय सत्ता की यह अपूर्णतम अभिव्यक्ति द्रव्य कहलाता है।[१४१]

प्लाटिनस आत्मा को दो प्रकार का मानता है एक पराप्रकृति जो प्लेटो की बौद्धिक आत्मा के समान है। यह सूक्ष्म शरीर से मुक्त है यह अतिन्द्रिय लोकोत्तर शुद्ध बुद्ध और मुक्त रवरूप है। यह देश–काल से परे परम विज्ञान की अपरोक्षानुभूति है। दूसरा अपरा प्रकृति आत्मा मे एक अपरिहार्य आन्तरिक प्रेरक शक्ति है जो इसे प्रकृति के अनुसार शरीर धारण करने के लिए मजबूर करती है तो दूसरी ओर जीवात्मा के पतन का एक अन्य कारण विश्वात्मा का जडजगत को रूप प्रदान करने की इच्छा है। इस प्रकार शरीर के सम्पर्क मे आने के कारण मानव मे अहम और हीनात्मा की उत्पत्ति होती है। परिणामस्वरूप आत्मा अपना मूल स्वरूप भूलकर बन्धन मे पड जाता है आगे आत्मा की मुक्ति की अवधारणा में प्लाटिनस कहते है कि आनन्द जीवन की पूर्णता है और पूर्णता चिन्तन मे है। अत आनन्द चिन्तन मे है प्लाटिनस गुक्ति के लिए शरीर और उरासे सम्बन्धित राभी वरतुओ से छुटकारा आवश्यक मानते है। इसके लिए शुद्धीकरण जिसके लिए नैतिक सदगुणो का सतत अभ्यास वैराग्यपुर्ण जीवन जरूरी है शुद्ध दर्शन के जीवन से आगे बढकर परमविज्ञान का अपरोक्षानुभूति मुक्ति का उत्तम साधन है। जिसके पश्चात् आत्मा विचार की सीमा का अतिक्रमण करके मूर्च्छा की अवस्था को प्राप्त करती है और फिर ईश्वर से एकाकार हो जाती है। ग्रीक दर्शन मे प्लाटिनस प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने माना की ईश्वर मिलन ही मुक्ति है।[१४२]

सत आगस्टाइन परमतत्त्व को परमात्मा भी कहता है। जिसका ज्ञान ही सर्वोतम ज्ञान है। विश्वास आत्मा का विषय है बुद्धि निश्चयात्मिका शक्ति है जो आत्मा की देन है। आत्मा परमात्मा का अश होने के कारण प्रकाशपुज है। आत्मा ही बुद्धि को प्रकाशित करती है प्रज्ञा ही दैवीय ज्ञान है। जब बुद्धि आत्मा विमुख होती है। तो प्रज्ञा कहलाती है। परम आनन्द की ओर आत्मा अभिमुख होती है। मानव चूँकि अपूर्ण और ससीम है। अत उसका स्रष्टा ईश्वर ही है।

ईश्वर की कृपा से ही मनुष्य पाप से मुक्त होता है। परमात्मा ही मनुष्य को क्षमा प्रदान कर सकती है। मुक्ति की अवस्था मे आत्मा दिव्यलोक मे ईश्वर का साक्षात्कार करते हुए निवास करती है। आनन्द ही नैतिकता का मापदण्ड है जिसकी प्राप्ति परमात्मा से होती है। मनुष्य के लिए सकल्प–स्वातत्रय द्वारा ही शुभ अशुभ के आधार पर जीवन का मूल्याकन किया जाता है। ईश्वर विमुख शुभत्व और ईश्वर विमुख होना अशुभ है। सकल्प स्वातत्र्य के आधार पर ही पाप के लिए व्यक्ति उत्तरदायी होता है।[१४३]

बुद्धिवाद मे आत्मतत्व जो ज्ञान और चित्त का आधार है को स्वीकार करते है। इसमें डेकार्ट स्वचेतन आत्मा को दर्शन का मूल केन्द्र बनाता है। उन्होंने आत्म अनात्म से सर्वथा पृथक् कर आत्मा की यथार्थता को अपने निजी अधिकार से रवतत्र सिद्ध किया। डेकार्ट के मत में जब मैं प्रत्येक चीज के असत होने की सोचता था तो मैंने देखा कि ऐसा होना ही चाहिए कि मैं जो सोच रहा था उसकी सत्ता ओर इस बात को समझते हुए कि यह सत मै सोच रहा हूँ। अत मेरी सत्ता है। इतना ठोस और पक्का है कि इसे सशयवादियो के बडे –२ तर्क भी नही काट सकते। मैने निश्चय कर लिया कि इस सत्य को अपने दर्शन का आधारभूत सत्य स्वीकार करने मे मुझे किचित मात्र भी शका नही होनी चाहिए। मे हूँ मेरी सत्ता है। अनिवार्य रूप से सत्य है जब–जब मै इसे मुह से कहता हूँ अथवा इरा पर विचार करता हूँ। यद्यपि वह मुझे कितना ही धोखा क्यों न दे ले वह ऐसा कभी नही कर पाएगा कि मेरे सोचने के समय जब मेरी सत्ता है मेरी सत्ता न हो। उसका मत है कि जो अनुभव कर रहा है उसकी सत्ता का न होना असम्भव है। वे इस नियम को नित्य सत्य भी कहते है।[१४४] ऐसा लगता है कि मै सोचता हूँ अत मै हूँ, के आधार पर अर्थात् यह सोचना सम्भव नही है कि मै नही सोच रहा हूँ अथवा मै नही हूँ अथवा मेरी सत्ता नही है। इस प्रकार के तर्क के आधार पर डेकार्ट यह दावा करता है कि चैतन्य अथवा सोचना ही मै अथवा आत्मा का रवरूप है। यदि इस दावे को सत्य मान लिया जाये तो इससे अनिवार्य रूप से यह नियमित होता है कि चैतन्य के बिना मेरा अस्तित्व नही है अर्थात् मेरे चेतन होने अथवा सोचने का अर्थ ही यही है कि मेरी सत्ता है।

लेकिन डेकार्ट का मत है कि ईश्वर के विचार का कारण मै स्वय नही हो सकता क्योकि

मै रवय अपूर्व हूँ और कर्म मे उराके अधिक सत्त्व नही है जितना कि कारण मे होता है। परन्तु भारतीय दर्शन मे आत्मा को अपूर्ण मानना अविद्या का लक्षण है। क्योंकि यहॉ अपूर्ण वही है जो विषय रूप है चूँकि न आत्मा न ईश्वर विश्व रूप है। अत दोनो सीमित या अपूर्ण नही है।[१४५] देकाँट के अनुसार विचार ही आत्मा का गुण हे आत्मा की अमरता निर्विवाद सत्य है मैं या आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है। आत्मा का ज्ञान शरीर के ज्ञान से सरल है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नही होती। आत्मा की सत्ता ज्ञान की पूर्व मान्यता है। ज्ञान आत्मा का गुण अर्थात् धर्म है।[१४६]

सर्वेश्वरवादी स्पिनोजा आत्मतत्त्व को चैतन्य रूप मानते है। यह चैतन्य ईश्वर के अनन्त गुणो मे से एक है। यही कारण है कि निरपेक्ष ज्ञान को स्पिनोजा ईश्वर का अनन्त अद्वैत रूप ही निर्विकल्प अनुभूति मानता है। पूर्णज्ञान पूर्ण आनदमय की अवस्था है जो ईश्वर मिश्रित होती है। अत रिपनोजा मानव का नि श्रेष्ठ ईश्वर प्रेम को मानता है। भारतीय दर्शान मे बधन का कारण अज्ञान को माना गया है इसे रिपनोजा भी रवीकार करता है। अज्ञान के कारण ही लोग अनन्त परमात्मा से विमुख हो सत्ता सासारिक वस्तुओ को सुखद ओर शाश्वत मानकर उसके प्रति आसक्त होते है। इस प्रकार अज्ञानवश यथार्थ सत्ता को भूलकर भावनाओं के दु ख–सुख व काम के दास बन जाते है। ये निष्क्रिय भावना है जिसके कारण हमारा नियत्रण केवल बाह्य परिस्थितियो से होता है। विवेक जो बुद्धिमान और बलवान है से हीन होने के कारण हम अशुभ से घिरे होते है। क्योंकि मनुष्य इससे अपना समष्टि रूप भूला होता है। स्पिनोजा के अनुसार प्रकृति की घटनाए ईश्वर द्वारा नियत्रित होती है। अत किसी सासारिक घटना का क्रम नही बदल सकता स्पिनोजा नियतिवादी भाग्यवादी है। कितु स्पिनोजा के दर्शन मे स्वतत्रता की धारणा मिलती है। क्योकि उनके अनुसार अपने ही नियमों से अपने को नियत करना परतत्रता नही रवतत्रता है। अत मनुष्य का अपने रवभाव से नियत कार्य रवतत्रकार्य है।[१४७]

लाइबनित्ज चिदणु की रात्ता रवीकार करते है जो एक दूसरे से भिन्न है। इनमें गुणात्मक और सख्यात्मक भेद है। चिदणु चित् शक्ति युक्त है वे व्यक्ति विशेष है जिससे उनका निजत्व सिद्ध होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि मे चेतना का विस्तार है। लाइबनित्ज के अनुसार वनस्पति

जगत से लेकर मानव तक सभी स्तरो मे जीव व्याप्त है। चेतना के विविध रगो स्वचेतना की स्थिति चेतन की जागृतावस्था है जो मानव मे ही सभव है। अत यहॉ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है और अह—बोध भी होता है। मानव विचारशील है विचार आत्मा का गुण है अत इस स्तर को आत्मा भी कहते है। पशु मे भी आत्मा है परन्तु यहा आत्मचेतना अर्थात विचार नही होता है। लाइबनित्ज इसे आत्म—जगत कहता है।[१४८]

चिदणु आत्मा चूँकि ईश्वर के रवभाव से उद्भूत हुए है अत वे अमर ओर अविनाशी है। लाइबनित्ज के आत्म—दर्शन मे जन्म—मरण और पुनर्वास के लिए कोई स्थान नही है। मै ईश्वरीय चमत्कार से ही उत्पन्न हुआ हूँ। अत ये चमत्कार से ही नष्ट होते है। मध्य की स्थिति मे केवल सघटन और विघटन होते है। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का परिवर्तन धीरे—धीरे करती है। पूरापिण्ड एक साथ विघटित नही होता है। लाइबनित्ज मृत्यु को मात्र निरीक्ष्य कार्यो का स्थगन कहता है। वह एक पिण्ड से एक आत्मा का स्थाई सबध नही मानता। अत यहॉ पुनर्जन्म के लिए कोई स्थान नही है। इस प्रकार लाइबनित्ज ईश्वर के आधार पर जन्म—मरण से युक्त ससार की स्थापना करता है।[१४९] लाइबनित्ज नैतिक नियमो को जन्मजात मानता है। यही कारण है कि रवभावत मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुख से छुटकारा चाहता है। ससार ईश्वर की नवीनतम प्रकृति है। पाप के सबध मे लाइबनित्ज का मत है कि एक तो दुख का होना मनुष्य के रवभाव मे है दूसरे पाप के लिए मनुष्य की चयन शक्ति दोषी है और तीसरे पाप के रहने से ही पुण्य का महत्व समझ मे आता है। अत पाप का कारण ईश्वर नही अपितु अज्ञान के कारण मनुष्य स्वभावत पाप करता है। वास्तव मे अशुभ की समस्या को धार्मिक दृष्टि से देखता है।[१५०]

लॉक के अनुसार आत्मतत्त्व के अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। यह स्वत सिद्ध सत्य है। विचार अर्थात ज्ञान का आश्रय आत्मा है। यद्यपि यह निष्क्रिय तत्त्व है। अत चितन, प्रत्यक्ष आदि अतिभौतिक गुणों का आधार आध्यात्मिक आत्मा है। आत्मज्ञान स्पष्ट ओर सिद्ध सत्ता है आत्मा अन्तरप्रत्यक्ष का विषय है।[१५१] चितन के समय हम विचारण तर्कणा एव भय आदि की अनुभूति करते है, और सहज रूप से यह सोचते है कि इन क्रियाओ के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता तो होनी ही चाहिए और हम इसे आत्मा कहते है आत्मा के

तादात्म्य से स्पष्ट है कि एकात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता केवल आत्मा मे ही है।[१५२] लॉक सकल्प–स्वातत्र्य को अलग–अलग शक्ति के रूप मे मानता है। अत वह सकल्प–स्वातत्र्य की परम्परागत मान्यता का विरोध करता हुआ सकल्प–स्वातत्र्य का अर्थ मानता है कि हम अनेको विकलप मे से वही विकल्प चुनते है जिसके लिए हम सक्षम है। इस प्रकार नैतिकता के मापदण्ड को सामर्थ्य से जोड कर देखता है अत शक्ति सिद्धात पर आधारित नैतिक नियम उचित नही है। लॉक नैतिक नियम को ईश्वर प्रदत्त नही अपितु सामाजिक देन मानता है। वह कहता है कि शुभ वह है जिससे सुख प्राप्त हो ओर अशुभ वह जिससे दुख की प्रप्ति होती है।[१५३] इस प्रकार लॉक सुखवादी धारणा में आत्मातत्त्व का आध्यात्मिक पक्ष कमजोर हो जाता है।

बर्कले के अनुसार आत्मा विज्ञान से भिन्न चेतन सक्रिय सत्ता है। आत्मा ज्ञातारूप है जबकि विज्ञान श्रेय है। हमे आत्मा का ज्ञान स्वानुभूति द्वारा होता है। अत आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। आत्मा सभी प्रकार की मानसिक कियाओ का आधार हे। बर्कले कहता है कि हमें अको की आत्मा का ज्ञान अनुमान से होता है। चूँकि मेरी आत्मा ही सभी विज्ञानों को उत्पन्न नही करती अपितु इन विज्ञानों की उत्पत्ति मेरे ही समान अन्य असीम आत्माओ से हुई है। यहॉ आत्मा की स्वीकृति प्रत्ययों के कारण के रूप मे स्वीकार की गई है क्योकि विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति आत्मा में निहित है।[१५४] लेकिन डेविड ह्यूम अनुभव के आधार पर आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के निषेध वैसे ही करता है जैसे बर्कले ने लॉक के जडतत्त्व की सत्ता मे स्वीकार नही की थी।

काट आत्मा की नित्य सत्ता को स्वीकार करता है ज्ञान के लिए भी आत्मा की आवश्यकता पर बल दिया है। नित्य तथा अपरिणामी आत्मा के कारण ही अनित्य तथा शक्ति सवेदनाओं मे पारस्पारिक सयोग सभव है। अत ज्ञान की अन्तिम मान्यता आत्मा की एकता है परन्तु नित्य आत्मा ज्ञान का तार्किक आधार है। इसरो इराकी यथार्थ रात्ता नही सिद्ध होती है। हमे आत्मा की सत्ता का अनुभव नही होता हम इसे प्रज्ञा के द्वारा ही जानते है। देकार्ट के अनुसार आत्मा ज्ञात है द्रव्य है। ज्ञान से ही ज्ञाता की स्थिति सिद्ध होती है। परन्तु काट इसे दोषपूर्ण मानता है। अत आत्मा बुद्धि के विषय नही बन सकता इसे बुद्धि का विषय मानकर ज्ञेय नही कहा जा सकता।[१५५] काट की ट्रासडेंटल युक्ति के अनुसार जो अनुभव की उत्पत्ति और

सिद्धि के लिए आवश्यक है उसकी यथार्थता स्वीकार करनी चाहिए साख्यदर्शन में पुरुष की सत्ता सिद्ध करने मे अधिष्ठानात तर्क का प्रयोग इसी सदर्भ मे किया गया है।[१५६]

काट के अनुसार हमारे रवय के ज्ञान के लिए उस विचार कर्म की आवश्यकता है जो प्रत्येक राभव सवेदनात्मक बहुल को अह प्रत्यय के एकत्व मे जो कि सवेदना की निर्धारक विधा है सयोजित करता है जिसके द्वारा यह बहुत्व विषय रूप मे प्रदत्त होता है। इससे यह आपादित होता हे कि यद्यपि मेरा प्रतिभासिक अरितत्व वास्तव मे प्रतीति मात्र नही है किंतु इस अस्तित्व का निर्धारण आतर सवेदन के आकार के माध्यम से और उसके अनुरूप ही घटित हो सकता है। आत्मा की चेतना आत्मा के ज्ञान से सर्वथा भिन्न है।[१५७]

इस प्रकार ज्ञाता रूप आत्मा अधिष्ठान की एकता है। यह आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप अह रवरूप विषयी है। ज्ञेय क्षणिक ओर अनित्य है। परन्तु ज्ञाता नित्य तथा कूटरूप है। ज्ञाता की एकता के कारण हीहै सवेदन–सग्रह पुनर्स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की एकता सभव है। इस प्रकार आत्मा एक शुद्ध ज्योति है जो सभी अवस्थाओ मे एक रूप रहता है।[१५८]

काट नैतिकता की पूर्ण मान्यता मे माने गये तीन तथ्यो में से एक आत्मा की अमरता को कर्तव्य और नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते है। उनके अनुसार मानव सासारिक जीव है तथा इसमें पाशविक प्रवृत्तियॉ दी है। इन दुष्प्रवृत्तियाँ के दमन के लिए कई जन्मो तक तपस्या करना पडता है। जिससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है इसी पूर्वमान्यता मे कर्तव्य के लिए कर्तव्य भी कारण को सकल्प–रवतत्र्य के अर्न्तगत स्वीकार करता है। काट के अनुसार नैतिक नियम में निग्रह की प्राप्ति कर्तव्यों का पालन बिना भय अथवा पुरस्कार की लालसा के किया गया है। इसलिए काट कहते है कि मानव साध्य है साधन नही।[१५९]

फिक्टे के अनुसार आत्मा विज्ञान रूप होने से ज्ञाता है। ज्ञाता ही अपने को श्रेय रूप में प्रकट करती है ऐसे आत्मा में निहित सकल्प–शाक्ति के कारण होता है। सकल्प–स्वतत्र्य के कारण ही मनुष्य स्वतत्र नैतिक प्राणी होता है। सकल्प–रवातत्र्य के कारण मनुष्य रासीम होता है। परिणामस्वरूप वह असीम आत्मा की ओर वह अग्ररार होता है। नैतिक नियमो के पालन से

ही मनुष्य अपनी अपूर्णता को समाप्त कर पूर्ण को प्राप्त कर सकता है। फिक्टे का निरपेक्ष अहमान तात्त्विक रूप में आनुभविक आत्मा से भिन्न है। क्योंकि उस क्रिया का निर्माण जिसके द्वारा यह उस अवस्था को प्राप्त हुआ है जो इसका मौलिक रूप है। अनन्त की ही प्रक्रिया है।[१६०] यह फिक्टे के साख्य के सम्बन्ध मे उद्भूत करते हुए भडारकर मानते है कि जो व्यक्ति अपनी चेतना मे हो रहे व्यापार को साक्षात जानता है। वह कुछ ऐसी सवेदनाओ को जानता है, जिनको उत्पन्न करने वाला वह स्वय नही है। इसलिए वह एक बाह्य प्रकृति को स्वीकार कर लेते है। इसकी यथार्थता चैतन्य की रवतत्र क्रिया की मर्यादाओ से प्रमाणित होती है। चैतन्य की अवरथा मे जब मै अपने आपको परिगित अनुभन करता है तो बुद्धि सबसे पूर्व मै की पुष्टि करती है। और तब मै से भिन्न के साथ विरोध मे आती है। मै को सीमाबद्धता से उसकी पहले की रवतत्रता अथवा असीमता उपलाक्षित होती है।

इस प्रकार हमारे समक्ष सीमित अह अनह परिमिता और परम आत्मा आते है। साख्य का अहकार सीमित अह से सम्बद्ध है। सूक्ष्म और मूर्ततत्त्व तथा उनकी प्रतिरूप इन्द्रियॉ जिन्हे अह से उत्पन्न माना गया है। अनह के अनुरूप है रवतन्त्र अनन्त परमात्मा पुरुष है और इसकी सीमाए अनह के बन्धन से है। चूँकि सर्वथा रवतत्र पुरुष सीमाओ का उद्भव स्थान नही हो सकता। इसलिए साख्य एक विशिष्ट कारण के अस्तित्व को मान लेता है जो स्वरूप में अनन्त है और जिसकी सातता का कारण अनन्त अह के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अह अज्ञान से अपने को मानता है।[१६१]

शेलिग के अनुसार परमतत्त्व स्वय को सीमित कर सर्वप्रथम अचेतन प्रकृति का निर्माण करती है। तत्पश्चात् आत्म चैतन्य की प्राप्ति के लिए जीवात्माओ का निर्माण करती है। जीवात्मा को सकल्प–स्वातत्र्य और आत्मबोध की प्राप्ति के लिए समाज और राज्य की आवश्यकता होती है। क्योकि समाज और राज्य हमारी स्वार्थपूर्ण एव वासनामय भावनाए स्वत उदात्त हो जाती है और नैतिकता के उच्च शिखर को हम प्राप्त करते है।[१६२] हेगेल कहता है कि प्रकृति के सारतत्त्व के रूप मे आत्मा की उत्पत्ति हुई है । अत आत्मा और प्रकृति को समकक्ष सत्ताए मानना ठीक नही है। यहाँ प्रकृति और आत्मा के बीच वही सम्बन्ध है जो अरस्तू के द्रव्य और

आकार के बीच है। अत आत्मा प्रकृति का एक विकसित रूप है। प्रकृति मे जो चैतन्य सूक्ष्म रूप से विद्यमान था। वही विकसित होकर सिद्धता को प्राप्त होता है। हेगेल के आत्म दर्शन मे द्वद्वात्मक विकास पक्ष विषयी आत्मा–विपक्ष विषय–आत्मा का समन्वयात्मक रूप निरपेक्ष आत्मा को उच्चतम समन्वय की प्राप्ति कला और धर्म के ऊपर दर्शन मे प्राप्त होता है। इसीलिए हेगेल मानता है कि निरपेक्ष आत्मतत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति है। जीवात्मा के रूप मे हेगेल मानव विज्ञान के अर्न्तगत आत्मा का प्रकटीकरण मानते है । यह बुद्धि या विवेक का स्तर न होकर केवल भावना का रतर होता है जिसमे मानव की जाति राष्ट्र लिग आयु जागृति एव सुषुप्ति की अवस्थाओ मूल प्रवृत्तियो एव सवेगों का अध्ययन होता है। लेकिन जब जीवात्मा बाह्य जगत के सम्बन्ध मे विचार करती है तो वह बाह्य परिस्थितियो ओर अन्य जीवात्माओ से ही नही अपितु अपने शरीर से भिन्न आत्म चेतन को रवीकार करने लगती है।[१६३] ब्रैडले जीवात्मा को आभास मात्र मानता है। वह कहता है कि जीवात्गा की कल्पना गे इतनी विरागतिया है कि उसे सत् नही माना जा सकता है। अत वह देहात्म–सम्बन्ध को नही मानता उसके अनुसार विषम निर्णय के बीच तादात्म्य कैसे हो सकता है। यही कारण है कि वह आत्म चैतन्य जिसमे छदम रूप से द्वैत है अर्थात आत्म–अनात्म के कारण तादात्म्य को सम्भव नही मानता है।एक मात्र चेतन सत्ता को रवीकार चिदणु के रूप मे रवतत्र और अनेकत्व की सभावना से ब्रैडले इकार करते है। क्योंकि इसमे व्याघात हो जाता है। वास्तव मे ब्रैडले तत्वमीमासा की दृष्टि से आत्मा की उक्त धारणा का निषेधात्मक पक्ष ही प्रस्तुत करते है। इसलिए वे कहते है कि मूलतत्त्व वही है जो आत्म निषेध ात्मक नही है। यही आत्मा का मूल रूप है।[१६४]

बर्गसा के अनुसार आत्मा एक ऐसी वृद्धिशील सत्ता है जो अपने पूर्व अनुभवों को स्मृति द्वारा साथ लेते हुए भविष्य के लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। बर्गसा के मत मे मनुष्य का विकारा हुआ है। जैसे अमीबा(आध्यजीव)से ऊपर उठने मे एक लम्बा समय लगा है। इनके अनुसार बुद्धि जीवन के प्रवाह को छिन्न –भिन्न कर देती है और अन्तहीन गत्यात्मक प्रक्रिया को बुद्धि एक स्थिर विषय अथवा ज्यामितीय गुणोत्तर श्रेणी के रूप मे परिणत कर देती है। लेकिन बुद्धि केवल यथार्थता का अवयव–विच्छेद ही नही करती बल्कि उसका फिर से निर्माण करने का प्रयास करती है। इसके व्यापार मे विश्लेषण और सश्लेषण दोनो रूप है अत यह देश–काल

और कारण–कार्य भाव के द्वारा एकत्व के बन्धनो मेँ सम्भाल कर ग्रहण किये रहता है।[१६५]

आज के दार्शनिकों मे जैटाइल के अनुसार विशुद्ध प्रमाता की अवधारणा के अर्न्तगत इसे प्रमेय अथवा विषय नही माना जा सकता। आध्यात्मिक यथार्थता को समझना और इससे भी अधिक इरो जानना इरो अपने अन्दर जो इरो जानते है रागाविष्ट कर लेता है।[१६६] यहाँ केयर्ड कहते है कि यदि प्रमेय पदार्थ का चेतन प्रमाता के साथ सम्बन्ध होना ज्ञान है तो यह जितना ही पूर्ण होगा उतना ही सन्निकट सम्बन्ध होगा और यह पूर्ण हो जाती है। जब द्वैतभाव प्रत्यक्ष पारदर्शी हो जाता है अर्थात् जब प्रमाता और प्रमेय मे एकत्व हो जाता है और जब द्वैतभाव केवल मात्र एकत्व को शब्दो मे प्रकट करने के लिए ही आवश्यक रह जाता है। सक्षेपत जब चैतन्य आत्म चैतन्य के रूप मे परिणत हो जाता है दूसरे एकहार्ट के अनुसार आत्मा के अन्दर एक ऐसी वरतु है जो आत्मा के ऊपर है दैवीय है सरल है परमशून्य है नामरूप होकर अनाम है ज्ञात न होकर अज्ञात है यह ज्ञान के ऊपर है प्रेम से भी ऊँची है कृपा से भी ऊँची है क्योंकि इन सम्बन्धो मे भी भेद निहित है। इस प्रकाश को सन्तोष होता है केवल सर्वोच्च अनिवार्य तत्त्व से। इसका झुकाव सरल भूमि मे गोन निर्जन स्थान मे प्रवेश करने की ओर है जहाँ पर न पिता का न पुत्र का और न पवित्र आत्मा का ही कोई भेद रहता है। यह उस एकत्व मे प्रविष्ट होना चाहती है जहाँ किसी मनुष्य का निवास नही है। तब यह उस प्रकाश मे सतुष्ट होती है तब यह एकाकी है तब यह अपने मे एक है। चूँकि यह भूमि एक सरल स्थिरता है। अपने आप मे अचल है किन्तु तो भी इस अचलता से ही सब वस्तुए गति प्राप्त करती है।[१६७]

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान मे भी आत्मा की अमरता मे विश्वास किया जाता है। डा० रटीवेसन ने पुनर्जन्म को वैज्ञानिक ढग से सिद्ध किया। ट्रुब्लड के अनुसार यदि मृत्यु के बाद मनुष्य के जीवन का अन्त मान ले तो स्वय हमारे नैतिक उत्थान सामाजिक व्यवस्था तथा विश्व शाति के लिए उसके द्वारा की गयी सभी कोशिशे निरर्थक हो जायेगी। अत आत्मा की अमरता मे विश्वास करना पडेगा फिर भी आज की परिस्थितियो मे मानवीय कर्मों के महत्व और सार्थकता को विचार करने के लिए कर्मवाद को एक ऐसा नैतिक सिद्धात मानना होगा जो व्यक्ति और समाज दोनो के लिए अतिमहत्वपूर्ण है, चाहे इसके लिए

तत्वमीमासीय दृष्टि से किसी अतिप्राकृतिक सत्ता को रवीकार करे अथवा नही।[१६८]

पादटिप्पणी

१ – ईश्वरासिद्धे

२ – साख्यप्रवचनभाष्य – १/१२२ ५/६१ व ६५, ६/५२ व ६६

३ – साख्यप्रवचनभाप्य– स हि पर पुरुष सामान्य सर्वज्ञानशक्तियत् कर्तृताशर्क्तिमच्च–३/५७ व ५/१२

४ – मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२२

५ – मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२१२–२१३

६ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन, पृष्ठ–६७–६८

७ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १२६–१३७

८ – प्रसाद डॉ० राजेन्द्र दर्शनशास्त्र की रूपरेखा पृष्ठ–११०–१११

६ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन, पृष्ठ–१८५–१८६

१०– मेटाफिजिक्स १०७८बी २८ रास कृत आग्लभापा अनुवाद

११– मेटाफिजिक्स १०८६ए ३२

१२– साख्यकारिका – ३

१३– फल्केनबर्ग आर० हिस्टी ऑफ माडर्न फिलासफी पृप्ठ–६५

१४– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२१३

१५– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ– २१३–२१४

१६– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ– २६ ३० व ३३

१७– दयाकृष्ण, प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भूमिका पृष्ठ–v

१८– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड–२ पृष्ठ– ७५ व

१६– सिह बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– १६४ व १६६

२०– सिह बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– १६१–१६२

२१– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भूमिका, पृष्ठ –iv

२२– चन्द्र रमेश अनुवादक दर्शन के प्रकार मूल लेखक–हाकिग पृष्ठ– १२६–१२८

२३— मोनाडॉलजि २०

२४— मोनाडॉलजि ६० ६ व १५ ७३

२५— मेयर एफ० हिस्टी ऑफ माडर्न फिलासफी पृष्ठ— १६ व १३६

२६— लॉक एन एशे पृष्ठ—१८६

२७— प्रिसिपल्स ———————— परिच्छेद —१४२

२६— प्रिसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज परिच्दछेद०— ३४ व १४६

३०— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डायलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अन्तिम अनुच्छेद

३१— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डाइलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अनु०—V पृष्ठ—१२५

३२— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डाइलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अनु०—V पृष्ठ—१५७—१५६

३३— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन अध्याय—आदर्शवाद का खण्डन

३४— राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—५२१—५२२

३५— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३७२—३७४

३६— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३८०—३८१

३७— बेली जे० बी० अनुवादक द फेनामेनालजि ऑव माइड पृष्ठ — ८६

३८— द साइस ऑव लॉजिक खण्ड—१ पृष्ठ—८३

३६— कोपिल्स्टन ए हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड—६ भाग—२ डबल डे सस्करण

४०— ट्रुथ एण्ड रिएलिटी, पृष्ठ—४२८

४१— सक्सेना, सुशील कुमार स्टडीज इन द मेटाफिजिक्स ऑव ब्रैडले

४२— एपीयरेस एण्ड रिएलिटी पृष्ठ—२०६—२०७

४३— लॉजिक खण्ड—२ पृष्ठ—६५१

४४— चन्द्र रमेश, अनु० दर्शन के प्रकार पृष्ठ—१२६

४५— तिवारी के० एन० तत्त्वमीमासा एव ज्ञानमीमासा पृष्ठ—१४०—१४१ निगम शोभा पाश्चात्य दर्शन के सम्प्रदाय पृष्ठ—६

४६— साख्यप्रवचनसूत्र, १/६३—६४ व ५/१ तत्त्वकौमुदी पृष्ठ—५७

४७— ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबधापनय एव व्यापर — तत्त्ववैशारदी सा० सू०—४/२ पर

४८— पापिनी ज्ञानप्रतिबधार्थम्

४६— साख्यप्रवचनभाष्य सा० सू०—१/१२२ ५/६१ व ६५ ६/५२ व ६६ पर

५०— साख्यप्रवचनभाष्य सा० सू०—३/५७ व ५/१२ पर

५१— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—५२ व ५७ साख्यप्रवचनसूत्र १/१२१

५२— त्रिपाठी डा० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—५६—६० एम्पेडाक्लीज तत्त्वो का सिद्धान्त

५३— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—१३७—१३८

५४— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—१८०—१८२

५५— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ— १८६—१६१

५६— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ— १६३—१६५

५७— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—२८६—२६०

५८— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—१२८—१२६

५६— दयाकृष्ण, प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—६८—६६ और भूमिका—vi

६०— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ— ६३—६५ व ६८

६१— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—२१६

६२— राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—३१८

६३— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—१५७

६४— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२

६५— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ— १६०—१६१

६६— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३६०—३६२

६७— श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ—४७ मसीह याकु पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या पृष्ठ—२४६

६८— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—३०३ की पादटिप्पणी

६६— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—२६६ की छठी पादटिप्पणी

७०— सिह डॉ बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ— २८६—२६१

७१— सिह डॉ बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ— २६७—२६८

७२– मसीह याकु पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या पृष्ठ– १५६–१६०

७३– लॉजिक खण्ड–२ पृष्ठ–३६ की पादटिप्पणी व ५४०

७४– श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ–१०२ व ८६–८७

७५– श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ–१६०–१६१ १६४–१६५ व १६८

७६– लाल बी० के० समकालीन पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–२५८–२५६ २६२ व २६७

७७– हिक जॉन फिलासफी ऑव रिलिजन पृष्ठ–८

७८– गेलोवे जार्ज द फिलासफी ऑव रिलिजन पृष्ठ–४७०

७६– दासगुप्ता हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी खण्ड–१ पृष्ठ–२४४

८०– दासगुप्ता हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी खण्ड–१ पृष्ठ– २४६

८१– प्रतिक्षण परिणमिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्ते – ५ साख्यतत्त्वकौमुदी ।

८२– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३२६

८३– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–२६३–२६४

८४– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–४५८

८५– देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृष्ठ–१३५–१३७

८६– द पॉजिटिव साइसेज ऑव हिन्दूज पृष्ठ–४

८७– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३३३

८८– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ– ३२५

८६– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३३६

६०– हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड–३ पृष्ठ–४७८

६१– शेलिग ऑव हयूमन फ्रीडम पृष्ठ– ७४ ८३ व ६०

६२– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३२२ की

६३– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३३५–३३६

६४– हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड–३ पृष्ठ–२५

६५– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ– ३३८

६६– देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृष्ठ– १४८–१५१

६७— द साइस ऑव लॉजिक खण्ड—१ पृष्ठ—६५

६८— हेगेल फिलासफी ऑव नेचर खण्ड—१ परि०—२६८ की पादटिप्पणी पृष्ठ—२०६

६६— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खएड—२ पृष्ठ—३५६

१००— राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ— ३३३

१०१— मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ— २६२—२६४

१०२— मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ— २६३—२६६

१०३— पैट्रिक जी० टी० डब्ल्यू० इण्टाडक्शन टू फिलासफी पृष्ठ—१२५

१०४— मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ—२७१

१०५— डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ— ४२६

१०६— डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ— १०२—१०३

१०७— डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ— ६६

१०८— डार्विन, चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ— १३१

१०६— डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ— ६—२०

११०— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ—१७४ व x

१११— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ— १०७—१०८

११२— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ— ५६—५७

११३— बर्गसा माइड—इनर्जी पृष्ठ—१३

११४— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ—४१

११५— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन, पृष्ठ— ५३—५४

११६— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ— १०६

११७— बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ— ६२

११८— देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी ओर पश्चिमी दर्शन पृष्ठ— १६५—१६६

११६— मार्गन लायड इमर्जेंट इवोल्यूशन

१२०— मिश्र डॉ० अर्जुन, दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ—३०६

१२१— व्हाइटहेड साइस एण्ड दमार्डन वर्ल्ड पृष्ठ—१४५

१२२– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३०७–३०८

१२३– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३०८–३०६

१२४– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३१० दीवानचन्द्र तत्त्वज्ञान पृष्ठ–११६

१२५– मिश्र डा० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२६३

१२६– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३३४

साख्यप्रवचनभाष्य – सा० सू० ५/१२

१२७– प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धि – ३/५७ सा० सू०

१२८– सिविलाइजेशन एण्ड इथिक्स भाग–२ भूमिका पृष्ठ–१२

१२६– देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृष्ठ–४०१

१३०– साख्यप्रवचनसूत्र– ५/१२

१३१– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– ६

१३२– सिह डॉ०बी०एन०, पाश्चात्य दर्शन पृ०–२५व२८ त्रिपाठी डॉ०सी०एल० ग्रीक दर्शन पृ०–७६–७७

१३३– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– ८३ व ८६–८७

१३४–त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १३८–१४०

१३५–त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १४२–१४४

१३६– त्रिपाठी, डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १४५–१४६

१३७– राधाकृष्णन्, एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–५६८ की पादटिप्पणी

१३८– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ–२०६–२०७

१३६– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– २०७ २०६ २१४–२१५ व २१७–२१८

१४०– प्लेटो रिपब्लिक

१४१– त्रिपाठी डा० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ–२६६–२६७

१४२– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– २६६–२७१

१४३– सिह डॉ० बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–१११–११७

१४४– मेडिटेशस ऑन द फर्स्ट फिलासफी सख्या–२

१४५– दयाकृष्ण प्रो०, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२, भूमिका पृष्ठ–iv

१४६– मेडिटेशस ऑव द फर्स्ट फिलासफी सख्या–२

१४७– रिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–२०३ व २०६–२०८

१४८– रिह डा० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ - २१४–२१५ व २२२–२२३

१४६– मोनाडॉलजि ७१ व ७३

१५०– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–२३६–२४१

१५१– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– २६६

१५२– लॉक एन एशे कसर्निंग बुक–II, सेक्शन–XIII व XXIII, १५

१५३– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–२६८–२७१

१५४– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास ाण्ड–२ पृष्ठ–१८६ व १८८–१८६

१५५– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–३६०

१५६– देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृष्ठ–५२३

१५७– काट क्रिटिक ऑव प्योर रीजन खण्ड–V, पृष्ठ–१५७

१५८– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–३५३

१५६– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– ३६६–३६७

१६०– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–४८४

१६१– भण्डारकर, आर० जी०, इण्डियन फिलासफी रिव्यू, पृष्ठ–२०० से आगे

१६२– श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ–५८

१६३– श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ– ७८–८०

१६४– श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ– ६८–१०२

१६५– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–५२३

१६६– थियोरी ऑव माइड एज प्योर एक्ट पृष्ठ–६–७ व १०

१६७– हण्ट एशे ऑन पानथीइज्म पृष्ठ–१८०

१६८– वर्मा वी० पी० धर्मदर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३३१–३३२ ३४४ व ३७३

अध्याय षष्ठम्

सांख्य दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शन मे साख्य दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है यही कारण है कि शकराचार्य उसे प्रधानमल्ल कहते है। भारतीय दर्शन के विविध प्रकार की दार्शनिक विचाारधारा नास्तिक आरितक भौतिकवादी अध्यात्मवादी बहुत्ववादी द्वैतवादी अद्वैतवादी आदि मिलते है। साख्य दर्शन द्वैतवादी निरीश्वरवादी परिणामवादी ओर सत्कार्यवादी है। यथार्थवादी होकर भी वह अध्यात्मवादी से ओत–प्रोत है। अन्य भारतीय दार्शनिक परम्परा मे इसका तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार है–

(I) चार्वाक दर्शन

चार्वाक न तो श्रुति परम्परा में विश्वास करता है और न ही ईश्वर की सत्ता मे जबकि साख्य वेद आदि श्रुतियो मे विश्वास करती है। यद्यपि वह ईश्वर की सत्ता को रवीकार नही करती है। चार्वाक भौतिकवाद है जो मूल तत्त्व के रूप मे चार महाभूत पृथ्वी जल अग्नि और वायु को रवीकार करता है।[1] जबकि साख्य वस्तुवादी है और वह निरपेक्ष तत्त्व चेतन और निष्क्रिय पुरुष तथा जड और सक्रिय प्रकृति की सत्ता मानता है महाभूतो को तन्मात्राओ से उत्पन्न मानता है।

चार्वाक का चैतन्य किसी अभौतिक तत्त्व अर्थात् आत्मा का गुण नही है। उक्त चारो जड तत्त्वो के मिश्रण से ही चैतन्य गुण उत्पन होता है। जैसे पान कत्था चूना और सुपारी किसी मे लालिमा नही होती है। जब उन्हे मिलाकर खाया जाता है तो लाली उत्पन्न होती है।[2] इस प्रकार चेतन शरीर ही आत्मा है।[3] इसे भूतचैतन्यवाद कहा जाता है। साख्य शुद्ध चैतन्य पुरुष की सत्ता मानती है अत वह आत्मवादी दर्शन है आत्मा नित्य स्वप्रकाश स्वत सिद्ध ज्ञाता रूप है। चार्वाक केवल उन्ही तत्त्वो की सत्ता मे विश्वास करता है जिनका प्रत्यक्ष चार्वाक एक मात्र प्रमाण प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है किया जा सके। लेकिन साख्य अध्यात्मवादी दर्शन होने से अतीन्द्रिय अनूभुति को भी स्वीकार करती है। यही कारण है कि वह अतीन्द्रिय सत्ता को भी मानती है।

चार्वाक कारणकार्य भाव को अस्वीकार कर सृष्टि के लिए स्वभाववाद को मानता है। जिसके अनुसार उपादान कारण जडतत्त्वो के द्वारा ही सृष्टि होती है। लेकिन उपादान द्रव्य

रवत क्रियाशील नही होता है। निष्क्रिय होने पर परिणामनशीलता तथा विकास के लिए निमित्त कारणभूत की कल्पना आवश्यक हो जाती है। चार्वाक मत मे जडतत्त्वो का अपना स्वभाव होता है अपने–अपने रवभाव के अनुसार वे सयुक्त होते है और उनके स्वत सम्मिश्रण मे ससार की उत्पत्ति होती है। जड तत्त्वो का आकस्मिक सयोग होता है। क्योकि इसके अनुसार ससार की उत्पत्ति किसी प्रयोजन साधन के लिए नही हुई है।[४] लेकिन साख्य सृष्टि के लिए निमित्त कारण पुरुष और उपादान कारण प्रकृति को मानती है। वह प्रकृति परिणामवादी है। कारणकार्य को रवीकार कर सत्कार्यवाद जिसके अनुसार कार्य अपने कारण मे पहले से ही निहित होता है को स्वीकार करती है। जिसमें जगत को सत्य माना जाता है। साख्य सृष्टि को प्रयोजनमूलक मानती है।

चार्वाक मे मुख्यत दो मत महत्वपूर्ण है एक स्वभाववाद और दूसरा यदृच्छावाद। पहला मत जगत मे परिवर्तन को वस्तुओ का स्वभाव मानता है और दूसरे मत मे यदृच्छिक (मनमाने तौर पर) है। दोनो ही प्रकृति के आधार पर दोनो सत्ता नही मानती पर दोनो मे ये अन्तर है कि रवभाववाद का विश्व अन्यत्र नही आत्मतन्त्र है। लेकिन आत्मा शब्द पूर्णत भौतिक है। यही कारण है कि कारणविहीन जगत मे चार्वाक भौतिक जगत तक ही सीमित रहा। फल की अनियमतिता के कारण यदृच्छवादियो की भोग प्रवृत्ति को बढावा मिला। साख्य मत के ठीक विपरीत चार्वाक प्रकृति की एकरूपता और नियमतिता पर विश्वास नही करते। जो कुछ एकरूपता दिखाई पडती है वो उसका तत्कालीन प्रभाव है। इसके पीछे अप्रत्यक्ष नियमो कि कल्पना ठीक नही है। यहॉ प्रकृति मे एकरूपता के नियम का निषेध है। ये काकतालीय न्याय मात्र है। सबकुछ अतार्किक परिस्थिति है।[५] चार्वाक सभी परिवर्तन की घटनाओं एव जीव की उत्पत्ति को आकास्मिक मानता है। क्योकि ये रात्कार्यवाद के विपरीत है। अपने रवरूप से पूर्व निर्धारित रूप गे यथा तथ्य नही गानता।

जडात्मक बहुतत्वादी चार्वाक मृत्यु को ही अन्तिम सत्य मानता है तथा ऐहिक सुखवाद को रवीकार्य करता है।[६] वही द्वैत वस्तुवादी साख्य मोक्ष को जीवन का अन्तिम ध्येय मानता है और दुख त्रयाभिघाता से मुक्त जीवन पर बल देता है जिसके लिए एक मात्र साधन विवेक ज्ञान है।

(II) जैन दर्शन

जैन दर्शन तत्त्वमीमासा वस्तुवादी और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद है। मूलतत्व द्रव्य[७] को दो प्रकार का मानता है। जीव और अजीव ये क्रमश चेतन ओर अचेतन है।[८] लेकिन ये दोनों बिल्कुल विरोधी नही अपितु विश्व के दो मूल अगो के रूप मे सहवर्ती सघटक है। जिनसे सारा जगत प्रवर्तमान है। ये साथ–साथ रहते हुए भी पररपर रवतन्त्र है। साख्य दो निरपेक्ष और पररपर रवतत्र–चेतनरूप निष्क्रिय पुरुष और अचेतन रूप सक्रिय प्रकृति की मात्रा स्वीकार करता है। जैन जीव जगत के सारे चेतन भोक्ता वर्ग के लिए प्रयुक्त है। अत वह ज्ञाता कर्ता और भोक्ता रूप है। ज्ञान जीव का रवरूप गुण होने से ज्ञाता है। जीव कर्मों का वास्तविक कर्ता होने से कर्मफलों का वास्तविक भोक्ता है। जीव न विभु है और न अणु। लेकिन साख्य का पुरुष मूलत द्रष्टा अर्थात साक्षी चेतन है। अत वह वास्तविक कर्ता या भोक्ता नही है। पुरुष बहु है पर उनमे गुणात्मक या भावात्मक भेद नही है। जबकि जैन मे विभिन्न शरीरों के लिए आकार भेद के साथ जीवो कि इन्द्रियो की सख्या मे भी भेद पाया जाता है। किसी की एक किसी की दो या तीन या चार या किसी की पॉच इन्द्रियॉ होती है।[६] जैसे क्रमश शख चींटी, भौरा और मनुष्य।

अजीव योग्य है जिसका अनुभव स्पर्श घ्राण तथा रसनेन्द्रिय से सम्भव है। अमूर्तजीव आकाश काल धर्म और अधर्म है जबकि मूर्त अजीव द्रव्य पुद्गल[१०] रहता है। जगत के सारे पदार्थ जिनका भौतिक इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है के परिवर्तन तथा गतिया देखी जाती है। सब पुद्गल है जीवात्मा के साथ सश्लिष्ट होकर ये बन्धन का कारण बन जाते है।[११] पुद्गल तथा जीवो मे क्रिया और भाव दोनो है। इसी कारण उसमे परिणाम सम्मेलन तथा विकरण के माध्यम से जगत की उत्पत्ति स्थिति और विनाश दृष्टिगोचर होते है।[१२] शक्ति का निर्माण एव विकास जीव द्वारा होता है क्योकि निमित्त कारण बनकर पुद्गल कण समूहो को रूप देकर शरीर का निर्माण करते है। साख्य की प्रकृति अचेतन है पर वह इन्द्रिय प्राप्त नही है। वह जगत का निर्माण सूक्ष्म से स्थूल की ओर करती है। यहॉ प्रकृति पुरुष के लिए समस्त कार्य करती है। पुरुष सृष्टि में पूरी तरह असयुक्त है परिवर्तन प्रकृति में होता है। अत यह प्रकृति परिणामवादी है पुरुष नही। यद्यपि जेनी पुरुष को निष्क्रिय मानने मे साख्य को

अक्रियावादी कहते है।[१३]

जैन में सृष्टि की रचना किसी एक तत्त्व विशेष से नही अपितु उक्त हर भौतिक तत्त्वो से हुई है। इनमे से जीव और पुद्गलो की सख्या अनन्त है। इन द्रव्यो की न तो किसी देश–काल मे किसी तत्त्व मे सलिप्त होते है। ये अनादि और अनन्त है। लेकिन हम अनाद्यानन्त स्थिति मे परिवर्तन भी होता है। ऐसा वे अपने रवभाव मे सन्निहित कर्मशीलता परिवर्तनशीलता के कारण निरन्तर परिवर्तित होते रहते है और इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह निरन्तर प्रवाहमान रहता है।[१४] सृष्टि और प्रलय से रहित एक शाश्वत लोक है जिसके विविध लोको मे प्राणी रवाभाव के अनुसार जन्मादि ग्रहण करते है। कर्म का अर्थक्रिया नही अपितु भावशक्ति या भौतिकता के प्रति मोह है। इसी कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर[१५] जन्म–मरण रूपी भव से छुटकारा मिल जाता है।

जैन यथार्थवाद मे साख्य दर्शन से आगे है वह पुद्गल को यथार्थ नही मानता है। अपितु जीव जैसा सूक्ष्म प्रत्यय भी यथार्थ है। जीव को भौतिक तो नही मानता लेकिन उसमें पुद्गल के सम्बन्ध को इतना वास्तविक मानता है कि इससे जीव भौतिकता के काफी करीब आ जाता है। साख्य के प्रकृति पुरुष के सबध की भाति यह सबध औपचारिक नही है। अपितु व्यावहारिक है। यहॉ अनुभूत विषय ही नही अनुभवकर्ता प्रमाता या विषयी भी उतना ही यथार्थ है। यही नही कर्म को भी पुद्गल मानकर जीव से उसका सम्बन्ध अनादि काल से मान लेता है।[१६] अत अनादि होने के कारण इसमे हेतु का अन्वेषण भी निरर्थक लगता है। जहॉ साख्य की प्रकृति सूक्ष्म ही नही स्थूल विषयो को भी उत्पन्न करती है। अपने स्वरूप मे वह साधारण अनुभव रूप नही, अपितु सूक्ष्म है। वही जैनियो का पुद्गल साधारण अनुभव का वास्तविक स्थूल विषय है।[१७] वरतुओं की मूल प्रकृति के रूप मे आधारभूत द्रव्य की अवधारणा साख्य की प्रकृति को अनुभव के धरातल से काफी दूर जा पटकती है। सारे विकास कि आधार भूमि मात्र बनने से वह प्रत्ययवादी अवधारणा बन जाती है। इसका सारा विकास ससार मे औपचारिक रूप मे फसे पुरुष के लिए है। वह परितर्चन भी वस्तुरूप सत्य या वस्तुगत नही। उसकी विषयी सत्ता प्रकृति को सामान्यबोध से परे बना देती है।[१८] दूसरी ओर सारी प्रक्रिया आरोपण मात्र होने के कारण नैतिक

उत्तरदायित्व की गम्भीरता को कम कर देती है। जो नैतिकतापरक जैन धर्मावलम्बी को अभीष्ट नही। उसकी दृष्टि मे पुद्गल विभिन्न परिणामो को प्राप्त होता है। परिणाम की वास्तविकता प्रत्येक जीव को धार्मिक बन्धन के लिए गम्भीर उत्तरदायी सिद्ध करती है।[१९]

जैन दर्शन में काम, मन तथा वाणी को भौतिक मानना साख्य मे इनके प्रकृति मे उत्पत्ति होने के समान है एव वैज्ञानिक तेजस भूतादि और कर्मात्मा चार प्रकार के अहकारो का जैन दर्शन के आहारक वैक्रियक तैजसिक और कार्मण चार प्रकार के भौतिक शरीरो से पूरा साफ है।[२०]

भौतिक जगत के अध्ययन मे जैनियो ने पुद्गल के विश्लेषण के द्वारा अपने भौतिक परमाणु सिद्धात के प्ररतुत किया है।[२१] पुद्गलो की सबसे छोटी ईकाई अविभाज्य रूप परमाणु है। वह रवय ही अपना आदि मध्य और अत है। तथा इसे इन्द्रियो से ग्रहण नही किया जा सकता है।[२२] ये परगणक गुण और आकार की दृष्टि से पररपर समान है।[२३] जैन दर्शन का रासायनिक सम्मिलन का सिद्वात सभी परमाणुवाद की अपनी विशेषता है जिसमे किसी आत्मतत्त्व की आवश्यकता नही है। अपितु परमाणु का स्वभाव ही इसे सम्भव बना देता है।[२४] यही कारण है कि नित्यानित्यात्मक वस्तु रवभाव को विश्व का कर्ता–धर्ता मानने के कारण उसे स्वभाववादी भी कहा जाता है। द्रव्य गुण और पर्याय वाला है। पर्याय का व्यवहार उत्पाद एव व्यय के लिए है। वेदो मे परिवर्तन के सूचक गुण का व्यवहार ध्रौव्य के लिये है जो नित्यता वाचक है।[२५] उत्पत्ति सत्ता और विनाश दोनो पदार्थो के सहलक्षण है। परिवर्तन की अवस्था मे सर्व भी पदार्थमूलक द्रव्य के सातत्य के कारण पूर्वावस्था युक्त है। जबकि अपनी नवीनता के कारण पूर्वावस्था से हीन भी है। परिवर्तन मे एक वस्तु के स्वभाव पर दूसरी वस्तु आना जरूरी है। परन्तु इराके लिये किसी ऐसे आधार कि आवश्यकता है जो दोनो वरतुओ के लिए सामान्य हो।[२६] अत सब द्रव्य के सापेक्ष स्वभाव है। लेकिन साख्य मत मे मात्र प्रकृति को परिवर्तन का आधार माना गया है। जो अपना त्रयगुण सत्व–रजस–तमस के द्वारा जगत की उत्पत्ति और परिवर्तन का आधार बनती है जो प्रकृति की उत्पाद–स्थिति–विनाश का आधार है। प्रकृति पुरुष के सयोग से ही सृष्टि करती है। लेकिन पुरुष इससे अछूता रहता है। जैन के जीव के ही भॉति साख्य का पुरुष सृष्टि प्रक्रिया मे भाग नही लेता। अत मोह प्रकृति मे परिणामवादी

सत्कार्यवाद को रवीकार करती है। वास्तव मे जैन दर्शन मे विश्व कि सारी घटनाए जटिलता से परिपूर्ण है। किसी सामान्य नियम को बनाकर उस पर तर्कपूर्वक आग्रह करना अतिसामान्यीकरण है और वह वास्तविक जगत से दूर की वस्तु हो सकती है।

जैन द्वारा वस्तुओ के प्रति व्यापक अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपना लेने पर सभी प्रतिमान विरोधो का अविरुद्ध रूप सहजगम्य हो जाता है। द्रव्य स्वरूप मे अपरिवर्तित होते हुए भी पदार्थ रूप मे अपने गुणो तक पर्यायो के कारण अनन्त रूपो का हो सकता है।[२७] इसीलिए इसके विषय मे कोई एक कथन पर्याप्त नही है। जैन तर्कशारत्र मे सप्तभगीनय किसी निश्चित स्वरूप की नही अपितु प्रसभाव्यता पर ही बल देती है। स्याद्वाद इसी मत की पुष्टि करता है। इस प्रकार जैन सारे अनुभवो को सापेक्ष बताता है तथा वास्तविकता को इन सभी सापेक्ष रूप से अन्य अनुमानो से निर्मित मानता है।[२८] जैनियो का अनेकान्तवादी यथार्थवाद दर्शन इतिहास की महत्वपूर्ण देन है। लेकिन निरपेक्ष तत्त्व की अपेक्षा जैन दर्शन की सबसे बडी कमी भी है। क्योकि बिना निरपेक्षवाद के सापेक्षवाद सिद्ध नही हो सकता। फलत रयाद्वाद जो आशिक और अपूर्ण है सत्य सिद्ध नही है। परगार्थ के बिना व्यवहार नही टिक सकता। जबकि दर्शन और न्याय की अन्त प्रेरणा निरपेक्ष आत्मतत्त्व भी माना गया है और इगित करता है। जिराकी जैन मत मे उपेक्षा की गई है।[२९] जैसा कि साख्य मे निरपेक्ष आत्मतत्त्व और पुरुष को स्वीकार किया गया है और पूर्ण सत्य के रूप मे विवेकज्ञान को।

(III) बौद्ध दर्शन

बौद्ध मत के अनुरार गह जगत किरी एक या दो या अधिक गौलिक तत्त्वो रो मिलकर निर्गित नही है। यहॉ तत्त्वो का विभाजन तीन भागो मे किया जाता है। रकन्ध आयतन और धातु जगत कि प्रत्येक वस्तु वह जड हो या चेतन पचरकन्धो रूप वेदना सज्ञा सरकार और विज्ञान से मिलकर बना है। रकन्ध का अर्थ सघात अर्थात् समूहन है।[३०] लेकिन यह रपष्ठ नही है कि ये पचस्कन्ध एक ही तत्त्व के रूपान्तर है अथवा पृथक पाच तत्त्व है अथवा उनकी द्रव्यात्मक सत्ता है भी या नही। वारतव मे यहॉ अवयवी नाम की कोई वरतु अवयवो के अतिरिक्त कुछ भी नही

है। अवयवो का संघात भी अवयवी है। लेकिन सांख्य मे दो मूल व निरपेक्ष तत्त्वो की सत्ता स्वीकार की गई है। एक प्रकृति जो सक्रिय और अचेतन है तथा दूसरी पुरुष जो निष्क्रिय और चेतन है। इन दोनो के सयोग से ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि होती है।

बौद्ध दर्शन मे कारणता सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद [३१] पर आधारित है। इसके अनुसार बाह्य और मानस जितनी भी घटनाए होती है। सब के लिए कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। किसी कारण के बिना किसी भी घटना का अविर्भाव नही हो सकता है। यह नियम किसी चेतना शक्ति के द्वारा परिचालित नही होता। अपितु यह स्वय चालित होता है। सामग्रियो के प्रत्यय अर्थात एक साथ होने से ही कार्य उत्पन्न होते है। बोद्धगत मे यदृच्छावाद का निषेध प्रकृति की एकरूपता के आधार पर किया और यह भी माना कि कारण नियम मे किसी शक्ति की कोई भूमिका नही है। ये किसी आन्तरिक प्रयोजनवत्ता को नही मानते है। क्योकि इनके अनुसार कार्योत्पादनकारण का स्वय को व्यक्त करना मात्र नही है। बल्कि वह कारण के साथ ही कुछ बाह्य सहकारी कारको का भी सयुक्त फल है। कारण कार्य के अनुक्रम मे अनिवार्यता तो है। लेकिन यह अनिवार्यता औपाधिक प्रकार की है। वह औपाधिक इसलिए है कि कोई सन्तति तब तक अस्तित्व मे नही आती जब तक कुछ उपाधियॉ पूरी न हो गई हो तथा वह अनिवार्य इसलिए है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद सन्तति तब तक समाप्त नही होती जब तक उपाधियॉ बनी रहती है।[३२] कारण सिद्धात की व्याख्या बौद्ध मतावलम्बी अलग–अलग करते है। वैभाषिक और सौत्रातिक जो अभिधार्मिक कहे जाते है। कारणो और अवस्थाओ के युगपत अस्तित्व को स्वीकार करते है। ये बाह्य और आन्तरिक जगत को वास्तविक और स्वतन्त्र मानते है।[३३] अत ये कारण कार्य मे नियत सहचर्य को स्वीकार करते है। लेकिन वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवादी होने से अस्तिवादी है। तो सौत्रातिक बाह्य अनुमेयवादी होने के कारण क्षणिकवाद को मानते है शून्यवाद किसी भी साकार की सत्ता न मानने के कारण जगत को असत्य मानते है।[३४] अत ये सापेक्षता सिद्धात पर बल देते है। परन्तु विज्ञानवादी एकमात्र विज्ञान जिन्हे हम बाह्य वस्तुओ के रूप मे जानते है,[३५] की सत्ता मानने के कारण सिद्धात को मानसिक अर्थात सप्रत्यात्मक मानते है।[३६] स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन बौद्ध धर्म से भिन्नता रखता है। सांख्य दर्शन का कारण सिद्धात प्रकृति परिणामवादी और सत्कार्यवादी है। उसके अनुसार जगत सत अर्थात् यथार्थ है। कार्य

अपने कारण मे पहले से ही विद्यमान रहता है और कार्य कारण की वास्तविक अभिव्यक्ति है।[३७] इस प्रकार सांख्य प्रयोजनवादी है। वह कारण से निहित है। शक्ति सिद्धांत को ही नही मानता अपितु आत्मरूप पुरुष की भी सत्ता स्वीकार करता है।

बौद्ध दर्शन मे कर्मवाद की स्थापना प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा ही होती है। जिसके अनुसार वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का ही फल है और वर्तमान जीवन के कारण ही भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है। यही जीवन–चक्र पुर्नजन्म का आधार है।[३८] बौद्ध दर्शन साख्य की भॉति ही किसी ईश्वरवादी को जगत के सचालक के रूप मे स्वीकार नही करता। बौद्ध मत में पचस्कन्ध स्वभाव तथा कर्म के द्वारा इस विश्व का सचालन होता है। इस विश्व के नाना प्रकार के प्राणियो के नाना प्रकार के कर्मों के आधिपत्य से न केवल उन प्राणियो के देहादि उत्पन्न होते है। बल्कि उन प्राणियो के निवास स्थान अर्थात् लोक का भी निर्माण होता है। बौद्धों के कर्म सिद्धात को व्यापक स्तर पर जीवन और जगत दोनो की उत्पत्ति ओर विनाश पर लागू किया। वे शाश्वत विश्व के स्थान पर सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करते है।[३९] सांख्य दर्शन कर्मवाद और पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त वह दु ख की व्यापकता को स्वीकार करता है।[४०] अत साख्य और बोद्ध दोनो दु ख से मुक्ति की बात करते है।

बौद्ध मत मे सभी वस्तुए सस्कृत है। अत वे अनित्य है। महाभूतो से निर्मित वस्तुए कुछ समय के बाद ही नष्ट हो जाती है। जबकि चित् अर्थात् विज्ञान अहर्निश दूसरा ही उत्पन्न होता है ओर दूसरा ही नष्ट होता है। इस प्रकार एक का विनाश और दूसरे का उत्पाद लगातार होता रहता है। यही क्षणिकवाद जो अनित्यवाद भी कहलाता है।[४१] जितनी भी वस्तुए है। सभी की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है। ये सभी वस्तुए सब तरह से अनित्य है।[४२] महात्मा बुद्ध ने इस विचार को अनित्यवाद कहा है। इस सम्बन्ध मे सूचित की गई है। किसी वस्तु की सत्ता का लक्षण उसका अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् किसी कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति।[४३] अत सत्ता के लिए अर्थक्रियाकारित्व आवश्यक है। ससार की सभी वस्तुए प्रति क्षण बदलती रहती है। क्योकि किसी भी वस्तु मे प्रति क्षण एक ही प्रकार के परिणाम की सभावना रहती है। अत प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षणभर की है।[४४] वास्तव मे प्रत्यक्षीकरण के किन्ही दो क्षणो में वस्तुए केवल सादृश्य होती

है और इस सादृश्य को गलती से हम तादात्म्य मान लेते है। अनुभव की प्रत्येक अवस्था आर्विभूत होने के बाद तुरन्त तिरोहित होते ही अगली अवस्था में लीन हो जाती है और इस प्रकार प्रत्येक आगामी अवस्था मे सभी पूर्वगामी अवस्था अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है। जो अनुकूल परिस्थितियो मे अपने को अभिव्यक्त कर देती है।[45] प्रक्रिया ही वस्तु है इस प्रकार बोद्ध दर्शन उपादान के अभेद के अर्थ मे एकता को तो अस्वीकार्य करता है। लेकिन उसके स्थान पर सातत्य को मान लेता है। सांख्य सिद्धांत जगत की क्षणिकता को स्वीकार करती है। किन्तु यह क्रियागत है। सांख्य सत कारण की सत्कार्य रूप अभिव्यक्ति मानती है। वह नित्य सत्ता को स्वीकार करती है। इस प्रकार साख्य बौद्ध मत की समग्र क्षणिकवाद को स्वीकार नही करती है। क्योंकि बोद्ध किसी भी नित्य सत्ता को स्वीकार नही करती। जबकि साख्य में निरपेक्ष और नित्य प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार कर सत्कार्यवादी सृष्टि विकास को मानते है।

बोद्ध दर्शन मे कूटस्थ नित्य चैतन्य रूप आत्मा की सत्ता को नही माना गया है। अत ये अनात्मवादी है। इनके अनुसार जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं का एक प्रवाह या सतान है। विभिन्न अवस्थाओं की सन्तति को ही जीवन कहते है।[46] जीवन पूर्ववर्ती वर्तमान परवर्ती विभिन्न अवस्थाओ मे पुर्वापर कारण कार्य सम्बन्ध होता है। स्वय प्रतीत्यसमुत्पाद भूत, वर्तमान भविष्य तीनो कालो के अपने मे समाहित कर जीवन और जगत की व्याख्या करता है। मनुष्य केवल एक संघात का ही नाम है। जब तक यह संघात कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है। यह संघात 'पचस्कन्ध रूप है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है।[47] कर्म सिद्धान्त मे विश्वास बौद्ध दर्शन के लिए कोई दिक्कत शायद इसलिए पैदा नही करती क्योकि यदि कर्ता के बिना कर्म हो सकता है तो आत्मा के बिना भी पुनर्जन्म हो सकता है। बौद्ध तो प्रति क्षण पुनर्जन्म मानते है।[48] साख्य के कर्मवाद और पुनर्जन्म का आधार आत्मरूप पुरुष है। यह पुरुष साक्षी रूप है, जो शुद्ध चैतन्य और नित्य है। यद्यपि साख्य के कर्मसिद्धात में प्रतीत्यसमुत्पाद की भाति तीनो कालो अर्थात् प्रारब्ध संचित, क्रीयमाण कर्म का समाहार किया गया है। लेकिन जहाँ बौद्ध सत् प्रवाह को आधार मानती है। वही सांख्य आत्मा की नित्य सत्ता भूत आधार को स्वीकार करती है। बौद्ध मत मे निर्वाण सुख रूप माना गया है। क्योकि बौद्ध

दु ख से छुटकारा पाना ही जीवन का सर्वोच्च साध्य मानता है।[४९] लेकिन यह प्रश्न उठता है कि अनात्मवाद मे सुखानुभूति कैसे सभव है। जब आत्मवादी साख्य मोक्ष को आनन्दहीन मानता है। वह मोक्ष को दु ख त्रयाभिघात से मुक्त मानता है पर सत गुण सापेक्ष सुख मानने के कारण आत्मा को आनन्द नही मानता है।

बोद्ध प्रत्यक्षवादी है। सतत बुद्ध प्रत्यक्ष ओर तर्क के दायरे के बाहर के किसी चीज को स्वीकार नही करते। क्योकि बौद्ध व्यवहारनिष्ठ है अर्थात जीवन की मुख्य बात दु ख से बचना है।[५०] बोद्ध का मत है कि दर्शन किसी को निर्मल नही करता केवल शाति प्रदान करती है। वैभाषिक और सौत्रातिक यथार्थवादी है। जिसमे विषयी और विषय दोनों वास्तविक स्वतत्र है लेकिन इनकी वास्तविकता और स्वतन्त्रता साख्य से भिन्न है। क्योकि साख्य मूलतत्त्व की सत्ता मानता है और सत्कार्यवादी है। जबकि उक्त दोनो तो किसी मूलतत्त्व को स्वीकार नही करते है तथा क्षणिकवाद में सातत्य के आधार पर जगत को स्वीकार करते है।[५१] शून्यवाद की दृष्टि में सब कुछ असत् है जो कि प्रतीतिमात्र है।[५२] अत यह साख्यमत से बिल्कुल ही भिन्न है। क्योकि साख्य जगत को सत मानता है। अत बोद्धमत में नैतिकता की स्थापना के लिए कोई सेद्धातिक आधार ढूढना मानो की झझावात में क्षणिक रूप से पैर टिकाने की जगह ढूँढने की तरह है। विज्ञानवाद के मत मे एकमात्र विज्ञान की सत्ता है जो विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा निरपेक्षवाद पर आधारित था। किन्तु स्वतत्र विज्ञानवाद ने इसका निषेध कर क्षणिकप्रवाहवानविज्ञान को स्वीकार किया जिसका प्रतिपादन आचार्य दिड्नाग ने किया। इन्होने साख्यमत की आलोचना[५३] मे कहा है कि साख्य जिन तर्कों से असत्कार्यवाद का खण्डन करते है। वे ही तर्क उसके सत्कार्यवाद के विरुद्ध भी प्रयुक्त किये जा सकते है। यथा– सत्य की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि जो सत्य है वह पहले ही उत्पन्न है। उसकी पुनरुत्पत्ति नही की जा सकती जब उत्पत्ति योग्य पदार्थ ही नही तो उपादान कारण ग्रहण की आवश्यकता नही। स्वतत्रविज्ञानवादी को असत्कार्यवादी की अपेक्षा अर्थक्रियासामर्थ्यवादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसके असत्कार्यवादी का इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक क्षणिक वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व क्षण मे असत है। किन्तु उत्पत्ति का अर्थ असत् पदार्थ की उत्पत्ति नही अपितु अर्थक्रियासामर्थ्य है जो स्वय वस्तु का स्वरूप है। प्रकृति के नित्य होने से अर्थक्रियासामर्थ्य नही हो सकती और क्रमोत्पाद

नही कर सकती। दूसरे प्रकृति अकेले नही अपितु पुरुष के सहयोग से ही सृष्टि में प्रवृत्त होती है । फिर यदि कारण मे अभिव्यक्ति के लिए कोई अतिशय माना जाये तो इस अतिशय को ही कारण मानना होगा प्रकृति को नही। वास्तव में बिना नित्य प्रकृति के सहायता लिए ही हम कार्य कारण वैचित्र्य को शक्ति भेद द्वारा सिद्ध कर सकते है।

प्रो० जैकोबी के मत मे बौद्धमत बारह हेतुओ की संहिता या सन्तान साख्य दर्शन की परम्परा की स्पष्ट प्रतिच्छाया है। साख्य के प्रभाव के कारण ही बौद्धमत मे प्रधानतया जीवन दु खो के उद्भावक हेतुओ की व्याख्या की गई है। आचार्य गार्बे का भी यही मत है।[५४] ओल्डेनवर्ग का मत है कि बौद्ध दर्शन अपने मूल मे जगत को शून्य नही सद्वादी ही मानता है।[५५] प्रो० कीथ के अनुसार साख्य दर्शन और बोद्ध दर्शन मे कोई वास्तविक साम्य नही जैसे कि साख्य नित्यात्मवाद तथा यथार्थवाद का प्रबल पोषक है। परन्तु बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी तथा अवस्तुवादी है। साख्य की परिणाम परम्परा के साथ बौद्धो के द्वादश हेतुओ के सन्तान ही कोई विशेष सम्बन्ध नही। जबकि प्रो० गार्बे का मत था कि अपने आरम्भ काल मे बोद्ध दर्शन न तो नैरात्म्यवादी ही था और न ही अवस्तुवादी था। प्रो० कीथ[५६] के मत मे पुरुष एव गुण सिद्धात बौद्ध दर्शन मे नही है। कारणत और निराशावाद के लिए साख्य बोद्ध दर्शन का ऋणी है। बुद्धचरित्र[५७] मे आराध्य के उपदेश के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाला गया है। गुण साख्य का मौलिक प्रतिपाद्य है। जिसका प्रमाण ऋग्वेद[५८] मे भी मिलता है। प्रो० शारवैरकी[५९] के अनुसार साख्य के गुण के स्थान पर सौतान्त्रिक धर्म को स्वीकार करता है। जिन्हे मनोवैज्ञानिक संसार का उत्पादक मानते हैं। इनमे अन्तर यह है कि धर्म क्षणिक है और गुण नित्य है। जो प्रकृति स्वरूप है। सर्वत्र क्षणिक सर्वशून्य और सर्वदु ख से समुत्पादित निराशावाद साख्य मे नही है। साख्य सासारिक दु ख मे सुख तथा सासारिक सुख मे दु ख को त्रिगुण सिद्धात के अनुसार मानते है। क्योकि साख्य मे प्रत्येक जागतिक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। अत साख्य सुख दु ख दोनो के त्याग पर बल देता है। डा० राधाकृष्णन[६०] कहते है कि संसार की दु खग्राहिता तथा प्रकृति पुरुष विवेक से मोक्ष बुद्ध के लिए साकेतिक हुए होंगे तथा साख्य की मानसिक प्रक्रिया के अनुसार बुद्ध ने स्कन्ध विषयक सिद्धात निश्चित किया होगा।

किन्तु साख्य सुत्र मे बौद्धो द्वारा प्रतिपादित अनेक मतो का खण्डन भी है। साख्य सूत्र बाह्य पदार्थ की क्षणिकता का खण्डन करता है। सूत्रकार इस बात का निषेध करते है कि वस्तुओ का अस्तित्व केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर है। वे प्रमेय विषयक कोई सत्ता नही रखती। वे इस बात से भी असहमत है कि शून्य के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही।[६१] सृष्टि रचना सम्बन्धी साख्य की कल्पना एव बौद्ध दर्शन की कल्पना की कुछ साम्यता है। यथा– अविद्या का सादृश्य प्रधान से सस्कार का बुद्धि से विज्ञान का अहकार से नामरूप का तन्मात्राओं से तथा षडायतन का इन्द्रियो से है। दूसरी ओर साख्य दर्शन की प्रत्यय सघ और बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा मे समानता है।[६२] बौद्ध दर्शन के चार आर्यसत्य साख्य मत के चार सत्यो– (I) जिससे हमे छुटकारा पाना है वह दु ख है। (II) दु ख का कारण है प्रकृति पुरुष के भेद को न जानना। (III) दु ख के विनाश का नाम मोक्ष है। (IV) मोक्ष का उपाय सदसद् अविवेक सम्बन्धी ज्ञान के अनुकूल ही है।

(IV) योग दर्शन

साख्य एव योग दोनो समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र है। साख्य अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक शास्त्र है। साख्य अध्यात्म विद्या का सैद्धातिक रूप है योग उसका व्यवहारिक रूप। साख्य दर्शन मे यह सिद्धात प्रतिष्ठित हुआ कि विवेकज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है। जबकि योग दर्शन विवेकज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है इस व्यवहारिक पक्ष का व्याख्यान करता है।[६३] प्रो० हिरियन्ना ने साख्य और योग को एक मान लिया है। यह माना है कि साख्य ने स्वभाववाद जैसे भौतिक दर्शन के प्रभाव में जगत के विकास को प्रकृति से सबद्ध कर दिया जिससे ईश्वर निरवसर हो गया। योग ने उस महत्त्व को पुन प्राप्त कराया।[६४] लेकिन साख्य को स्वभाववाद से प्रभावित मानना ठीक नही है। यद्यपि ईश्वर के निमित्त कारण के रूप मे स्वीकार करने मे साख्य को कोई आपत्ति नही है। साख्य आधेय ओर योग आधार भी माना जाता है।[६५]

योग ने पच्चीस तत्त्वो को स्वीकार किया। विश्व की रचना नही हुई ओर वह नित्य है। इसमे परिवर्तन होते रहते है। अपने तात्त्विक रूप मे यह प्रकृति कहलाती है। इसका साहचर्य

गुणो के साथ है ओर उस रूप मे सदैव यह वैसा ही है। जीवात्माए असख्य है। जो जीवित प्राणियो को प्राणदान करती है। ये जीवात्माए स्वाभावत निर्मल नित्य ओर निर्विकार है। किन्तु विश्व से सबधित होने के कारण ये परोक्ष रूप मे सुख–दुख को अनुभव करने वाली बनती है। जो सासारिक जीवन मे विभिन्न प्रकार की शरीराकृतिया धारण करती है। प्रकृति के विकारो के सम्बन्ध मे योग का मत है कि विकारो की दो समान्तर धारणाए है। जो महत् से शुरू होती है[66] और एक पक्ष मे अहकार मन पच ज्ञानेन्द्रियो ओर पच महाभूतो मे मिश्रित होती है। व्यास के मत मे महाभूत पच सार तत्वो से निकलते है और एकादशेन्द्रियॉ अहकार अथवा अस्मिता से उद्भूत है। तन्मात्राए अहकार से नही निकली है। बल्कि उसकी उत्पत्ति महत् से हुई है। आ० विज्ञानभिक्षु का मत है कि महर्षि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनो को दो विभागो मे वर्णित किया है। किन्तु उनका सुझाव देने से नही है कि महत से तन्मात्राओ की उत्पत्ति अहकार पर निर्भर नही है।[67] साख्य मे अहकार सात्विक रूप मे इन्द्रियो को जन्म देता है और तमोरूप मे तन्मात्राओ को ओर ये दोनो ही महत् मे अवरुद्ध है। योग इन्द्रियो को स्वय भोतिक मानता है। इस प्रकार साख्य योग मे विकारो विषयक भेद अधिक महत्वपूर्ण है।

योग के मत मे जड चेतन के अभेद निबन्धक ससार को घटित करने की शक्ति अविद्या मे है।[68] यहॉ अविद्या को विद्या का अभाव रूप नही माना गया है यह ज्ञान विरोधी भाव पदार्थ है। अविद्या अनादि है। अत ससार अनादि है। प्रलयकाल में भी जीवात्माओ के चित्त प्रकृति की अवस्था मे लौट आती है और उसके अन्दर अपनी–अपनी अविद्याओ मे समाविष्ट हो जाते है। प्रत्येक नई सृष्टि के समय इनकी रचना नए शिरे से होती है। इसमे व्यक्तिगत अविद्याओ के कारण उचित परिवर्तन हो जाते है। योग की प्रतिबिम्ब व्याख्या प्रकृति से जडपदार्थो के साथ चेतन पुरुष का होने वाला अभेद सम्बन्ध ससार है।[69] परिणामवाद योग दर्शन का प्रमुख सिद्धात है, जो साख्य दर्शन की ही परम्परा है। लेकिन साख्य जहॉ कारण के रूप मे दो तत्त्व प्रकृति पुरुष को मानता है। वहीं योग मे नौ प्रकार के कारणो को माना गया है। जो नवविधिकारणवाद कहलाये जो इस प्रकार है। उत्पत्ति, स्थिति अभिव्यक्ति विकार, प्रत्यय, आदि वियोग अन्यत्व और धृति।[70] इस प्रकार योग मे सत्कार्यवाद को माना गया है। सभी प्रकट होने वाले धर्म धर्मो की योग्यता से अविच्छिन्न शक्तियाँ है।[71] विभिन्न फलो से उन योग्यताओ का अनुमान लगाते

है जो प्रकृति रूप कारण मे राम्भाव्य रूप रो होते है। इरा प्रकार सभी पदार्थो को मूल प्रकृति अपने राभी कार्यो के प्रति रागान्य रूप से अनुगत रहती हुई अपने मूल रवरूप को कायम रखती है। यही नही वरतु के अनागत अतीत तथा वर्तगान राभी धर्मो का आरितत्व प्रत्येक सगय रहता है।[७२] यथार्थ जगत गे सूक्ष्मता की अन्तिग परिणति जहॉ परगाणु मे होती है वही काल की रूक्ष्मता क्षण गे परगाणु एक स्थान से दूरारे स्थान पर जिसने समय मे जाता है वही सूक्ष्म काल खण्ड क्षण कहा जाता है। क्षण वरतुगत होता है। साराक्रम क्षण के आश्रय रो ही प्रवाह रूप रो चलता रहता है। क्षणो का यह क्रमिक नैरन्तर्य बना रहता है। यही काल की अवबोधक है।[७३]

योग दर्शन के अनुसार मनुष्य प्रकृति के इतना आधीन नही है जितना कि साख्य गानता है। योग गे गनुष्य को अधिक रवतन्त्रता प्राप्त होगी ओर ईश्वर कि राहायता रो वह अपनी मुक्ति प्राप्त कर राकता है। राख्य ओर योग दोनो गे एक रागान जन्म चक्र अपने विविध दु खो के साथ एक ऐरा विषय है जिरासे छुटकारा पाना है। प्रधान आत्मा का सयोग अर्थात् पुरुष का प्रकृति रो पृथक् हो जाना इरा रारार का कारण है। इरा रायोग के विनाश का नाग ही गोक्ष है और इराका एकमात्र राधन पूर्ण अन्तर्दृष्टि है।[७४] आत्गा द्रष्टा है ओर प्रधान ज्ञेय है।[७५] दोनो का रायोग ही रारार का कारण है। जहा राख्य गे विवेकज्ञान मोक्ष का साधन है। वहॉ योग चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रत्यन को महत्व देता है।[७६]

साख्य का मुख्य बिदु तार्किक अन्वेषण था तो योग भक्तिपरक राधनाओं के रवरूप तथा गानरिाक निग्रह का विवेचन करता है। इराालिए योग दर्शन को ईश्वरपरक विचार प्रकट करने के लिए बाध्य होना पडा। लेकिन योग मे जगत का मूल कारण नही है बल्कि योगराधना के राम्बन्ध मे ईश्वर केवल ध्यान का ही विषय नही। बल्कि बाधाओ को दूर करके लक्ष्य की प्राप्ति मे राहायता करने वाला भी है। किन्तु ईश्वर योगदर्शन का अतरग भाग नही है। यहाँ क्रियात्गक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर रो पूरे हो जाते है और वह ईश्वरवाद की कल्पनात्गक रुचियो रो अधिक वारता नही रखता, ईश्वर पूर्ण रवभाववाला प्रकृष्ट रात्व है।[७७] उरागे रार्वज्ञाता का अकुर पूर्णता तक पहुँच जाता है।[७८] ईश्वर भी पुरुष है, लेकिन यह पुरुष विशेष' है। यह रादागुक्त और असग है। अत योग इसे 'पुरुष विशेष ईश्वर कहते है।[७९] ईश्वर कालातीत है।[८०] ईश्वर गे

ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति एव क्रियाशक्ति तीनो परम उत्कर्ष को प्राप्त है। ईश्वर को प्रकृति के विशुद्धतम् पक्ष अर्थात सत्व के साथ नित्य और अटूट सबध है। वह अपनी करुणा से सत्वगुण धारण करके परिवर्तन के सदर्शन मे अतप्रवेश करता है।[८१] प्राणिध्यान अर्थात निस्वार्थ भक्ति से हम ईश्वर की दया का पात्र बनने के योग्य हो जाते है। आ० विज्ञानभिक्षु का मत है कि सब प्रकार के चैतन्य युक्त ध्यान में ईश्वर का ध्यान सर्वोत्तम है।[८२] लेकिन ईश्वर विश्व का स्रष्टा अथवा सरक्षक नही है। इस प्रश्न पर विवाद है कि महाप्रलय की अवस्था मे ईश्वर अपनी उपाधि से सयुक्त रहता अथवा नही। वाचरपति मिश्र का मत है कि महाप्रलय मे ईश्वरोपाधि का लय होता है। इनके मत मे सत्कार्यवाद के अनुसार कार्यकारणभाव सम्बध का नियामक है। कारण से कार्य का अविर्भाव होगा तथा उसी मे कार्य का तिरोभाव होना उक्त बात की पुष्टि करता है।[८३] लेकिन विज्ञानभिक्षु महाप्रलय मे ईश्वरोपाधि का लय नही मानते हैं।[८४]

आ० वाचस्पति मिश्र और भोजराज ने ईश्वर प्राणिध्यान को केवल एक स्थलीय महत्ता दी है। जबकि भिक्षु ने ईश्वर प्राणिध्यान आदि के द्वारा की गई साधना को सार्वत्रिक उपादेयता से युक्त बताया है। साख्य पद्धति के अनुकूल की गई निरीश्वरयोगसाधना– यद्यपि सफल होती है तथा विज्ञानभिक्षु की दृष्टि मे वह सोविध्यपूर्ण नही है। इसीलिए जीवात्मयोगसाधना से परमात्मयोगसाधना उन्हे कही अधिक श्रेयस्कर लगती है। ईश्वर प्राणिध्यान का मार्ग उनकी दृष्टि मे राजमार्ग है।[८५] यद्यपि महर्षि पतजलि और महर्षि व्यास ने ईश्वर का स्वरूप स्वय साधना के क्षेत्र मे प्रस्तुत किया था किन्तु ईश्वर की मान्यता केवल वैकल्पिक रूप से ही उपस्थित हुई थी। आ० भिक्षु ने इस विकल्प को मुख्यकल्प और अनुकल्प के क्रम मे परिवर्तित कर दिया।[८६] ईश्वर साधना मुख्यकल्प और जीवात्म साधना अनुकल्प कहा गया है किन्तु भिक्षु की यह भक्ति निर्गुण ईश्वर की भक्ति है जो चिन्मात्र और चिरन्तन है तथा उसका वाचक शब्द ॐ है।[८७]

साख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष नामक दो नित्य मौलिक तत्त्व मानता है। क्या योग का ईश्वर नामक तत्त्व इन दोनो से भिन्न है या फिर इन्ही दोनो मे से किसी एक मे अन्तर्भावित किया जा सकता है? ईश्वर को प्रकृति तत्त्व के अन्तर्गत माना नही जा सकता, क्योकि प्रकृति अचेतन है। ईश्वर को इन दोनों तत्त्वो से भिन्न एक तीसरे प्रकार मौलिक तत्त्व मानने पर साख्य

ओर योग शारत्र एक दूरारे रो बिल्कुल भिन्न प्रकार के शारत्र हो जायेगे। इरालिए योगरात्रकार पातजलि ने ईश्वर को एक प्रकार का पुरुष ही माना है क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरागृष्ट पुरुषविशेषईश्वर ईश्वर एक रामान्य पुरुष नही है। फिर भी वह एक पुरुष है। भले ही वह विशेष प्रकार का पुरुष हो। इसीलिए भिक्षु ईश्वर का अन्तर्भाव पुरुष और उसकी उपाधि का अन्तर्भाव प्रकृति मे करते है।[८८] श्रुतिया भी असगो ह्यय पुरुष कहती है तो फिर ईश्वर नामक पुरुष विशेष मे कोन–सा वैशिष्ट्य हुआ जिसके बल पर उसे विशिष्ट पुरुष माना जाय? निराकरण यह है कि परामर्श शब्द का अर्थ यहॉ वास्तविक भोग नही है। ईश्वर को क्लेशकर्मादि रो अपराकृष्ट गाना गया है। पुरुषो मे इन क्लेशकर्गादि की यह व्यपदिश्य मान्यता ही पुरुषो का भोग कहा जाता है। इसी व्यपदिश्यमान भोग केवल पर पुरुष को राख्ययोगशास्त्र मे भोक्ता कहते है।[८९] यही व्यपदिश्यमान भोग ही यहॉ पर परामर्श शब्द से अभीष्ट है। इस प्रकार का परामर्श राभी बद्वपुरुषो मे रहता है। परन्तु ईश्वर मे इरा प्रकार का भी क्लेशकर्गादि परामर्श नही रहता। सामान्य पुरुषो रो ईश्वर का यही वैशिष्टय है।[९०] ईश्वर गे त्रैकालिक परागर्श शून्यता है। जबकि कैवल्य प्राप्त रिद्धो गे पूर्णकालिक परागर्श रहता है। ईश्वर शुद्धरात्ता हे नित्य तथा शाश्वत है। रृष्टि के प्रयोजन रो प्रकृति की राम्यावरथा मे सृष्टि के प्रयोजन रो क्षोभ उत्पन्न करने की इच्छा भी तो ईश्वरोपाधि मे उपस्थित रहती है वह रवय पूर्ण ज्ञान शक्ति है।[९१]

साख्य का रवतत्रप्रधानकारणतावाद अनुचित है। योग भी रवतत्रप्रधानकारणतावादी है। क्योंकि ईश्वर की सत्ता रवीकर करने पर भी योग प्रकृति की प्रवृत्ति मे उराका प्रतिबन्ध निवर्तकत्व भाग रवीकर किया गया है। किन्तु इरारो राख्य और योग का अप्रामाण्य नही है। इरा अश मे मे ये दोनो शारत्र दुर्बल है।[९२]

डॉ० कीथ[९३] राख्ययोग को एक राम्प्रादाय गानते है। इराका रागर्थन गे डॉ० पुलिन बिहारी चक्रवर्ती कहते है कि महाभरत मे वर्णित राख्य योग से मिश्रित है। आ० राहिता के आधार पर भी राख्य को राख्य योग कहा गया।[९४] प्रो० हिरियन्ना[९५] भी गानते है कि राख्य योग एक साथ ही है। साख्य ने रवभाववाद जैसे भौतिकदर्शन के प्रभाव मे जगत के विकास को प्रकृति से ही सबद्ध कर दिया। जिससे निरवरार हो गया योग ने उस महत्व को पुन प्राप्त कराया।

(V) न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन रामानतत्र है। परमाणुवादी बहुत्ववादी वस्तुवादी और ईश्वरवादी है। न्याय दर्शन मे जगत के उपादान कारण क रूप मे सोलह पदार्थों– प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितडा हेत्वाभास छल जाति और निग्रह–स्थान को मानता है जबकि वैशेषिक दर्शन मे सात पदार्थ माना गया है जिसमे भाव पदार्थ मे छ पदार्थ – द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय तथा अभाव पदार्थ एक स्वतत्र पदार्थ है।[९६] निमित्त कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को न्यायवैशेषिक स्वीकार करते है।[९७] यद्यपि यह विवाद का विषय है कि महर्षि कणाद् ईश्वरवादी थे अथवा नही। वैशेषिक सूत्र मे ईश्वर का उल्लेख नही मिलता किन्तु उनकी जीवनी के आधार पर ईश्वरवादी होने का प्रमाण दिया जाता है।[९८] इसी क्रम मे आचार्य प्रशस्तपाद पहले वैशेषिकाचार्य है जिन्होंने वैशेषिक दर्शन को ईश्वरवादी माना। यहा तक कि शकराचार्य भी ईश्वरवादी वैशेषिक का ही उल्लेख करते है।[९९] इस प्रकार न्यायवैशेषिक मे ईश्वर को जगत का स्रष्टा पालक और सहारक माना गया है। यद्यपि कुछ लोगो का मत है की प्राचीन वैशेषिक ऐसा नही था। उनके अनुसार ईश्वर केवल अदृष्ट का सचालक मात्र है।[१००] ईश्वर उपादान पदार्थों के द्वारा जगत की सृष्टि और जीवो के सुख–दु ख का विधान जीवों के कर्मानुसार करता है। इसी के आधार पर ये ईश्वर को सिद्ध करने का तर्क देते है।[१०१] जगत धर्म प्रधान है। अत ईश्वर जगत का धर्म–व्यवस्थापक है जीवात्माओ के कर्मों का वह प्रयोजक कारण है। ईश्वर सभी जीवो के अपने–अपने अदृष्ट (अतीत सस्कार) के अनुसार कर्म करने को तथा उसके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है।[१०२] साख्य दर्शन द्वितत्त्ववादी वस्तुवाद है। मात्र दो निरपेक्ष तत्त्व प्रकृति जड रूप और पुरुष चेतन रूप है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही किया गया है। यद्यपि साख्य दर्शन सृष्टि की प्रयोजनवादी व्याख्या करता है। अत यह भी कर्मवाद मे विश्वास करती है। लेकिन इसके दर्शन मे पुरुष को साक्षी और निर्विकार निर्लिप्त माना गया है। अत ये न्यायवैशेषिक के ईश्वर की भाति सृष्टा–पालक–सहारक नही है। साख्य मे प्रकृति ही पुरुष के सामीप्य को प्राप्त कर सृष्टि के लिये प्रयत्नशील होती है। अत पुरुष निमित्त कारण है। साख्य ने न्यायवैशेषिक के कडे पदार्थों को जटिल और गतिशील विश्व की व्याख्या के लिए

पर्याप्त साधन न मानकर आणविक अनेकवाद के सिद्धात से वस्तुत आगे पग बढाया। सृष्टि रचना के स्थान पर विकारावाद का प्रतिपादन करके साख्य ने अलोकिक धर्म की नीव मे ही कुठाराघात किया। इसके अनुसार यह ससार इसी सृष्टिकर्ता ईश्वर का कार्य नही है। जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस ससार को आह्वान करके उत्पन्न किया बल्कि यह असख्य आत्माओ तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है।[१०३]

सृष्टिवाद मे न्यायवैशेषिक के दो महत्वपूर्ण मत है। एक कारण सिद्धात और दूसरा परमाणुवाद न्यायवेशेषिक तीन प्रकार के कारण मानता है –

(i) समवायि कारण इसे उपादान कारण भी कहते है। यह द्रव्य रूप होता है कार्य अपने समवायि मे समवाय सम्बन्ध मे रहता है और उससे पृथक् नही किया जा सकता। जैसे घडे का समवायि कारण मिट्टी है।

(ii) असमवायि कारण जो समवायि कारण मे समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्योत्पत्ति मे सहायक होने के कारण रहता है। यह सदा गुण या कर्म होता है। गति के आधार कर्म को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने का अर्थ है कि न्यायवैशेषिक स्थिरता को वास्तविकता का एक सम्भव लक्षण मानता है। जबकि साख्य इससे भिन्न मत रखता है। जिसके अनुसार भौतिक जगत मे वस्तुए बिल्कुल ही स्थिर नही है। न्यायवैशेषिक मत में विभु द्रव्य सदैव गतिहीन होता है। क्योकि ये केवल स्थान परिवर्तन परस्पन्द को मानते है। रूप परिवर्तन परिणाम को नही[१०४] जैसे तन्तु सयोग पट का असमवायि कारण है।

(iii) निमित्त कारण यह शक्तिमान होता है। जो अपनी शक्ति के उपादान कारण से कार्य उत्पन्न करता है। यथा– घट का निमित्त कारण कुम्भकार है। सामान्यत दो कारण ही माने जाते है। उपादान अर्थात् समवायि कारण ओर निमित्त कारण मे ही असमवायि कारण को माना जाता है।[१०५] इनके अनुसार कारण कार्य मे आनन्तर्य होता है। दोनो युगपत् नही हो सकते। कार्य अपने कारण से भिन्न और प्रागभाव होने से असत् होता है। कार्य पहले असत् है। फिर निमित्त कारण की क्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है। उत्पन्न कार्य सत्। है। अत ये असत्कार्यवादी

कहलाते है।[१०६] यह आरम्भवाद है क्योकि इनके अनुसार कार्य एक नई सृष्टि है। उसकी सत्ता का आरम्भ उसकी उत्पत्ति के साथ ही होता है। किन्तु साख्य के कारण सिद्धात मे उपादान कारण रूप प्रकृति तथा निमित्त कारण रूप पुरुष दो ही कारण है। जिनके सयोग से सृष्टि होती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति कारण है और जगत कार्य है। साख्य परिणामवादी है। अत इनका मत है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति वास्तविक परिवर्तन है। प्रकृति भी सत्य है और जगत भी सत्य है। जैसा कि न्यायवैशेषिक मानते है कि सत एव नित्य परमाणुओं से उत्पन्न होने वाला जगत स्वभावत सत्य है। साख्य मत मे कारण और कार्य मे तादात्म्य है अर्थात कारण कार्य मे कुछ दृष्टियो से भिन्नता और कुछ मौलिक दृष्टियो से अभिन्नता है। उत्पादन किसी असत् पदार्थ का नही हो सकता है। बालू से तेल कभी नही मिलता। अत स्पष्ट है कि कार्य अपने कारण मे सूक्ष्म रूप से पहले से ही विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद है।

न्यायवैशेषिक दोनो परमाणुवादी है।[१०७] परमाणु जगत का कारण है। इस जगत के सारे भौतिक पदार्थ सावयव और उत्पत्ति विनाशशील है तथा नित्य परमाणुओ के विभिन्न सयोग से बनते है। पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ है परमाणु सयोग और विनाश का अर्थ है परमाणु सयोग विभाग। अतीन्द्रिय निर्वयव अभिजात्य और नित्य भौतिक द्रव्य परमाणु है। परमाणुओ मे गुण भेद और सख्या भेद दोनो है। ईश्वर की प्रेरणा और अदृष्ट आदि की सहायता से इनमे क्रिया उत्पन्न होती है। जिससे इन परमाणुओ का परस्पर सयोग होता है। परमाणुओ का भौतिक और रासायनिक विवेचन[१०८] न्यायवैशेषिक की महत्वपूर्ण देन है। परमाणुओ की आद्य स्पन्दन होते ही एक परमाणु दूसरे परमाणु से जुडकर द्वयणुक बन जाता है। सर्वप्रथम सारे परमाणु द्वयणुको मे परिवर्तित हो जाते हैं और फिर इन द्वयणुको से सृष्टि रचना होती है। तीन द्वयणुकों से त्रयणुक और चार त्रयणुको से चतुरणुक बनते हैं। इस पकार यह क्रम चलता है एव स्थूल महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है। यह परमाणुवाद जडवाद या भौतिकवाद नही है। अपितु आध्यात्मिक वस्तुवाद है। साख्य मे प्रकृति त्रिगुणात्मक सत्व रज व तम है। ये गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। यद्यपि साख्य मे गुण शब्द का प्रयोग हुआ है। तथापि ये न्यायवैशेषिक के गुणो के अर्थ मे गुण नही है। ये प्रकृति रूपी द्रव्य के गुण या धर्म नही है। अत प्रकृति तथा गुणो मे द्रव्य गुण सम्बन्ध नही है। ये गुण स्वय द्रव्य रूप और विभु है। न्यायवैशेषिक के परमाणु आदि की भाति निष्क्रिय

जड नही अपितु प्रकृति सक्रिय जड है।[१०९] न्यायवैशेषिक गुण किसी द्रव्य के उपादान कारण नही बन सकते हैं। सत्त्वादि को गुण कहने का अर्थ केवल इतना है कि ये तीनो पुरुष का बन्धन मोक्षरूपी उपकार करते है अथवा गुण का एक अर्थ रज्जु भी है। जो पुरुष रूपी पशु को बाधने के लिये त्रिगुणात्मक महदादि रूप रज्जु प्रवृत्ति होती है।[११०] ये तीनो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि से रहित है। इन तीनो गुणो के पारस्परिक वैधम्य है। क्योकि ये दु खसुखमोहात्मक है ये तीनो गुण सख्या में केवल तीन नही है अपितु व्यक्ति भेद से अनन्त है।[१११] वैशेषिक परमाणुओ मे इन असख्य गुणत्रय से उन्होने अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है कि इन सत्वादि शब्द स्पर्श आदि गुण नही होते । जबकि परमाणु मे शब्दादि का अस्तित्व विशेष के माध्यम से सदा बना रहता है। इन तीनो द्रव्य एव गुणो के विशिष्ट प्रकार के सयोग से ही नाना धर्म उत्पन्न होते हैं। वैशेषिक के मत मे तत्त्व परमाणुओ मे रूपादि धर्म होते है।[११२] नैयायिक के मत मे इन्द्रियाँ भौतिक है अर्थात् इन्द्रियो की उत्पत्ति अपने महाभूतो से होती है। जबकि साख्य के अनुसार महाभूतो की उत्पत्ति ज्ञानेन्द्रियो से होती है ओर ये ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप सात्विक अहकार से उत्पन्न होती है। अत यदि इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्विक अहकार से उत्पन्न न होकर अप्रकाशक आकाश आदि भूतो से पृथक्–पृथक उत्पन्न हुई है तो वे प्रकाशक कैसे हुई है? तब आकाश आदि की भाँति इन्हे भी प्रकाश्य होनी चाहिए प्रकाशक नही।[११३]

आत्मा के सम्बन्ध मे न्यायवैशेषिक का मत वस्तुवादी है। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो ज्ञान सुख–दुख इच्छा राग–द्वेष स्मरण प्रतिभिज्ञान आदि करता है।[११४] कर्ता रूप आत्मा ही कर्मफल धर्म और अधर्म अर्थात अदृष्ट का आधार है। जीवात्मा के किसी भी उपयोग के साधन का निर्माण उसके अदृष्ट के बिना नही हो सकता आत्मा नित्य निरवयव होने के साथ–साथ एक व्यापक तत्त्व है। व्यापक होने का अर्थ परममहत्परिमाण वाला द्रव्य होना है।[११५] न्यायवैशेषिक प्रत्येक जीवित शरीर मे उपलब्ध आत्मा को परस्पर भिन्न मानते है अद्वैती की तरह एक नही। आत्मा ज्ञानवान है। अत स्वत प्रकाश न होकर एक जडतत्त्व है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा का आगतुक गुण है। मन इन्द्रिय शरीर से सयुक्त होने पर विषयो के सम्पर्क मे आने पर ही उसमे ज्ञान, सुख, दु ख इच्छा यत्न आदि गुण उत्पन्न होते है। इस प्रकार चार्वाक को छोडकर यहा आत्मद्रव्य कल्पना भारतीय दर्शन मे आत्मा की स्वरूप की निकृष्टतम कल्पना है। क्योकि आत्मा

गूलत जड द्रव्य है ओर चैतन्य एक आगन्तुक गुण है। साख्य दर्शन मे आत्म रूप पुरुष की सत्ता स्वीकार की गई है जो पूरी तरह से अध्यात्मवादी है। साख्य पुरुषबहुत्व को स्वीकार करता है जैसा कि न्यायवैशेषिक भी मानते है। लेकिन साख्य के पुरुष का न्यायवैशेषिक की आत्मा से मूलभूत अन्तर है। पुरुष न तो जड है और न ही द्रव्य है यद्यपि वह विभु है। पुरुष निष्क्रिय है। पर विशुद्ध चेतन है। चेतन उसका आगन्तुक नही स्वरूप है। यही नही पुरुष का ज्ञान सामान्य कुदृष्टि अनुमान से होता है। पुरुष कर्ता भोक्ता या ज्ञाता नही है वह साक्षी मात्र है। उसे सुख–दु ख इच्छादि का कोई सम्बन्ध नही है। साख्य का पुरुष निर्विकार और निर्लिप्त है। दूसरी ओर न्यायवैशेषिक मन को अणु रूप निरवयव मानते है। अर्थात् वह एक समय मे एक ही विषय ग्रहण करता है जबकि साख्य मन को सावयव मानते है। जो एक साथ कई विषयो को ग्रहण करता है। न्यायवैशेषिक मत मे कदाचित एक समय मे अनेक ज्ञानो की उत्पत्ति प्रतीत होती है। जोकि भ्रम है भ्रम का आधार है। बडी शीघ्रता से एक के बाद दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति।[११६] अत न्यायवैशेषिक दर्शन साख्य के मध्यम परिणामवाद को नही मानता।[११७]

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष के स्वरूप की विवेचन का अर्थ है।[११८] न्यायवैशेषिक की दृष्टि से मोक्ष अपवर्ग' कहलाता है जबकि साख्य कैवल्य कहता है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि में बन्धन अविद्या है तो मोक्ष विद्या है। आत्मा अविद्यावश कर्म करता है। कर्म से धर्माधर्म सस्कार अदृष्ट मे सचित होते रहते है तथा फलोन्मुख होने से आत्मा के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि उत्पन्न होती है। आत्मा जब तक कर्म के जाल मे फॅसा रहता है तब तक उसका बन्धन बना रहता है। ज्ञान द्वारा कर्म का विनाश हो जाने पर नये कर्म उत्पन्न नही होते तथा सचित और प्रारब्ध कर्मो को क्षय होने पर आत्मा शरीर इन्द्रियो और मन से आत्यन्तिक विरोध हो जाता है तथा आत्मा अपने शुद्ध रूप मे स्थित हो जाती है। मोक्ष समस्त दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[११६] इसे साख्य भी मानता है और आत्मा के अनन्त अवस्थान को मोक्ष कहते है। अर्थात् मोक्ष के समय आत्मा के सभी आगन्तुक धर्म–विशेषगुण सदा के लिये नष्ट हो जाते है।[१२०] इस प्रकार मुक्त आत्मा अचेतन शिलाखण्ड के सदृश होकर ज्ञेय या विषय रूप हो जाता है। जिसमे चेतन एव आनन्द का सर्वथा अभाव रहता है और ऐसे आत्मा का ईश्वर के

राथ सम्बन्ध स्थापित नही किया गया। राख्य जीवन मे कर्म फल को महत्व देती है किन्तु वह आत्मरूप पुरुष को जड द्रव्य नही बनाती। राख्य मे भी मोक्ष को आनन्दहीन गाना गया है। लेकिन यह जड द्रव्य के रामान विषय रूप नही हो जाता। साख्य का पुरुष शुद्ध चेतन रूप निर्विकार और साक्षी रूप रात्ता है। गोक्ष का राधन विवेकज्ञान है। जिरागे प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान निहित होता है। पुरुष कर्ता या भोक्ता या ज्ञाता नही है। लेकिन चेतना उसका रवरूप गुण है।

श्रुतियो मे सर्वज्ञ इत्यादि शब्द तो रोही शिर आदि की तरह लौकिक विकल्पो की भॉति आये हुए है। पुरुष को नित्य ज्ञान रूप गानने गे– (i) अन्त करण (ii) व्यवराय (iii) अनुव्यवसाय (iv) उनके अधार। इन चार पदार्थों की कल्पना से बचने का लाघव भी होता है। जबकि नैयायिको की यह कल्पना गौरव रवीकार करना पडता है। आचार्य भिक्षु के गत मे (i) अन्त करण (ii) उसकी वृत्ति (iii) नित्यज्ञान रूप आत्मा ये तीन ही पदार्थ मानने पडे गे।[121] पुरुष जाग्रत रवप्न रुषुप्ति दशाओ की बुद्धि वृति का अविकल राक्षी है। वह नित्य गुक्त है। प्रकृति के राथ उराका रायोग अविद्या रो होता है। यह रायोग आविधिक उपराग या अधिक ज्ञान रूप होता है। इसलिए पुरुष गे कर्तृत्व और बृद्धि या प्रकृति गें ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। वस्तुत वह नित्य दृष्टया ज्ञान रूप है। यह चिन्मात्र और केवल है तथा कूटस्थ नित्य भी है।[122] ब्रह्म गे प्रकति, पुरुष आदि अखिल शक्तियॉ अन्त लीन रहती है और रवत चिन्मात्र होने पर भी वह विशुद्ध सत्वाख्यमायोपाधि युक्त है। इससे ब्रह्म जगत का कारण भी सिद्ध हुआ है और इसमे विकारित्व का प्रसग नही आया। इसरो ब्रह्म जगत का अधिष्ठान कारण के राथ–साथ उपादान कारण रिद्ध होता है क्योकि उरारो अविभक्त रहकर उपष्टब्ध होकर भी प्रकृत्यादि का परिणगन का कार्य रूप गे हुआ है। वैशेषिक और राख्य रिद्धातों रो भी यह गत अविरुद्ध है। वैशेषिक ब्रह्म को निमित्त कारण कहते है और हमारी दृष्टि रो ब्रह्म ससार का रामवायि अरामवायि आदि से उदारीन तथा निगित्त कारणो से विलक्षण चौथे प्रकार का आधार (अधिष्ठान) कारण है। इरा प्रकार ब्रह्म की उपादान कारणता उसकी अन्तर्लीन परिणामिनी शक्ति प्रकृति के बल पर रिद्ध हुये और जगत का कर्तृत्त्व–ब्रह्म' मे माया के बल पर रिद्ध होने से यहा निगित्त कारणता ही है। अत ब्रह्म जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी सिद्ध होता है।[123] आ० भिक्षु

न्यायवैशेषिक की भूमिका को साख्य एव वेदान्त के परिमार्थिक स्तर के बहुत नीचे मानते है।[१२४]

विज्ञान के परमाणुवाद के आधार पर हाल मे कुछ समय तक न्यायवैशेषिक अधिक वैज्ञानिक माने जाते थे तथा साख्यवेदान्तादि अनुभव कि व्याख्या नही अपितु आध्यात्मिक तुष्टि की प्रत्ययात्मक मार्ग थे। लेकिन आज न्यायवैशेषिक के परमाणुवाद अनुकूल नही रहे। क्योकि अब परमाणुवाद स्थूल प्रकार के द्रव्य कण न होकर सर्वव्यापी वैद्युतशक्ति के अभिव्यजक केन्द्र मात्र है। जिनके परित अनवरत गतिशील परिवर्तन की धाराए है।[१२५] दूसरी ओर साख्य मे अग्नि जो सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण दिया गया है वह विद्युत है।[१२६]

(VI) मीमांसा दर्शन

मीमासा बहुत्ववादी और बाह्याथार्थवादी है। इस जगत के जड पदार्थ तथा जीवात्माए सभी सत्य है। इस जगत की न तो सृष्टि होती है और न ही प्रलय। जगत के विभिन्न पदार्थ और व्यक्ति आते–जाते ओर बदलते रहते है कि यह जगत सदैव चलता रहता है।[१२७] मीमासा ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करता है।[१२८] प्रभाकर[१२९] आठ पदार्थ द्रव्य गुण कर्म सामान्य, परतन्त्रता(समवाय) शक्ति सादृश्य और सख्या तथा कुमारिल[१३०] पाच पदार्थ मानते है। द्रव्य गुण कर्म सामान्य चारो भावात्मक और अभाव और पुर्नजन्म कर्मवादी मे मीमासा की अटूट आस्था है। जिसके अनुसार कर्म कार्य कारणभाव के सम्बन्ध मे एक शक्ति का आर्विभाव करता है, जिसे 'अपूर्व[१३१] कहा गया है। यह कर्म का फल भोग करने की शक्ति है जो समय पाकर फलित होती है और फल की प्राप्ति होने तक आत्मा मे रहता है। कर्म फल का व्यापक नियम यह है कि लौकिक या वैदिक सभी कार्यों के फल सचित होते है।

साख्य दर्शन वस्तुवादी और द्वैतवादी है। वह प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वो की सत्ता स्वीकार करता है। साख्य जगत को वास्तविक मानता है तथा पुरुषबहुत्व के आधार पर जीवात्माओ को भी सत्य मानता है। लेकिन वह जगत को नित्य न मानकर सृष्टि ओर प्रलय जो क्रमश प्रकृति एव पुरुष के सयोग और वियोग पर आधारित है को स्वीकार करता है। कर्मवाद और पुर्नजन्म मे विश्वास रखता है। लेकिन वह अपूर्व जैसी किसी अदृश्य शक्ति को

रवीकार नही करता अपितु इनके रथान पर लिगशरीर को रवीकार करता है। यद्यपि साख्य भी ईश्वर के अरितत्व को रवीकार नही करता है। साख्य मीमासा के यज्ञादि कर्मों को महत्व नही देती।

कुमारिल द्रव्य को नियत मानते हुए उसमे भी परिवर्तन को रवीकार करते है। यहॉ गुण और रूप का परिवर्तन होता रहता है।[132] वारतविक गागले गे यह मत साख्य रो गिलता–जुलता है। यह परिणामवाद है और यहॉ उपादान कारण और कर्म का सम्बन्ध वहॉ की तरह भेदाभेद माना गया है। लेकिन दोनो मे अन्तर यह है कि कुमारिल द्रव्यो को अन्त मे एक नही अनेक मानते है तथा वे परिणाम सम्बन्धी मत को आत्मा पर भी लागू करते है। जबकि साख्य की आत्मरूप पुरुष नितान्त अपरिणामी और निष्क्रिय है।[133]

आत्मा[134] अनेक है। जो कि नित्य सर्वगत विभु व्यापक द्रव्य है जो ज्ञान का आश्रय है। आत्मा ज्ञाता कर्ता ओर भोक्ता है। आत्मा गे रपन्दन नही है[135] परिणाग होता है।[136] आत्गा एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय नही हो राकती। शरीर इन्द्रिय मन ओर बुद्धि से गिन्न है। अत आत्मा ज्ञान का गिलन हो सकती है। प्रभाकर[137] आत्मा को जड द्रव्य गानते है जो ज्ञान नामक गुण का आश्रय है। ज्ञान आत्गा का आगन्तुक गुण है। लेकिन कुगारिल[138] ज्ञान को आत्गा का परिणाम या क्रिया मानते है। जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को जानती है। कुमारिल आत्मा को चिदचिद् रूप या जड बोद्धात्मक मानते है। आत्मा ज्ञानशक्ति रवभाव है। अत आत्मा मानरा प्रत्यक्ष रूप अहग् प्राग गम्य है। गीगारा गे गोक्षावरथा गे रुषुक्ति के रागा। आत्गा गें ज्ञान सुखादि कि स्थिति नही मानते क्योकि उस समय आत्मा शुद्ध द्रव्य रूप मे रहता है एव शरीर इन्द्रिय सम्बन्ध विलय के कारण गुण ओर क्रिया रो उसका राम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यद्यपि उराका ज्ञानशक्ति रवभाव बना रहता है। राख्य का पुरुष भी अनेक नित्य ओर विभु रूप है। साख्य का पुरुष ज्ञाता या कर्ता या भोक्ता नही वह राक्षी रूप है। मुलत वह निर्गुण ओर निष्क्रिय चैतन्य रूप है। अत वह ज्ञान का विषय नही है। उराका ज्ञान सागान्यतोऽदृष्टानुगान के द्वारा ही सम्भव है। पुरुष मे किसी भी प्रकार का विकार नही होता। अत प्रमा भी बुद्धि का धर्म है, क्योकि यह भी विकार का ही परिणाम है जबकि पुरुष निर्विकार है।

कुछ लोगो का मत है कि मीमासाक मोक्ष को नही मानते। अपितु वे रवर्ग को ही मोक्ष

मानते है।[१३९] अर्थात् जो स्वर्ग चाहता है वही यज्ञ करे। लेकिन कई मीमासको ने मोक्ष सम्बन्धी मत व्यक्त किये है। इनके अनुसार इस दृश्यमान जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है। शरीर तो भोगायतन है। इन्द्रिया भोग–साधन है और पदार्थ भोग–विषय है। इन तीनो प्रकार के बधनो के आत्यान्तिक नाश को मोक्ष मानते है।[१४०] मोक्षावस्था को पाने के लिये कर्म ही प्रधान कारण है और आत्मज्ञान सहकारी कारण है अत मीमासा ज्ञान–कर्म–समुच्चयवादी है।[१४१] प्रभाकर के अनुसार देह का अत्यान्तिक उच्छेद ही मोक्ष है।[१४२] चैतन्य आत्मा का धर्म न होने के कारण वह सुख–दु ख का अनुभव नही करता। अत मोक्षावस्था आनन्द की अवस्था नही है।[१४३] परन्तु परवर्ती भटटमीमासको ने मोक्ष को आनन्दानुभूति के रूप मे माना है।[१४४] साख्य दर्शन मे मोक्ष की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। साख्य मे प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान ही मोक्ष माना गया है। मोक्ष के लिये ज्ञान सर्वोत्तम साधन है। जिसे साख्य विवेकज्ञान कहता है। साख्य चैतन को पुरुष का नित्य रूप मानता है किन्तु मोक्ष को आनन्दहीन मानता है। क्योकि वह सुखादि को प्रकृति का गुण मानता है। अत पुरुष निर्गुण होने के कारण मोक्ष मे आनन्दादि से भी मुक्त हो जाता है। मीमासा मे सामान्य नियम तो यही है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है पर कभी–कभी इस नियम के अपवाद भी होते है जो ख्याति कहलाते है।[१४५] प्राचीन साख्य सत्‌ख्याति' को मानता था, जो प्रभाकर[१४६] के 'अख्याति के समान माना जाता है। भ्रम अज्ञान या अपूर्व किन्तु सत्य ज्ञान है। समस्त ज्ञान यथार्थ है। शुक्ति मे रजत का कुछ अश विद्यमान रहता है जिसके कारण उसमे सफेदी चमक आदि समान धर्म होते है। साख्य भ्रम मे रजत का आशिक प्रत्यक्ष मानता है। जबकि प्रभाकर रजत का स्मरण मानते है और मनोदोष से स्मृति–प्रमोष' मानते है। प्रभाकर ज्ञान की उपयोगिता पर बल देते है और साख्य ज्ञान को प्रकाशक होने के कारण अपने आप मे महत्वपूर्ण मानते है। दूसरी ओर साख्य सूत्र के सदसत्ख्याति' और कुमारिल के विपरीतख्याति के सम्बन्धो पर विचार करते है। सद्‌ख्याति[१४७] मे शुक्ति और रजत दोनो विषय तथा इनके अलग–अलग ज्ञान सत् है। अत सत्‌ख्याति है तथा इन सत्य वस्तुओ तथा ज्ञानो का सम्बन्ध मिथ्या होने के कारण असत् है। अत असत्‌ख्याति है। इस प्रकार यह बुद्धि दोष से दो भिन्न ज्ञानो और उनके विषयो को मिलाकर एक ज्ञान के रूप मे माना जाता है। ऐसा ही विपरीतख्याति का भी मत है। इसके

अनुसार शुक्ति और रजत को मिलाकर शुक्ति के स्थान पर रजत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। जो इनसे सत्य वस्तुओं के मिथ्या सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। सम्यक ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का बाध होता है वस्तुओ का नही।

(VII) मध्व वेदान्त

मध्व वेदान्त भी साख्य दर्शन के भाति द्वैतवादी है। मध्य वेदान्त मे ईश्वर जीव और प्रकृति की सत्ता स्वीकार की गई है। तीनों परस्पर भिन्न है और इनमे से किसी एक को दूसरे मे अन्तर्भूत नही माना जा सकता परब्रह्म ईश्वर स्वतन्त्र तत्त्व है। जबकि प्रकृति और जीव परतन्त्र तत्त्व है ये तीनो सत् है। क्योकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है।[१४८] ईश्वर निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है। मध्व वेदान्त की वास्तविकता को मानते है तथा भेद के रूप उतने ही होते है। जितने रूपो मे वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु से ज्ञात होता है। यह पदार्थ का स्वरूप है।[१४९] इसे पदार्थो का स्वरूप भेद कहते है। अनुयोगी और प्रतियोगी का भेदक यह विशेष तत्त्व अनन्त है।[१५०] वैशेषिक के समान मध्वाचार्य इसे न तो एक पृथक् पदार्थ मानते है और न एक अलग गुण बल्कि पदार्थ या द्रव्य का स्वरूप जैसा साख्य योग मीमासा दर्शनो मे माना गया है। अत मध्वाचार्य ज्ञान को सविशेष और गुणात्मक द्रव्य मानते हैं। साख्ययोग मे भी भेद को अधिकरण स्वरूप एव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञेय माना गया है।[१५१] लेकिन साख्य केवल दो तत्त्व मानता है। पुरुष और प्रकृति दोनो परस्पर स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। पुरुष निष्क्रिय और चेतन रूप निमित्त कारण है तथा प्रकृति सक्रिय और अचेतन रूप उपादान कारण है। लेकिन निरीश्वरवादी है।

मध्वाचार्य सृष्टि को वास्तविक और सप्रयोजन मानते है। ईश्वर के ईक्षण से कोई सृष्टि मिथ्या नही, अपितु इसकी पारमार्थिक सत्ता है। सृष्टि और प्रलय भी वास्तविक है। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है।[१५२] वह अपने को ईश्वर के नियन्त्रण मे दे देती है और ईश्वर उसमे शक्ति का सचार करके जगत का सचालन करता है और उसमे स्थित (व्याप्त) होकर अपने को अनेक रूपो मे व्यक्त करता है।[१५३]

जगत प्रकृति का वास्तविक विकार है। उपादान कारण और उराके कार्य गे भेदाभेद सम्बन्ध है। जैसा कि तन्तु और पट मे न तो अत्यन्त भेद है और न ही अत्यन्त अभेद है। यद्यपि उपादान कारण और निमित्त कारण का आत्यन्तिक भेद मान्य है। वस्तुत भेद पर अधिक बल देकर गध्वाचार्य ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद गे समन्वय स्थापित किया। चूँकि कार्य अपने कारण से पूर्व सत रहता है। अत सत्कार्यवाद है और चूँकि कार्य अपने निमित्त कारण से सर्वथा भिन्न ही रहता है।[१५४] उसकी प्रेरणा से उत्पन्न होता है। अत असत्कार्यवाद है। लेकिन जहॉ तक उपादान कारण के सम्बन्ध मे है। मध्वाचार्य साख्य मत के करीब है। साख्य दर्शन मे परिणामवाद पर बल देते है। जगत को वास्तविक माना है। साख्य के सृष्टि सिद्धात मे पुरुष पूरी तरह निर्लिप्त है। वह प्रकृति के राथ सृष्टि में किसी भी प्रकार का सक्रिय सहयोग नही देता केवल प्रकृति पुरुष के रामीप्य से क्षोभ द्वारा सृष्टि मे रवय सलग्न होती है।

जीव अनेक और पररपर भिन्न है ये अणुरूप नित्य कर्ता भोक्ता रूपवान जन्मगरण वाला होता है यह निरवयव तत्त्व है। शरीर के रायोग–वियोग से जन्म–गरण को प्राप्त होता है। रवरूपत यह पूर्णज्ञान सम्पन्न होता है। किन्तु धर्म और अधर्म के कारण प्रकट नही होता। ईश्वराधीन होने पर भी धर्माधर्म के राम्बन्ध में रवतन्त्र है। यहॉ जीव अणुरूप होकर भी ज्ञान गुण द्वारा विभु रूप है।[१५५] अविद्या आदि रो मुक्ति के लिए ईश्वर की अनुकम्पा आवश्यक है। जीव से भिन्न है। किन्तु उसका अश है।[१५६] इस प्रकार तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म जैसे श्रुति वचन जीव और ब्रह्म के बीच तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' रार्वखल्विद ब्रह्म जैसे श्रुति वचन ब्रह्म और जगत के बीच अभेद बताने के लिए नही अपितु जीव की तात्त्विक रवतत्रता एव महत्ता को बताने के लिए तथा जगत की सत्ता प्रवृत्ति आदि ब्रह्म के आधीन बताने के लिए है न कि इनका ब्रह्म रो स्वरूपभेद।[१५७] साख्य भी पुरुष की अनेकता को रवीकार करती है। यह अनेकता सरार के साथ मोक्षावस्था मे भी बनी रहती है। लेकिन राख्य गे ईश्वर की रात्ता न रवीकार करने के कारण ये रवतन्त्र है। साख्य का पुरुष राक्षी ओर निर्विकार है, जो कर्ता, भोक्ता या ज्ञाता नही है। क्योंकि साख्य मत गे भोग और कैवल्य रवय प्रकृति का ही प्रकारान्तर रो होता है। वह सृष्टि और प्रलय का मूल कारक है। पुरुष नित्य चैतन्य और विभु है। अविद्या ही 'भोक्ता–कर्ता–ज्ञाता का आधार है। चूँकि साख्य निरीश्वरवादी है। अत यहॉ ईश्वर और जीव के राम्बन्धो की बात नही है।

जीव उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव एक विशेष रूप में आर्विभूत होकर सूक्ष्म और स्थूलशरीर धारण करता है। जीव अविद्या का आश्रय है यही बन्धन है। बन्धन से मुक्ति ईश्वर की कृपा से प्राप्त होती है। मोक्ष का साधन ज्ञानयुक्त भक्ति है।[१५८] स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है तथापि मुक्त जीव का शरीर ब्रह्म के शरीर से भिन्न तथा जीव ब्रह्मैम्य नही है। मोक्ष आनन्द स्वरूप है। किन्तु इसमे भी तारतम्य बना रहता है।[१५९] तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म ब्रह्मविद् बह्मैव भवति इत्यादि का तात्पर्य यह नही है कि ससार में जीव भिन्न रहता हुआ भी मुक्त होकर ब्रह्म से अभिन्न होकर उसी मे लीन हो जाता है। अपितु यह है कि जीव की अपनी तात्त्विक स्वतत्रता है और स्वरूपत ब्रह्म से भिन्न है। यह स्वतत्र स्वरूप रखता है तथापि सत्ता और प्रतीति के लिए ब्रह्म के अधीन है।[१६०] साख्य दर्शन मे अविवेक को बन्धन का कारण माना गया है। पुरुष अनेक है और यह अनेकता मोक्षावस्था में बनी रहती है। मोक्ष का साधन विवेकज्ञान है। निरीश्वरवादी होने के कारण साख्य में ईश्वरजीवएकत्व का प्रश्न ही नही उठता। यहाँ मोक्ष को आनन्द या सुखविहीन माना गया है। क्योकि ये प्रकृति के गुण है। पुरुष स्वरूपत शुद्ध चैतन्य और साक्षी रूप है।

(VIII) विशिष्टाद्वैतवाद

द्वैतविशिष्ट अद्वैत ऐसा अद्वैत जो सदा द्वैत से विशिष्ट रहता है। द्वैत विशेषण है और अद्वैत विशेष्य है। भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नही होता है। अत दोनो सदा साथ रहते है। और इनमे पार्थक्य सम्भव नही है। द्वैत और अद्वैत मे अपृथक सिद्धि सम्बन्ध है। क्योकि इन्हे एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। अद्वैत मुख्य है और द्वैत गौण है।[१६१] साख्य दर्शन द्वैतवादी है। जो निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है। एक मात्र द्वैत ही मान्य है और अद्वैत के लिये कोई मान्य नही है।

रामानुजाचार्य ईश्वरवादी है। ईश्वर चिदचिद् विशिष्ट है।[१६२] चित्त जीवात्मा और अचित्त प्रकृति है। जीवात्मा और प्रकृति ईश्वर के समान ही नित्य सत्ताये है। चित्त और अचित्त ईश्वर के साथ अपृथक् रूप मे सयुक्त होते है। डा० राधाकृष्णन् इसे जैविक सम्बन्ध मानते हुये ईश्वर

को एक जैविक इकाई मानते हैं।[१६३] अगागी विशेषण विशेष्य शेष–शेषी इत्यादि सम्बन्ध भी शरीर–शरीरी भाव से ही सिद्ध होते है।[१६४] ईश्वर जीव और प्रकृति तीनो पररपर भिन्न अश है। ये भेद रवगत भेद है। जीवात्मा और प्रकृति दोनो ही ईश्वर पर आश्रित है और ईश्वर द्वारा ही राचालित होते हैं। जीवात्गा और प्रकृति दोनो ही सृष्टि रो पहले ईश्वर मे रूक्ष्म रूप से स्थित रहते है और उसी के सकल्प से पररपर सयुक्त होकर जगत के रूप मे प्रकट होते है।[१६५] इस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता व नियामक है। जबकि जीवात्मा और प्रकृति उसके उपकरण एव नियाम्भ है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ब्रह्म की दो अवस्था मानते है।[१६६] एक कारण ब्रह्म जिसमें चित और अचित सूक्ष्म रूप से पररपर सयुक्त न होकर अपने–अपने रवरूप मे स्थित होते है। इसका कार्य ब्रह्म इसमे ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के नियामक अश मे कोई परिवर्तन नही होता किन्तु चित् और अचित् उसके सकल्प से स्थूल होकर नाम रूप धारण कर लेते है। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो जाती है और जीवात्माओ के कर्म के अनुसार फल भोग प्रदान करने के लिये उनके रायोग से नागरूपात्गक जगत के रूप मे विकसित हो जाती है। इस प्रकार ईश्वर मे अभिन्न निगित्तोपादान करणत्व भी है।[१६७] वारतव गे रामानुजाचार्य का ईश्वर रागुण है। जो गुणाष्टक श्री बल वीर्य तेज, ज्ञान ऐश्वर्य रार्वराकल्पत्व ओर अपहतपाप्मत्व रो रायुक्त है।[१६८] राख्य दर्शन निरीश्वरवादी है। ईश्वर की सत्ता का निषेध करने के कारण दो रवतत्र और निरपेक्ष रात्ताए मानी गयी है। एक पुरुष, जो चेतन और निष्क्रिय है। तथा दूसरा प्रकृति जो अचेतन और सक्रिय है। यहाँ प्रकृति निरपेक्ष सत्ता है। अत पुरुष उराकी नियागक या सचालक नही है। रवय प्रकृति ही पुरुष के सम्पर्क से विचलित होकर सृष्टि कर्म मे लगती है। साख्य का पुरुष निर्लिप्त और निर्विकार होने के कारण साक्षी मात्र है। अत वह सृष्टि या प्रलय मे किसी प्रकार भी क्रिया नही करता। अत साख्य के तत्त्व रामानुजाचार्य के तत्त्व रवरूप से भिन्न है। यद्यपि प्रकृति उपादान कारण ओर पुरुष को निगित्त कारण है। तथापि दोनो पररपर भिन्न ओर रवतत्र राताए है। रामानुजमचार्य का ईश्वर एक जैविक इकाई है। जबकि साख्य के द्वितत्त्व मे एक प्रकार प्रतिबिम्बवाद गिलता हैं।

आचार्य भिक्षु ने भास्कर रामानुज तथा निम्बार्क आदि की भाति ब्रह्म को ईश्वर परगेश्वर और परमात्मा कहा है।[१६९] शकर की भाति ब्रह्म और ईश्वर को भिन्न नही गाना है[१७०] ओर न

ही निम्बार्क आदि की भाति विष्णु आदि को ईश्वर या ब्रह्म कहते है।[१७१] रामानुज इत्यादि की भाति ज्ञान को वे ब्रह्म का गुण नही मानते। उनके लिए ब्रह्म ज्ञाता है ज्ञान है और वेद भी। ब्रह्म की ज्ञेयता मे भी उन्हे कर्तृकर्मविरोधादि की आपत्ति सर्वथा अनुचित लगती है। रामानुज की भाति ये भी ब्रह्म की स्वप्रकाशता रवीकार करते है। इरासे ब्रह्म की ज्ञेय रूपता मे कोई अन्तर नही पडता है। भिक्षु निम्बार्क की भाति जीव को ब्रह्म का अश मानते है। रामानुज की भाति विशेषण नही। ब्रह्म के रूप के भारकर कार्य रूप ओर निरुपाधि रूप को कारण रूप गानते है। जबकि शकर गत ब्रह्म रादा तथा निरुपाधिक है।[१७२] किन्तु भिक्षु ब्रह्म के कारण और कार्य दोनो रूप सोपाधिक मानते है।

सृष्टि जीवात्मा और प्रकृति के सयोग द्वारा ईश्वर के सकल्प से होती है। जीवात्मा द्वारा सचित कर्मफल का जिसे अदृष्ट् कहा जाता है। जीवात्मा द्वारा भोग कराना इरा जडचेतन सयोग का उद्देश्य है। प्रकृति अर्थात् अचेत मे विकार अर्थात परिणाम ईश्वर के सकल्प ओर जीवात्मा के रायोग रो होता है। लेकिन प्रकृति रवभाव रो ही विकारी नही है। विकार प्रकृति गे विद्यगान है क्योकि विकार प्रकृति का कार्य है ओर सभी कार्य अपने कारण मे विद्यमान रहते है। विकारीपन तो प्रकृति का रवभाव ही है।[१७३] परन्तु विकारी होते हुए भी प्रकृति का सत्ता क्षणिक या मिथ्या नही है। प्रकृति जीवात्मा की तरह ही एक अनन्त एव नित्य सत्ता है। क्योकि ये ईश्वर और जीवात्मा का सहवर्ती द्रव्य है।[१७४] रागानुजाचार्य प्रकृति के तीन प्रकार मानते है।

(अ) शुद्ध सत्त्व – ये एक अप्राकृतिक द्रव्य है। जो कि रजस्तमस से शून्य है। जिसके अध्यात्मिक लोक और विग्रहो का निर्माण होता है।

(ब) गिश्रसत्त्व – ये गूला प्रकृति है। ये अविद्या या गाया भी कहलाती है।[१७५] इरागे रात्त्व 'रजरा और तगरा तीनो गुण है। ये जगत का उपादान कारण है।[१७६]

(स) सत्त्वशून्य – यह काल है जो सत्त्व रस और तम तीनो से शून्य है। साख्य दर्शन गे त्रिगुणत्मिका प्रकृति को जगत का मूल कारण माना गया है। रामानुजाचार्य भी सृष्टि के मुल कारण को प्रकृति मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य साख्य दर्शन के पुरुष और प्रकृति को

आत्यान्तिक भेद पर आधारित द्वैत को नही रवीकार करते है। उनके अनुरार प्रकृति ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति है जिसके द्वारा और जिससे रासार का उदभव होता है। माया ईश्वर कि सृजनशक्ति है।[१७७] साख्य दार्शनिक अव्यक्त को प्रकृति की सूक्ष्मावस्था और प्रकृति की स्थूलावस्था को व्यक्तावास्था मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य मतावलम्बी अव्यक्त को गिश्र रात्त्व की चोथी अवरथा को कहते है। राख्य ओर रागानुज के गत मे प्रकृति राम्बन्धी विचार को लेकर मत वैभिन्य है। साख्य मे त्रिगुण प्रकृति के धर्म तत्त्व है। रामानुज दर्शन मे त्रिगुणप्रकृति के गुण मात्र है। साख्य मे त्रिगुण अविभाज्य रूप से एकत्रित रहते है। विशिष्टाद्वैत मे शुद्ध सत्त्व की कल्पना भी है। जो रजरतम रपर्श शून्य है। साख्य की प्रकृति असीम है। रामानुज के प्रकृति नित्य विभूति से सीमित है। साख्य की प्रकृति रवतन्त्र है जबकि रामानुज के मत मे ईश्वराश्रित है। ये ईश्वर ये अपृथक् उनका शरीर है। साख्य मे प्रकृति पुरुषार्थ कि सिद्धि के लिये सृष्टि करती है। रामानुज दर्शन मे सृष्टि ईश्वर की लीला है। जो उनके सकल्प द्वारा होती है।[१७८]

साख्य गतानुरार रात्त्वरजस्तमोमयी त्रिगुणत्मिका प्रकृति जड है। यह प्रकृति का रवरूप इन्हे भी यद्यपि अभीष्ट है किन्तु वे प्रकृति को रार्वतत्र–रवतत्र नही गानते बल्कि उरो परगेश्वर की अन्तर्लीन शक्ति के रूप मे रवीकार करते है। यहॉ तक तो वे रामानुज और निम्बार्क से सहमत है किन्तु वे रामानुज की भाति प्रकृति को अविद्या माया या अक्षर नही मानते। विष्णुपुराणाभिमत प्रकृति और माया के वास्तविक भेद को भी इन्होंने नही माना। बल्कि यह कहकर इस कथन का परिवर्तन किया है कि जडत्वादि साधर्म्य से माया को भी प्रकृति के अर्न्तगत उसके एक विशिष्ट रूप मे स्वीकार करना चाहिए।[१७९] मूल प्रकृति के रवाभाविक रूप और माया के रवाभाविक रूप मे रपष्ट अन्तर केवल यह है कि प्रकृति परिणामिनी है और माया अपरिणामिनी है। माया केवल शुद्धसत्त्वा होने के कारण नित्य आनन्द वाली है। उसगे रजोगुणादि राहित्य के कारण दु खादि की सम्भावना नही रहती।[१८०] शकर के द्वारा माने गए आत्मनिष्ठ अविद्या के[१८१] सिद्धात का इन्होने प्रत्याख्यान किया है और माया के विषय गे यह कहा है कि इस ईश्वरोपाधि की ईश्वरनिष्ठता नही है। अपितु नित्यरायोगमात्र है। जीव की ही भाति प्रकृति कृत पदार्थों की भी उत्पत्ति गौण ही समझनी चाहिए।

यह ससार वास्तविक परिणाम है ब्रह्म की शक्तिभूत प्रकृति का और वह भी पुरुष के सयोग के फलस्वरूप इस ससार की निरन्तर प्रवहमान स्थिति का अधिष्ठान कारण ब्रह्म है। चूँकि ब्रह्माष्ठित ब्रह्मशक्तिप्रकृति का ही विविध परिणाम यह व्याकृत जगत है। अत ब्रह्म इस सकल प्रपच का उपादान कारण कहा जा सकता है। चूँकि प्रकृति परिणाम की सारी प्रेरणा ब्रह्मोपाधिभूत अपरिणामिनी माया से सुलभ होती है इसालिए ब्रह्म को हम जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते है। आचार्य भिक्षु इस प्रकार की कारणता मानकर इस अश मे शकर रामानुज बल्लभ और निम्बार्क की ही श्रेणी मे आते है। इन आचार्यो ने भी अपने–अपने ढग से ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है।[१८२]

रामानुजाचार्य द्वारा मान्य सृष्टि क्रम का विकासा साख्य मत के लगभग समान है। अव्यक्त का प्रथम विकार महत् है। फिर महत् से अहकार की उत्पत्ति होती है। अहकार के तीन प्रकार है सात्त्विक अहकार जिससे एकादशेन्द्रिया उत्पन्न होती है। मन को साख्य उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो के साथ मानता है। किन्तु रामानुज मन को केवल ज्ञानेन्द्रिय के साथ ही मानते है। रामानुजाचार्य सूक्ष्मशरीर अर्थात् लिगशरीर को साख्य की भाति कमेन्द्रियो से भी युक्त नही मानते है। केवल मन और पच ज्ञानेन्द्रियो की ही बात करते है। रामानुज शकर की भाति मन को कई नाम देते है। यथा – वह बुद्धि है जब वह निर्णय करता है वह अहकार है, जब वह अज्ञानवश स्वय को आत्मा मान लेता है। वह चित्त है, जब वह चिन्तन या विचार करता है। एक ओर साख्य तमस अहकार से पचतमात्राये और पचतन्मात्रओ से प्रत्येक परवर्ती मे पूर्ववर्ती के गुण को सम्मिलित करते हुए पचमहाभूतो की उत्पत्ति मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य क्रमिक उत्पत्ति मानते है। सबसे पहले भूतादि से शब्दतन्मात्र और शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश महाभूत से स्पर्शतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र से वायुमहाभूत की उत्पत्ति होती है। वायु से रूपतन्मात्र और रूपतन्मात्र से अग्नि महाभूत की उत्पत्ति होती है। अग्नि से रसतन्मात्र और रसतन्मात्र से जल महाभूत की उत्पत्ति होती है। जल से गन्धतन्मात्र और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी महाभूत का उत्पत्ति होती है। इन महाभूतो से पचीकरण सिद्धात के आधार पर जगत के विभिन्न विषयो की सृष्टि होती है।[१८३]

सत्त्व कारण से सत्कार्यवाद ही उत्पन्न होता है। क्योंकि कारण और कार्य मे केवल अवस्था का भेद है। कारण स्वय कार्य रूप मे परिवर्तित हो जाता है। कारण मे कार्य की पूर्वोपस्थिति स्वीकार करने वाले सिद्धात सत्कार्यवाद को रामानुजाचार्य स्वीकार करते हैं।[१८४] अत रामानुज जगत को ब्रह्मात्मक मानते हैं। जगत के उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण दोनो ही नित्य और सत्य है। अत जगत मिथ्या नही अपितु जगत की सत्ता पारमार्थिक है। क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।[१८५] रामानुजाचार्य सत्कार्यवाद में परिणामवादी है। इस प्रकार साख्य दर्शन मे भी सत्कार्यवादी परिणामवाद स्वीकृत है।उत्पत्ति का अर्थ आर्विभाव और लय का अर्थ तिरोभाव है। कारण ही कारणावस्था मे और कार्यावस्था मे लीन रहता है। कारणावस्था प्रलयावस्था और कार्यावस्था सर्गावस्था है। साख्य प्रकृति या परिणामवाद को मानता है। जबकि रामानुजाचार्य ब्रह्मपरिणामवादी है। यह सम्पूर्ण चेतनाचेतन विश्व ईश्वर का शरीर है। यह ईश्वर का तात्त्विक परिणाम और सत्य सृष्टि है। जगतरूपी शरीर की आत्मा ईश्वर है। साख्य और रामानुज के परिणामवाद में यह अन्तर है कि जहॉ ब्रह्मपरिणामवाद मे प्रकृति का विकास और उसका नियन्त्रण ईश्वर के अधीन होता है।[१८६] वही साख्य की प्रकृति पुरुष के सम्पर्क से विचलित मात्र होकर स्वय अपना विकास और उसका नियन्त्रण करती है।

चित्त अर्थात् जीवात्मा एक नित्य चेतन द्रव्य है। यह ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है।[१८७] इसके गुण रूप ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहते है। जीवात्मा का ज्ञान कर्म एव प्रकृति के सयोग से सकुचित होता है। कर्मो का कर्ता अथवा कर्मफल का भोक्ता शरीर से सम्बन्ध होने के कारण है। अत कर्तृत्व और भोतृत्व आत्मा के स्वभाव नही है। ये गुण आत्मा के साथ अनिवार्य रूप से तब तक सम्बद्ध रहते है जब तक उसका क्रमबन्ध शरीर से समाप्त नही हो जाता । जीवात्मा मन प्राण इन्द्रिय एव शरीर से भिन्न एक आनन्दमय सत्ता है। जीवात्मा का अहमर्थ प्रत्ययवाद है।[१८८] रामानुजाचार्य जीवात्मा का बोध मै के रूप मे मानते है। यही कारण है कि इन्होंने जीवात्मा को एक विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता माना है। जीवात्मा के वैयक्तिकता कभी नष्ट नही होती। ससार की स्थिति मे ईश्वर से नियन्त्रित होकर भी आत्मा को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है। क्योकि जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न सत्ताए है। रामानुजाचार्य जीवात्मा की अनेकता विश्वास करते है। जो परस्पर भिन्न है। यह भिन्नता मोक्ष मे भी बनी रहती है। मुक्त जीवों मे

गुणात्मक भेद नही रहता तथापि उनमे साख्या भेद बना रहता है।[१८९] आत्मा अणु परिणाम है।[१९०] विभु सत्ता नही अणुत्व आकार की अत्यन्त सूक्ष्मता को कहते हैं। आत्मा की गति अव्याहत है। किन्तु विभु ज्ञान गुण के कारण वह व्यापक है।[१९१] ईश्वर प्रकारिन और जीव प्रकार है। जीव स्वरूपता ब्रह्म के समान अविकारी है।[१९२] जीवात्मा का गुण चैतन्य है। आत्मा चेतन है चैतन्य नही। अत आत्मा चेतन का आश्रय है। मुक्ति की अवस्था मे भी आत्मा चैतन्य रहित नही है।[१९३] क्योंकि मुक्त पुरुष की चेतना का विषय ईश्वर होता है। रामानुजाचार्य के मत के विपरीत साख्य का जीवात्म रूप पुरुष निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है। वह चेतना का आश्रय नही अपितु चैतन्य स्वरूप है। वह नित्य और शुद्ध चैतन्य रूप है। साख्य का पुरुष अहयमर्थ–प्रत्ययवाच्य नही है। क्योकि वह निर्विकार और निर्लिप्त है। वह रामानुजाचार्य के इस मत से सहमत है कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व शरीर से सम्बन्ध होने के कारण है। लेकिन साख्य उसे ज्ञाता रूप भी नही मानती क्योंकि ज्ञातृत्व भी बुद्धि से सम्बद्ध होने से एक प्रकार का विकार है और निरीश्वरवादी साख्य मे पुरुष स्वय प्रकाश्य है। यह आनन्दस्वरूप नही है। क्योंकि साख्य के मत आनन्द या सुख प्रकृति के गुण है। अत पुरुष साक्षी द्रष्टा मात्र निर्विकार विशुद्ध चैतन्य स्वरूप सत्ता है। साख्य भी रामानुज की भॉति पुरुष की अनेकता मे विश्वास करती है। उसके अनुसार जन्म, मृत्यु इन्द्रियॉ आदि प्रतिनियमो के आधार पर पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। अत प्रत्येक जीव मे पृथक्–पृथक् पुरुष है।

जीव निम्बार्क आदि तीनों वैष्णव वेदान्ती जीव को परब्रह्म के स्वरूप का कोई भाग या खण्ड नही मानते है। इन लोगों के मत मे जीव अपने स्वरूप स्थिाति तथा प्रवृत्ति के लिए ब्रह्म के अधीन है। यह ब्रह्माधीनता या ब्रह्मायत्तता ही जीव का अशत्व है।[१९४] किन्तु विभु ब्रह्म जीव को साग्निस्फुर्लिग के समान अशाशिभाव से सजातीय मानते हैं।[१९५] रामानुजादि सभी, वेदान्ती जीव को अणु परिणाम वाला मानते हैं। परन्तु भिक्षु जीव को विभु मानते है[१९६] और न ही रामानुज[१९७] की भॉति जीव को ब्रह्म का विशेषण स्वीकार करते थे। जीव विभु है। इसमे अणुता का व्यपदेश केवल औपाधिक है। क्योकि ऐसा ही श्रुति मत है।[१९८] जीवोपाधि बुद्धि ही कर्मावस्था के कारण परिणामवादी है। अत बुद्धि अणु है न कि जीव, वह तो निर्गुण है।[१९९] जीवात्मा का बन्धन कर्मज होता है और उसका मोक्ष इस बन्धन का नाश है। ससार न ही देहात्म–भ्रम बन्धन का

कारण है। जीव शरीर के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है तब उसमे प्रकृतिजन्य अहकार का उदय होता है। जो उसके ज्ञान स्वरूप को सकुचित कर देता है। लेकिन अहकार शुन्य जीवात्मा शुद्ध चेतन सत्ता है और ससार उससे लिप्त नही होता। रामानुजाचार्य के मत मे जीव कि उत्पत्ति सासारिक रूप मे उसके कल्याण के लिए होता है। यदि जगत के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाता है तो जगत जीव के लिए बन्धन नही होता। आत्मा का आत्मस्वरूप बोध ही मोक्ष है। प्रारब्ध कर्म नष्ट होने पर जब शरीर का अन्त हो जाता है तभी रामानुज मोक्ष मानते है।[२००] अत रामानुजाचार्य जीवनमुक्ति को नही मानते। यही कारण है कि यहाँ पूर्ण मुक्ति को ईश्वरसाक्षात्कार को मानते है। जो ईश्वर के कृपा से प्राप्त होती है जिसकी प्राप्ति भक्ति से होती है।[२०१] इस सम्बन्ध में तत्त्वमसि श्रुति वचन को स्पष्ट करते रामानुजाचार्य कहते है कि त्वम् पदार्थ का तात्पर्य अचिद्विशिष्टजीवशरीरक ब्रह्म अर्थात देहेन्द्रियान्त करण विशिष्ट जीवरूपी शरीर मे अर्न्तयामी आत्मभूत ब्रह्म और तत् पदार्थ का तात्पर्य है सर्वज्ञसत्यसकल्पजगतकारण ब्रह्म जो सम्पूर्ण विश्व मे व्यापक है। उसका कर्ता–धर्ता–हर्ता–नियन्ता परब्रह्म अर्थात् ईश्वर है। इस प्रकार जीव का अर्न्तयामी ईश्वर और जगत का कारण ईश्वर दोनो एक ही है। लेकिन जीव और ब्रह्म का स्वरूपैक्य सम्भव नही। अत मोक्षावस्था मे भी रामानुजाचार्य जीवात्मा और ईश्वर के बीच भेद को शाश्वत मानते है। अर्थात् ईश्वर मे जीव पूर्णत विलीन नही होता है।[२०२] साख्य दर्शन मे भी बन्धन का आधार कर्म को माना गया है। जो अहकार जन्य होता है प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को न जानने के कारण जन्ममरण चक्र चलता है। विवेकज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। लेकिन मोक्ष आनन्द स्वरूप नही है। निरीश्वरवादी साख्य मे जीव द्वारा स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। साख्य जीवनमुक्ति को भी स्वीकार करता है। साख्य जीव मोक्षावस्था मे पुरुष की अनेकता को स्वीकार करता है। अर्थात् वास्तव मे पुरुष का न तो बन्धन होता है, न वह जन्ममरण रूपी ससार चक्र मे फॅसता है और न ही मुक्त होता है। यह तो प्रकृति ही है, जो लिगशरीर के रूप मे नाना पुरुषों के आश्रय से बनती है, ससरण करती है और मुक्त होती है। पुरुष स्वाभवत त्रिगुणातीत है।

पाद टिप्पणी

१ – पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि

२ – चतुर्भ्य खलु भूतेश्यश्चैतन्यमुपजायते ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद् राग इवोत्थितम्

३ – चैतन्या विशिष्टो देह एव आत्मा।

४ – चट्टोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ० – ४०

५ – अतर्किकोपस्थितमेव सर्वचित्र जनाना सुखदु ख जात। काकस्य तालेन यथाभिधातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति

वृथाभिमान ।। आ० चा० – २/१/१/४ हरिभद्रसूरि षड्दर्शनसमुच्चय पृ० – २४

६ – मरणमेव अपवर्ग, काम एवैक पुरुषार्थ ।

यावत्जीवेतसुखजीवेत् ऋण कृत्वा घृतपिवेत। भष्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ?

७ – सत् द्रव्यलक्षण तत्त्वार्थ सूत्र – ५/२६

८ – द्रव्यजीवोऽजीवो जीव पुनश्चेतनोपयोगभय । पुद्गल द्रव्य प्रमुखो चेतनो भवति चाजीव ।।

कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार पृ० – १७८

९ – पुढवि जलतेववाऊवणप्पदी निविहथवरे इन्दी। विगतिगचदुपचक्खा तस्य जीवाहोन्ति सखादी।।

द्रव्यसग्रह नेमिचन्द्र।।

१०– पूरणगलनान्वर्थ सज्ञत्वात् पुद्गला ।। राजवार्तिक–५/१/२४।।

११– प्रवचनसार – (२), ८६, ८८

१२– तत्त्वाकसूत्र – ५/२९–३०

१३– Origin & development of samkhya system of thought pp-82

१४– पचास्तिकाय – ६ कार्तिकेयानुप्रेक्षा – ११६–११७ द्रव्याणानित्यत्वत लोकस्यापि जानीत नित्यत्वग्।

तेषा परिणागात् लोकस्यापि जानीत परिणागग्।। गुनि कार्तिकेय ।।

१५– दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुरभवति नाकुर । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर।। तत्त्वार्थसार ८१७।।

१६– पचाध्यायी– २/३५, लोकप्रकाश– ४२४

१७– स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला ।। तत्त्वार्थसूत्र ५/२३।।

१८– पाठक, भारतीय दर्शन में जगत, पृ०– ५१,

१९– तत्त्वार्थ सूत्र– ८/२से३

२०– पाठक भारतीय दर्शन मे जगत पृ०–७२

२१– तत्त्वार्थसार– ३/५६ (१) सूरि

२२– तत्त्वार्थसार– ३/५६

२३– न परमाणुवत्सर्वे स्कधा रामपरिमाणा एव अष्टसहस्री १ से ६ पेज– ७६ विद्यानन्दस्वामी

२४– रीील बृजेन्द्र नाथ पाजिटिव साइसेज ऑफ द एशिएट हिन्दूज पेज ६७

२५– गुणपर्यायवत् द्रव्यम् पचास्तिकाय तत्त्वार्थ सूत्र –१५ भावस्य नास्ति नाशो अभावस्य चैव उत्पाद ।
गुणायायोषु भावा उत्पादव्यामान् प्रकुर्वान्ति।।

२६– तत्त्वार्थ सूत्र– ५/३०

२७– अनन्तकार्यात्मकमेव तत्त्वम् – तत्त्वार्थ सूत्र

२८– स्याद्वाद् मजरी का०–५

२९– भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– ४३ से ४४

३०– आभिधर्मकोश भाष्य– १/१२ पृ०– ८ व १२

३१– इगस्मि राति इद होति इमस्मि न राति इद न होति– गहानिदानरात्त महावग्ग (दीघनिकाय) पृ– ४५

३२– हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०– १४४

३३– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-566

३४– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-595

३५– तत्त्व सग्रह (३२६) शातिरक्षित आलम्बन परीक्षा– ६

३६– चटर्जी अशोक कु०, द योगचार आइडियालिज्म पृ०– १००

३७– यद् सत् तद् नाभावम् यदसत् तद् न भावम् – गीता

३८– पुनरपि जनन पुनरपि गरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्

३९– अगान्नसुत्त (५) पार्थक्यवग्ग पृ०– ६६

४०– बुद्ध सर्व दुखम् साख्य दुखत्रय

४१– सयुक्त निकाय– २/१७

४२– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-349

४३– अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सत्– प्रमाणवार्तिक– २/३

४४– यत् सत्तत्क्षणिकम, The self is not only collective, but also a recollective enity, Journal of the Royal Asiatic Society, P-581

४५– Davids, Mrs Rhys, Buddhism, P--136

४६– महानिदान सुत्त महावग्ग (दीघनिकाय)

४७– Davids, Mrs Rhys, Buddhism Psycnology, P--98

४८– हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०–१५४

४९– भिक्खूवग्ग धम्मपद (२५)६

५०– ओल्डेनवर्ग बुद्धा पृ०– २०४ से २०५

५१– सयुक्त निकाय– १६/१०

५२– यत्शून्य तदसत् येन शून्य तत्सत्

येन शून्य तदपि असत् – मध्यमशास्त्र कारिका (एकादशाध्याय)

५३– शर्गा री०डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– १२७ से १२८

५४– Samkhya Philosophy, भूमिका पृ०– २

५५– Samkhya Philosophy, अनिरुद्ध वृत्ति की भूमिका पृ०– २ से १५

५६– Samkhya system, pp- 25 to 33 & 60 to 63

५७– बुद्धचरित १२वा सर्ग 'अश्वघोष' अव्यक्त व्यक्त अष्टौ प्रकृतय षोडश विकारा

Origin & developmen of Samkhya system of thought, pp- 99 to 100

५८– तानिधर्माणि प्रथमान्यासन – १०/६०

५९– I H Q, vol - 10, pp- 737 to 760

६०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt - I, pp- 473

६१– साख्यसूत्र– १/२७ से ४७

६२– कर्न मैनुअल आफ बुद्धिज्म पृ० ४७ पाद टिप्पणी ६

६३– महाभारत– १२/३०७/४५, १२/२३६/२६, ब्रह्मपुराण– २४१/४/५

६४– Hiriyanna, Outline of Indian Philosophy, pp- 267 to 269

६५— साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— १४३ व टिप्पणी

६६— यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिगमात्र महत्तत्व तस्मिन्नेते सत्तामात्र महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति—

।।व्यासभाष्य—१/१६।।

६७— योगवार्तिक— १/४५

६८— तस्य हेतुरविद्या ।। योगसूत्र— २/२४ ।।

६९— तत्त्ववैशारदी (योगसूत्र— ४/३३)

७०— व्यासभाष्य— २३६

७१— योगसूत्र भाष्य— ३/१४

७२— योगसूत्र— ४/१२ अतीतामागत स्वरूपतोऽस्त्मध्य भेदाद् धर्मणाद् ।। व्यासभाष्य—३/५२।।

७३— व्यासभाष्य— ३/५२

७४— योगभाष्य— २/१५

७५— योगभाष्य— २/१८

७६— योगवाशिष्ठ, मधुसूदन सरस्वती, भगवद् गीता— ६/२६

७७— योगभाष्य— १/२४

७८— तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्वबीजम् ।।योगसूत्र—१/२५ पर योगभाष्य और योगवार्तिक।।

७९— योगसूत्र— १/२४

८०— योगसूत्र— १/२५ २६

८१— योगभाष्य— १/२५

८२— योगसार सग्रह— १

८३— तत्त्ववैशारदी, पृ०— ६६

८४— ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणवृति प्रलयेऽप्याति' — योगवार्तिक पृ०— ६८

८५— योगवार्तिकम् पृ०— २४२

८६— योगवार्तिकम् पृ०— ६३

८७— एतेन प्रीमातामीशो य आत्मा सर्वरोहिनाम् — योगवर्तिकम् (अन्तिम श्लोक की अन्तिम पाक्ति)

८८— 'तथा चेश्वारस्य पुरुषेऽन्तर्भावन्तुदुपाधे प्रधाने इति भाव — योगवर्तिकम् पृ०—६५

८६— ते च मनसि वर्तमाना पुरुषे व्यपिदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति — योगवर्तिकम् पृ०—६५

६०— यो ह्येनन भोगेना परामृष्ट स पुरुषविशेष ईश्वर — योगवर्तिकम पृ०—६६

६१— योगवर्तिकम्— पृ०— ६७ और ६८

६२— योग पातजलशास्त्र प्रकृतिस्वातन्त्र्यमात्राशे प्रयुक्त प्रत्याख्यात —विज्ञानमृत भाष्य पृ०— २७१

६३— Samkhya Philosophy, p- 70 to 71

६४— Origin & developmenat of Samkhya system of thought, pp- 13 to 89

६५— Hiriyanna, Outlineof Indian Philosophy, pp- 267 to 268

६६— वैशेषिक सूत्र— १/१/१४ तर्कामृत अध्याय— १

६७— न्यायसूत्र भाष्य ४/१/१४ प्रशस्तपाद भाष्य पृ०— ४८ से ४६

६८— Thakur, Introduction of Vaisesika Darsana, p- 10

६६— काणादास्तु एतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वर निमित्तकारणमनुमिमते अणुश्व समवायिकारणम्

।।ब्रह्मसूत्र भाष्य— १/१/५।।

१००— भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०—१७० व १८६

१०१— न्यायकुसुमाजलि— ५/१

१०२— षडदर्शनसमुच्चय, अध्याय— १

१०३— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 214

१०४— हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०— २३२

Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-213-214

१०५— भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०— १८६

१०६— तर्कसग्रह पृ०— २८

१०७— न्यायभाष्य— ४/२/१६

१०८— वैशेषिकसूत्र— ७/१६ प्रशस्त पादभाष्य पाकज पूकरणम्

१०६— रात्वोक्षनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणा सेयोगाभिवगत्वात्— सा०प्र०भा०, पृ०—३२

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृ०—१४२

११०— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ३३

१११— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ६३ से ६४

११२— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ३५

११३— सात्विकमेकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्।। सा०सूत्र—२/१८।। सुवर्णसप्तति पृ०— ३१ से ४१

११४— न्यायसूत्र— १/१/१० तर्क सग्रह पृ०— १२ न्यायवार्तिक— १/१/१० पृ०— ६४

११५— न्यायभाष्य १/१/१०, पदार्थधर्म सग्रह— ३०

११६— व्योमवती— ४२६ न्याय कदली — २३३ से२२४ न्याय मजरी भाग—२ पृ०— ६८

११७— देवराज भारतीय दर्शन पृ०— ३२८

११८— न्यायमजरी भाग—२ पृ०— ८०

११६— न्यायसूत्र— १/१/२२

१२०— अशेष विशेष गुणोच्छेदो मोक्ष — न्यायमजरी भाग—२ पृ०— ७७ तात्पर्य टीका— १/१/२ पृ०— ६६

१२१— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ७०

१२२— नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो निरुजन स्वप्रकाशो निराधार सर्ववस्तुषु।।साख्यकारिका—२२।।

१२३— विज्ञानमृत भाष्य पृ०— ३१ से ३४

१२४— न्यायवैशेषिकोक्तज्ञानस्य परमार्थ भूमौ बाधित्वाच्य— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ३

१२५— पाठक डा० सच्चिदानन्द भारतीय दर्शनो मे जगत पृ०— १६२

१२६— पाठक, डा० राच्चिदानन्द भारतीय दर्शनो मे जगत पृ०— १७२

१२७— शास्त्रदीपिका, पृ०— १०२ यथा सदृश्यते तथा— श्लोकवार्तिक श्लोक—२६, पृ०— ५५२

न कदाचिदनीदृश जगत्

१२८— श्लोकवार्तिक पृ०— ३४

१२६— प्रकरण पचिका (न्यायसिद्धि सहिता) पृ०— ७८ सर्वसिद्धान्त रहस्य

१३०— जाति निर्णय, पृ०— ८६ शास्त्रीदीपिका, अभाव परिच्छेद पृ०— ८३

१३१— शास्त्रदीपिका पृ०— ८०, प्रकरण पचिका पृ०—१८४ से १६५, शावरभाष्य, पृ०— २/१/५

१३२— श्लोकवार्तिक, पृ०— ४४३, श्लोक— ३२ से ३३

१३३— हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०— ३२२

१३४— श्लोकवार्तिक (आत्मवाद) शास्त्रदीपिका (आत्मवाद) प्रकरण पचिका, प्रकरण—८

१३५– श्लोकवार्तिक श्लोक–७४ पृ०– ७०७

१३६– ज्ञान सुखारि रूपेण परिणामित्वम्

१३७– प्रकरण पचिका पृ०– १४८

१३८– मानमेयोदय पृ०– १६२ से १६४ शास्त्रदीपिका– ५६ से ५७

१३६– स्वर्ग कामो यजेत – न्यायमजरी– ५१४

१४०– मीमासा न्यायप्रकाश पृ०– १६०

१४१– श्लोक वार्तिक सबधाक्षेपपरिहार १०६ से १०७ शास्त्र दीपिक १२५ से १२८

१४२– आत्यन्तिकवस्तु देहोच्छेदो मोक्ष

१४३– शास्त्र दीपिका १२५ से १३१

१४४– मानमेयोदय पृ०– ८७ से ८६

१४५– प्रकरण पाचिका, पृ०– ४३ नयविवेक पृ०– ८६ से ६३ तत्ररहस्य पृ०–२ से ५

१४६– शास्त्रदीपिका, ५८ से ५६ , वार्तिक श्लोक २४२ से २४६

१४७– शर्मा सी० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– २०३

१४८– तत्त्वोद्योत पृ०–१६ न्यायामृत, ६५ से ६७

१४६– न्यायामृत पृ०– ५५८

१५०– मध्वसिद्धान्त सार पृ०– ६

१५१– देवराज भारतीय दर्शन पृ०– ६२०

१५२– हरेरिच्छाऽथना बलम्

१५३– ब्रह्मसूत्र– १/४/२७ पर मध्य भाष्य

१५४– न्यायसुधा, पृ०– ११३

१५५– 'अणुर्ह्येष आत्माऽय वा ये ते सिनीत पुण्य चापुण्य चेति

श्रुतौ अणुत्व इत्यताऽविरोध इति –मध्वभाष्य

१५६– तत्त्वप्रकाशिका, पृ०– १२१

१५७– न्यायसुधा पृ०– २६६

१५८– 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो हि भक्ति'– तत्त्वप्रकाशिका अणुव्याखान्–३/२/१

१५६– तारतम्येन तिष्ठति गुणैरानन्दपूर्वकै – गध्वगीता भाष्य (मुक्तिवाद) पृ०–८२

१६०– न्यायसुधा २६६

१६१– सर्वार्थसिद्धि– ५६० श्रीभाष्य– २/१/६ श्रीभाष्य (टीका) विशिष्टान्तर्भाव एव ऐक्यम पृ०– १३२

१६२– चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर

१६३–वेदार्थ सग्रह पृ०– ३४

१६४– वेदार्थ सग्रह, पृ०– ६७ से ६८

१६५– श्रीभाष्य– २/१/६ श्रीभाष्य सूत्र– २/४ १४

१६६– वेदार्थ सग्रह पृ०– १७

१६७– वेदार्थ सग्रह पृ०– २२

१६८– देवराज भारतीय दर्शन पृ०– ५६८ से ५६६

१६६– वेदान्तसूत्र १/१/१२ पर भास्कर भाष्य, पृ०– २४ वेदान्त सूत्र १/१/२ पर श्रीभाष्य

वेदान्तपारिजात सौरभ विज्ञानमृतम् भाष्य

१७०– ब्रह्मसूत्र (शाकर) भाष्य की चतु सूत्री

१७१– विज्ञानमृतम् भाष्य पृ०– १३३, १३५ व १३७

१७२– वेदान्तसूत्र १/१/१२ से १६ पर भास्कर भाष्य

१७३– श्रीभाष्य– २/१/१५ ३/२/२१

१७४– श्रीभाष्य (टीका) पृ०– १६८ से १६६

१७५ –माया तु प्रकृति विजात् (प्रकृति ही विधेय है) तत्त्वत्रय पृ०– ७६ ज्ञान विरोधत्वादविधा

१७६ –ब्रह्मसूत्र– १/४/८ पर श्रीभाष्य

१७७– श्री भाष्य– १/४/६

१७८– देवराज भारतीय दर्शन पृ०– ५७८ शर्मा भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– ३०२

१७६– अविद्यास्मितारागद्वेषाभिभिविनेश पचक्लेशा ।।योग सूत्र– २/३।।

१८०– विज्ञानमृतम् भाष्य, पृ०– ३१६

१८१– एतेनाविद्या आत्मानिष्ठत्वमप्यपास्तम्, वि० भ० पृ०– ८४

१८२– श्रीवास्तव, डा० सुरेशचन्द्र आर्चाय विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन मे उनका स्थान, पृ०– २४२

१८३– देवराज भारतीय दर्शन पृ०– ५७६ से ५८०

१८४– श्रीभाष्य– १/१/५

१८५– श्रीभाष्य– १/१/१

१८६– सर्वार्थसिद्धि – १/१६

१८७– अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मन स्वरूपम् श्रीभाष्य – २/३/३१

१८८– श्रीभाष्य – १/१/१

१८९– वेदार्थ सग्रह पृ०– १

१९०– स चायमात्माऽणु परिमाण श्रीभाष्य – २/३/३१

१९१– श्रीभाष्य – २/३/३६

१९२– श्रीभाष्य – २/३/१८

१९३– श्रीभाष्य – ४/४/१६

१९४– रामकृष्ण आर्चाय ब्रह्मसूत्रो के वैष्णवभाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०– २३६

१९५– वेदात सूत्र– २/३/४२ पर अणुभाष्य

१९६– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/२/७ विज्ञानमृतम् भाष्य पृ० – ३४३

१९७– श्रीभाष्य – १/१/१

१९८– स चानन्त्याय कल्पते सवा एष महानज आत्मा योऽयविज्ञानमय प्राणेषु

१९९– विज्ञानमृतम् भाष्य– ३७४

२००– श्रीभाष्य– ४/४/२

२०१– श्रीभाष्य– मगलाचरण, वेदार्थ सग्रह पृ०– ४४

२०२– श्रीभाष्य, पृ०– ८०

अध्याय सप्तम्

निष्कर्षात्मक अनुलेख :
शंकराचार्य कृत सांख्य दर्शन की
आलोचना और मूल्यांकन

दर्शन मे माना जाता है कि जिसके प्रारम्भ और अन्त के सबध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है । किंतु भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक रूप साख्य दर्शन को कहा गया तो अन्तिम परिणति के रूप मे अद्वैत दर्शन को स्वीकृति प्राप्त हुई है। यही कारण है कि शकराचार्य साख्य दर्शन को अपना प्रधानमल्ल कहते है। इस प्रकार शकराचार्य अन्य भारतीय दर्शनो की अपेक्षा साख्य दर्शन की आलोचना मे अधिक रुचि दिखाते है यद्यपि साख्य दर्शन शकराचार्य के अद्वैतवाद, विवर्तवाद और ब्रह्मात्मैकत्ववाद की अपेक्षा द्वैतवाद परिणामवादी और आत्मसाक्षात्कर पर बल देता है। लेकिन इसकी सम्यक् निवेचना से स्पष्ट करते है कि साख्य दर्शन की अन्तिम परिणति अद्वैतवाद है जो अपने छद्म रूप से निहित है।

अद्वैतवाद मे एकमात्र निरपेक्ष और अन्तिम सत्ता ब्रह्म को माना गया है यह शुद्ध सत्ता एव चैतन्य स्वरूप है तथा स्वत निर्विकार है। ब्रह्म और आत्मा मे अभेद है तथा जगत का आधार ब्रह्म है। अद्वेतवेदान्त मे ब्रह्म के दो लक्षण माने गए हैं –

(i) स्वरूप लक्षण– सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म'[1] यह निर्गुण ब्रह्म है यही परब्रह्म है।

(ii) तटस्थ लक्षण[2]– जगत्कर्ता जगत्पालक, जगत्सहारक आदि उसके कारण यह सगुण ब्रह्म है जिसे अपरब्रह्म कहा गया है। इसे ईश्वर भी कहते है, जो उपास्य है।

ब्रह्म के यथार्थ अर्थात् स्वरूप लक्षण और औपाधिक अर्थात् तटस्थ लक्षण को स्पष्ट करने के लिए शकराचार्य जादूगर और गडरिये का उदाहरण देते है।[3] लेकिन शकराचार्य ब्रह्म के वास्तविक रूप को उपनिषदों के समान नेति–नेति के द्वारा ही समझाते है। अत वे मानते है कि ब्रह्म मे यह गुण नही है वह गुण नही है। इसी तरह किसी गुण का उपास्यता तक का ब्रह्म मे आरोप नही किया जाता है।[4] इसी कारण अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म को मूलत निगुर्ण माना गया है। अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म को सजातीय विजातीय और स्वगत सभी भेदो से रहित माना गया है। वस्तुत कर्तृत्व अर्थात् गुणत्व का स्वाभाविक गुण नही है। यह केवल ब्रह्म उपाधि मात्र है। अत ब्रह्म केवल मायोपहित अर्थात् माया की उपाधि से युक्त है। वास्तव मे सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनो एक ही है। जैसे कि नाट्यशाला के भीतर जो आदमी है वही नाटयशाला से बाहर जाने पर दूसरा आदमी नहीं हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से मायाशक्ति के द्वारा जगत का क्रमिक विकास होता है अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की परिणति का आभास होता है। इस विकास क्रम मे तीन अवस्थाए होती है - (i) अव्यक्त कारणावस्था यथा बीजावस्था (ii) सूक्ष्म परिणामावस्था यथा अकुरावस्था और (iii) स्थूल परिणामावस्था यथा वृक्षावस्था।[५] वास्तव मे अपरिणामी ब्रह्म मे ये परिणाम या विकार नही हो सकते। ये सभी परिवर्तन या विकार माया ही के खेल है। यह माया या सृष्टि शक्ति पहले अव्यक्त रहती है तब सूक्ष्म विषयो मे व्यक्त होती है उसके पश्चात् स्थूल विषयो मे। इस प्रकार शकराचार्य ब्रह्म की चार अवस्थाए मानते हैं जिसमे एक निर्गुण ब्रह्म की और शेष सगुण ब्रह्म की अवस्थाए है –

(i) परब्रह्म – शुद्ध सच्चिद् स्वरूप।

(ii) ईश्वर – अव्यक्त आत्मा का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर का कहा जाता है।

(iii) हिरण्यगर्भ – जब माया सूक्ष्म रूप से व्यक्त होती है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ है सकल सूक्ष्म विषयो की समष्टि।

(iv) वैश्वानर – विराट रूप, जब माया स्थूलरूप मे अर्थात् दृश्यमान् विषयो मे अभिव्यक्त होती है। तब ब्रह्म का अर्थ है, सभी स्थूल विषयो की समष्टि अर्थात् समस्त व्यक्त ससार।

लेकिन शकराचार्य सृष्टि विकास के सम्बन्ध मे उतना नही ध्यान देते है। जितना मूल तत्त्व ब्रह्म के प्रतिपादन या परिवर्तनशील विशेष विषयो के खण्डन मे। उनके अनुसार सृष्टि–विकास की व्यवस्था केवल निम्न स्तर की दृष्टि से सत्य है। अद्वैत वेदान्त मे जगत सत या असत् न होकर मिथ्या अर्थात् सत् मे असत् की प्रतीति है। मायोपहित ब्रह्म रूप ईश्वर मे जगत की सृष्टि होती है। अत ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। ऋग्वेद मे भी माना गया है कि एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रूपो मे प्रकट होते है।[६] श्वेताश्वर उपनिषद् मे भी ब्रह्म की माया को 'प्रकृति' कहा गया है।[७] माया को भावरूप अज्ञान है, जो अनादि है। ईश्वर के लिए सृष्टि केवल लीला मात्र है, ईश्वर स्वय उस माया से मुग्ध नही होता।[८] शकराचार्य यद्यपि स्वप्न के उदाहरण द्वारा जगत के स्वरूप का उपादान करते है, तथापि वह बाधित स्वप्न ज्ञान और बाधक जाग्रत ज्ञान (व्यावहारिक जगत) मे बहुत अन्तर है इन दोनो के कारण रूप अज्ञान भी

भिन्न–भिन्न है ।[९] प्रथम प्रकार का अनुभव यथा स्वप्न या भ्रम व्यक्तिगत एव तात्कालिक अज्ञान से होता है जबकि द्वितीय प्रकार का अनुभव यथा जगतादि के नाना विषयो का प्रत्यक्ष सार्वजनिक और अपेक्षाकृत स्थायी अज्ञान से होता है। यहाँ प्रथम को अविद्या और द्वितीय को माया कहते है। माया मे प्रतिफलित चिदानन्द सर्वज्ञ ईश्वर है और अविद्या मे प्रतिबिम्बित चिदात्मा जीव है।[१०] शकराचार्य इसे अध्यास कहते है जिसका अर्थ है पूर्ववर्ती अनुभव का परवर्ती आधार मे अवभासित होना अर्थात् हम अज्ञान के कारण पूर्वजन्मो मे अनुभूत नाना विषयो का शुद्ध सत्ता या ब्रह्म मे आरोप करते हैं। इसमे केवल अधिष्ठान का आवरण ही नही होता अपितु विक्षेप भी होता है। आवरण का अर्थ है यर्थाथ स्वरूप को ढकना और विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप करना।[११]

ससार के परिवर्तनशील विशेष विषयो को शुद्ध सत नही कहा जा सकता है क्योंकि वे विशेष विकारशील है। किंतु वे बध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् अलीक या तुच्छ भी नही है। क्योकि उनमे भी सत्ता है जो उनके रूप मे आभासित हो रही है। अत वे न तो सत् है न असत् बल्कि वे सदसदनिर्वचनीय' है। यह सागरत विषय ससार और उनकी जननी माया या अविद्या भी सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। भ्रम के विषय मे इनका मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहा जाता है, सत् और असत् को स्पष्ट करते हुए शकराचार्य कहते है कि जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओ मे रहे, वह सत् है और जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओ मे नही रहे वह असत् है। इस प्रकार अनुवृत्ति सत का लक्षण है और व्यभिचार असत् का।[१२] जो प्रतीति बाधित हो जाती है वह कम सत्य मानी जाती है और जिस प्रतीति के द्वारा जो बाधित होती है वह आशिक सत् होती है। परन्तु इन सब बाध्य–बाधक प्रतीतियो के रहते हुए भी शुद्ध सत्ता या चैतन्य बाधित नही होता। यह सर्वव्यापी शुद्ध सत्ता की एक मात्र वस्तु है। जिसके बाधित होने की कल्पना भी नही की जा सकती। अत यह ऐसी सत्ता है जो प्रत्येक देश–काल और अवस्था मे अबाधित है।[१३] शकराचार्य सत्कार्यवाद से सहमत है कि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। कार्य कोई नई वस्तु नही है। लेकिन वे कार्य को कारण का वास्तविक विकार नही मानते, अपितु विकार को आभासित ही मानने से विवर्तवादी है। अत वे जगत को ब्रह्म का परिणाम नही विवर्त मानते है। अत यहाँ जगत की आभासिक सत्ता है।[१४] लेकिन ऐसा नही कि यहाँ जगत की सत्ता

नही मानी गयी है। शकराचार्य सत्ता की तीन कोटियॉ[१५] मानते है –

(I) पारमार्थिक सत्ता – शुद्ध सत्ता जो सभी प्रतीतियों मे प्रकट होती है और जो न बाधित होती है न जिसके बाधित होने की कल्पना ही हो सकती है।

(II) व्यावहारिक सत्ता – वे विषय जो स्वाभाविक जाग्रत अवस्था मे प्रकट होते है और जो हमारे दैनिक जीवन और व्यवहार के विषय है। परन्तु जो तार्किक दृष्टि में विरोधात्मक है या बाधित होने कि सभावना रहने के कारण सम्पूर्णत सत्य नही कहे जा सकते ।

(III) प्रातिभासित सत्ता – वे विषय जो क्षण भर के लिए प्रकट होते है, जैसे स्वप्न या भ्रम किन्तु स्वाभाविक जाग्रत अवस्था के अनुभवो से बाधित होते है। जगत की सत्ता पर बल देते हुए शकराचार्य कहते है कि जैसे कारण रूपी भ्रम की सत्ता त्रिकाल मे रहती है वैसे ही त्रिकाल में सत्व नही खोती क्योकि कारण कार्य अभिन्न है[१६] पुनश्च नाना रूपात्मक विषय सत्ता रूपेण सत्य है किन्तु अपने विशेष रूप में असत् है।[१७]

शकराचार्य की माया का प्रयोग ब्रह्म सूत्र मे एक बार हुआ है जिसका अर्थ परमेश्वर की शक्ति अविद्या इन्द्रजाल और मिथ्यात्व लिया गया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य मे माया शब्द का अर्थ मिथ्यात्व माना गया है। शकराचार्य ने ईश्वर को मायावी और जगत को माया कहा है। अद्वैत वेदान्त शुद्ध सत्व प्रधान उपहित चैतन्य को ईश्वर मानता है तथा उपाधिभूत माया को जगत का उपादान कारण मानते है।[१८] शकराचार्य प्रकृति सिद्धात की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए माया को प्रकृति का ही पर्याय मानते हैं।[१९] शकराचार्य की माया रूपी प्रकृति भी सत्व, रज और तम गुणो से युक्त है। परन्तु यह सॉख्य की प्रकृति जो निरपेक्ष और स्वतन्त्र है, नही है। शकराचार्य की प्रकृति ईश्वर की माया है जो उसी पर सदैव आश्रित रहती है।[२०] शकराचार्य साख्य के प्रधानकारणवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार अचेतन जड प्रकृति समस्त जगत का उपादान कारण नही हो सकती। इस जगत का उपादान कारण नित्य कूटस्थ अपरिणामी ब्रह्म ही होगा। ब्रह्म चेतन है, वही इस जगत का कारण है। प्रकृति जगत का कारण है क्योकि वह श्रुत्वादि के द्वारा सिद्ध नही है। श्रुति मे कारण को ईक्षण करने वाला कहा गया है। इस प्रकार आरम्भ मे केवल आत्मा ही था अन्य कोई वस्तु नही थी। उसने ईक्षण किया कि मै लोको की रचना करूँ और तब समस्त सृष्टि की रचना की। इस प्रकार श्रुति ईक्षणपूर्वक कर्त्ता का

समर्थन करती है।[२१] अचेतन प्रधान को जगत का उपादान कारण मानना तो श्रुति सम्मत नही है क्योकि प्रकृति के जड होने से ईक्षण कर्तृत्व नही है।

ब्रह्म में माया द्वारा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों है।[२२] यदि साख्य मतानुसार प्रकृति को जगत का कारण गान लें तो उक्त दोनो बाते असगत हो जायेगी। जबकि श्रुति सत् शब्द से ब्रह्म का निर्देश करती है।[२३] प्रकृति सर्वज्ञ भी नही है साख्य मतावलम्बियों का कथन है कि सत्वगुण के धर्मरूप ज्ञान से प्रकृति सर्वज्ञ है। लेकिन यह मत ठीक नही है। क्योकि प्रकृति की साम्यावस्था मे गुणो की समता रहती है। अत सत्व गुण का धर्म रूप ज्ञान नही हो सकता। सर्वज्ञान की शक्ति होने के कारण भी प्रकृति मे सर्वज्ञत्व सिद्ध नही है क्योंकि यदि गुणो की समता होने पर भी सत्व मे रहने वाली ज्ञानशक्ति के आधार पर प्रकृति को सर्वज्ञ मान ले तो रजोगुण और तमोगुण मे रहने वाली ज्ञान प्रतिबधक शक्ति के आधार पर उसे अल्पज्ञ भी मानना पडेगा।[२४] प्रकृति मे सत्व के उत्कर्ष से सर्वज्ञता हो शक्ति है। यह कहना ठीक नही क्योकि साक्षी के बिना केवल सत्व गुण की वृत्ति ज्ञान नही हो सकती। क्योकि वह जड है साक्षी चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति को ज्ञान कहा जाता है और उसी से वस्तु का ज्ञान होता है। अचेतन प्रकृति भी साक्षी नही अत प्रकृति मे सर्वज्ञत्व असम्भव है।[२५] जैसे लोहे के गोले आदि में अग्नि से दहन शक्ति प्राप्त होती है। उसी प्रकार प्रकृति मे ईक्षण–शक्ति साक्षी से प्राप्त होती है, ऐसा मान लेने पर प्रकृति को ईक्षण–शक्ति जिससे प्राप्त होती है वही मुख्य ब्रह्म जगत का कारण है।[२६] ज्ञान के नित्य होने के कारण उसमे अल्पज्ञता दोष नही है। कार्यानुकूल ज्ञान वाला ही कर्ता है। अत ईक्षण के अनुकूल नित्य ज्ञान वाला होने से वह कर्ता है। निष्कर्षत मायायुक्त व शरीररहित सर्वज्ञब्रह्म ही जन्य ईक्षण का कर्ता है।[२७] प्रकृति ईक्षण कर्ता न होने से जगत का उपादान कारण नही है। श्रुति द्वारा भी यह सिद्ध नही होता है कि मृतिका आदि की तरह अनेक स्वरूप होने से प्रकृति जगत का कारण हो सकता है और एकाकी ब्रह्म जगत का कारण नही हो सकता।[२८]

इक्षापूर्वक कर्तृत्व कुम्हार आदि निमित्त कारणों मे ही देखा जाता है व्यवहार मे देखा गया है कि क्रिया मे फल की सिद्धि के पूर्व अनेक कारण रहते है और ईश्वरत्व प्रसिद्धि इन दोनो

से ही ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है। यह कार्य रूप जगत अवयवयुक्त अचेतन और अशुद्ध है। उसका कारण भी वैसा होना चाहिए क्योंकि कारण और कार्य समान देखे जाते है।[२९] श्रुति मे भी ब्रह्म को निष्फल और निष्क्रिय माना गया है।[३०] अत ब्रह्म को जगत का निमित्तौपादान कारण ही मानना चाहिए न कि केवल निमित्त कारण। उभय कारण मानने से श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टात बाधित नही होते।[३१] कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है न कि निमित्त कारण से कार्य अभिन्न होता है।[३२] अत प्रतिज्ञा और दृष्टात के अनुरोध से ब्रह्म ही उपादान कारण है प्रकृति नही। यह जगत सुख दु ख मोहात्मक इसका कारण भी वैसा है। जैसे घट मृत्तिका से उत्पन्न होकर मृत्तिका से अचित् है। इस अनुमान से भी प्रकृति जगत का उपादान कारण नही हो सकता। क्योंकि जड प्रकृति से इस विविध जगत की उत्पत्ति नही हो सकती।[३३] क्योकि यह विविध कार्य जगत चेतन से अधिष्ठित अचेतन प्रकृतिवाला है। अत चेतन अधिष्ठित के बिना अचेतन मे प्रवृत्ति सम्भव नही है।[३४] अचेतन प्रधान की साम्यावस्था की प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति चेतन के बिना उत्पन्न नही हो सकती। इसलिए भी प्रधान जगत का कारण नही हो सकता।[३५] जैसे—मृत्तिका अथवा रथादि स्वय अचेतन होते हुए भी चेतन कुलाल अथवा अश्वादि से अधिष्ठित होकर भी प्रवृत्ति वाले देखे जाते है। अत इस हेतु से भी अचेतन प्रधान जगत का कारण सिद्ध नही होता।[३६] अयस्कान्तमणि स्वय प्रकृति रहित होते हुए भी लौह का प्रवर्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय भी स्वय प्रवृत्ति रहित होते हुए भी चक्षु आदि के प्रवर्तक होते वैसे ही प्रवृत्ति होते हुआ भी ईश्वर सर्वज्ञ व सर्वशाक्तिमान सबको प्रवृत्त करता है।[३७] वेदान्त मत में नान्योऽतोऽस्मि दृष्टा'[३८] इत्यादि श्रुतियो के आधार पर चेतन से अतिरिक्त कुछ भी नही तब प्रवर्त्य के न होने से चेतन ब्रह्म मे प्रवर्तक कैसे हो सकते हैं ? इस शका का उत्तर देते हुए कहते है कि अविद्या से चेतन मे कल्पित द्वेष से प्रवर्त्य और प्रवर्तक भाव आदि सब उत्पन्न होता है। अत माया प्रवर्त्य है और सर्वज्ञ ईश्वर प्रवर्तक है। इस प्रकार सर्वज्ञ कारण मे प्रवृत्ति मानना सभव है अचेतन कारणो मे नही।[३९] पूर्वपक्षी ने उदाहरण देते हुए कहा था कि जैसे दूध बछडे के पोषण के लिए स्वय प्रवृत्त होता है और जल स्वय बढता है। वैसे प्रधान स्वय प्रवृत्त होता है। आचार्य शकर इसका खण्डन करते है कि चेतन के कारण दूध और जल मे प्रवृत्ति हैं। साख्य के मत मे साम्य से अवस्थित हुए तीन गुण है ये तीन गुण ही प्रकृति है। पुरुष के उदासीन और

असग होने से वह न तो निवर्तक है न प्रवर्तक। इसीलिए प्रकृति अनपेक्ष है। अनपेक्ष होने के कारण प्रकृति कभी महदादि आकार से परिणित होगा और कभी नही होगा यह सब अयुक्त है। ईश्वर सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है और सर्वज्ञ होने के कारण उसे प्रवर्तक या निवर्तक होने मे कोई विरोध नही है।[४०] जैसे कि साख्य मत में तृण पल्लव उदक आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा किए बिना स्वभाव से ही क्षीर सागर आदि रूप मे परिणत होते है। उसी प्रकार प्रकृति भी महदादि रूप मे परिणत हो जायेगी। आचार्य शकर इसका खण्डन करते हुए कहते है कि यदि तृणादि स्वाभाविक रूप मे परिणत होते है तो हम प्रकृति का स्वाभाविक परिणाम मान लेते है। लेकिन तृणादि स्वाभावत ही परिणाम को नही प्राप्त होते। उन्हें भी अन्य निमित्त की अपेक्षा होती है। क्योंकि गाय द्वारा खाया गया तृण ही दूध मे परिवर्तित होता है। बैल आदि द्वारा खाया गया तृण क्षीर आदि मे परिवर्तित नही होता। इसलिए तृणादि के समान प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक नही है।[४१] प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति मानने पर उसे किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नही है। उसी प्रकार उसे किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नही होगी। ऐसा मानने पर साख्य की इस बात का खण्डन हो जायेगा कि पुरुष के भोग तथा मोक्ष रूप अर्थ के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।[४२] प्रकृति निमित्त की अपेक्षा नही रखता है। परन्तु प्रयोजन की अपेक्षा रखता है, ऐसा है तो भोग और मोक्ष अथवा दोनो ही प्रवृत्ति के प्रयोजन है। यदि भोग प्रवृत्ति का प्रयोजन है तो सुख आदि आधान अतिशय से रहित पुरुष का भोग किस प्रकार हो सकता है। यदि मोक्ष को प्रवृत्ति का प्रयोजन मान ले, तो प्रवृत्ति से पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी और शब्दादि की अनुपलब्धि का प्रसग हो जायेगा। यदि भोग और मोक्ष दोनो की प्रवृत्ति का प्रयोजन माने तो भोग्य के योग्य तन्मात्राओ के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसग हो जायेगा।[४३]

साख्य मत में जैसे उत्सुकता की निवृत्ति के लिए क्रियाओ मे प्रवृत्ति होते है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।[४४] लेकिन यह मत ठीक नही है क्योंकि इस प्रकार की उत्सुकता अचेतन प्रकृति एव निर्मल चेतन पुरुष मे सभव नही है।[४५] अध और पगु पुरुष के समान अथवा लौह–चुम्बक के समान पुरुष प्रकृति का प्रवर्तक है। ऐसा मानने पर भी समस्या समाप्त नही होती। क्योकि साख्य मत मे प्रकृति की स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति स्वीकार की गई है। यहाँ पुरुष को प्रवर्तक नही क्योकि उदासीन पुरुष प्रकृति को प्रवृत्त कैसे करेगा। पगु पुरुष भी

अध पुरुष को वाणी आदि से प्रवृत्त करता है। लेकिन साख्य का पुरुष निर्गुण निर्विकार और निष्क्रिय है। अत उसमे किसी भी प्रकार की कोई प्रवृत्तिजनक व्यवहार नही होगा।[४६] अयस्ककातमणि के रामान रान्निधि मात्र रो भी प्रवृत्त नही मानी जा राकती। क्योंकि सन्निधि के नित्य होने से प्रवृत्ति भी नित्य होगी और अयरककातमणि की अनित्य सन्निधि होने से उसका अपना व्यवहार अनित्य होगा। अत यह मत भी उचित नही है।[४७] इस प्रकार प्रकृति को अचेतन और पुरुष को उदासीन होने के कारण दोनों का सम्बन्ध कराने वाले तीसरे के अभाव होने से सम्बन्ध की अनुत्पत्ति होगी। यदि योग्यता निमित्तक सम्बन्ध मान ले तो भी योग्यता के नित्य होने से मोक्षाभाव का प्रसग होगा।[४८] गुणो के अगागीभाव कि अनुत्पत्ति होने से भी प्रकृति की प्रवृत्ति नही हो सकती। क्योकि सत्व रजस और तमस इन तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। उस अवस्था मे एक दूसरे के रवरूप की अपेक्षा से रहित सत्वादि गुणो के अपने–अपने स्वरूप नाश होने के भय से पररपर के प्रति अगागिभाव नही हो सकता और क्षोभ उत्पन्न करने वाले किसी बाह्य पदार्थ के न होने से गुणो की विषमता नित्य महदादि की उत्पत्ति नही होगी।[४९]

आचार्य शकर के अनुरार साख्यविद् यह कहते है कि हम गुणो को निरपेक्ष रवभाव तथा कूटस्थ नही मानते, क्योकि ऐसा स्वीकार करने का कोई प्रमाण नही मिलता। कार्य के अनुसार गुणो का रवाभाव रवीकार किया जाता है। गुणो का रवाभाव चलायमान है इसलिए साम्यावस्था मे भी गुण वैषम्य प्राप्ति के योग्य ही रहते है। लेकिन ऐसा मानने पर भी प्रकृति मे ज्ञानशक्ति का अभाव रहता है। ज्ञानशक्ति का अभाव होने से रचना अनुत्पत्ति आदि दोष ज्यो का त्यो रहेगे। यदि ज्ञानशक्ति को मान ले तो साख्य का यह सिद्धात खण्डित हो जाता है क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपच रूप जगत का उपादान कारण है। इससे ब्रह्मवाद उपस्थित हो जाता है। वैषम्य प्राप्ति के योग्य भी गुण साम्यावस्था में निमित्त न होने से वैषम्य को नही प्राप्त होते। यदि प्राप्त होते है तो निमित्त का अभाव होने रो रादैव विषमता पायी जायेगी। इस प्रकार दोष दूर नही हो पायेगा।[५०]

शकराचार्य भी सत्कार्यवादी है। जिसके अनुसार कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण ' में विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य कोई नई वस्तु नही है। लेकिन शकराचार्य साख्य की

भॉति परिणामवादी जिसमे कार्य को कारण का वारतविक विकार मान लिया गया है नही है। शकराचार्य के मत मे कार्य अपने कारण का अभासिक विकार है जैसे ररसी का सॉप के रूप गें दिखाई देना।[५१] विवर्तवाद के पक्ष मे शकराचार्य की युक्तियॉ ओर उनकी माया अविद्या तथा अध्यात्म विषयक सिद्धात ये सब अद्वैतवाद के प्रमुख यौक्तिक आधार है। कार्य कारण से भिन्न वरतु नही है। मिटटी का बर्तन मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है। अत ये मानना उचित नही है कि कार्य एक नई वरतु है जो पहले अपने कारण मे नही थी। तत्त्वत कार्य सदैव अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। निमित्त कारण की क्रिया से किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नही होती। केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। अत कार्य को अपने कारण से अनन्य और उसमें पूर्व से विद्यमान मानना चाहिए।[५२] इस प्रकार कार्य कारण की अवस्था मात्र है।[५३] साख्य के परिणामवाद के विरुद्ध शकराचार्य का मत है कि यदि उपादान कारण मे वारतविक विकार मान लें तो इसका अर्थ होगा जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। इससे रवय सत्कार्यवाद खण्डित हो जाता है। शकराचार्य प्रत्यक्ष को अस्वीकार नही करते केवल उराका यथार्थ तत्त्व क्या है उरी का अनुसधान करते है। साख्य का वारतविक परिवर्तन तभी मान्य होगा। जब आकार की अपनी अलग सत्ता हो, परन्तु सूक्ष्म विवेचन से रपष्ट है कि आकार उपादान (द्रव्य) की एक अवस्था मात्र है जो उरारो अविच्छेद्य है। अत आकार की जो कुछ सत्ता है, वो द्रव्य या वस्तु को लेकर है। क्योंकि आकरिमक परिवर्तन होने पर भी कोई वरतु वही कही जाती है। जैसे देवदत्त सोते उठते या बैठते हुए भी देवदत्त ही कहा जाता है।[५४] यदि आकार ओर किरी गुण की द्रव्य रो पृथक् रात्ता गान लें तो गुण ओर द्रव्य मे बिना किसी वरतु की सहायता से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। अब यदि तीसरी वस्तु की कल्पना करते है तो उसका पहली और दूसरी वरतु से सम्बन्ध जोडने के लिए चौथी और पॉचवी वस्तु की भी कल्पना करनी पडेगी। इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार गुण और उसके द्रव्य गे पार्थक्य की कल्पना करना अयुक्ति सगत है। अत आकार द्रव्य से भिन्न सत्ता नही है।[५५] यहॉ साख्य द्रव्य और गुण के एक ही यथार्थता सम्पन्न मानता है जबकि अद्वैत वेदान्त द्रव्य के विचार को अतार्किक मानता है तथा समझता है कि यह केवल विचार का एक प्रकार है।[५६]

जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तो द्रव्य मे विकार उत्पन्न नही होता है। कारण कार्य

का सम्बन्ध वास्तविक परिवर्तन को इगित नही करता। यद्यपि जो भी परिवर्तन होता है वो कारण के द्वारा ही सभव है। आकाश नीला नही है फिर भी नीला दिखाई देता है। इस प्रकार सूर्य में गति नही है फिर भी गति दिखाई देती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष किन्तु असत्य घटना को आभास कहते है। जो वास्तविक सत्ता नही होती। अत सभी विकार आभास मात्र है यही विवर्तवाद है।[५७] इस मिथ्या कल्पना का कारण अविद्या अथवा माया है जो असत् मे सत् का आभास कराती है। इसी का प्रभाव है कि ब्रह्म मे जगत का अध्यास होता है। यद्यपि इससे ब्रह्म मे किसी भी प्रकार का विकार नही आता है। एकमात्र ब्रह्म ही वह सत्ता है जो सभी द्रव्य नामधारी पदार्थ के विकार का आधार है और सभी विषयों में एक–सा बना रहता है।[५८] शकराचार्य के अनुसार उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषय कार्य विवर्त। यह सादृश्य और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार मे होती है। दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त दही और दूध की सत्ता एक प्रकार की है सर्प और रस्सी की दो प्रकार की सर्प की सत्ता केवल कल्पना में है, देश और काल मे नही।[५९] गीताभाष्य[६०] मे माया को 'त्रिगुणात्मिक अविद्यालक्षणा प्रकृति कहा गया है जो सचराचर जगत को उत्पन्न करती है।[६१] किन्तु एक बात स्पष्ट है कि माया का आश्रय परमेश्वर को माना है, ब्रह्म को नही । इस प्रकार माया से सयुक्त परमेश्वर ही जगत का स्रष्टा है ।

प्राय बाह्य विषयो को अचेतन और अपने मन की आभ्यातरिक वृत्तियो को चेतन माना जाता है। परन्तु, वहॉ मन की वृत्ति का अस्तित्व स्वयप्रकाश है। वही बाह्य ससार का अस्तित्व भी स्वय अपने को प्रकाशित करता है। इस प्रकार प्रकाश की शक्ति बाह्य और आभ्यातरिक दोनो पदार्थों मे पायी जाती है। अत दोनो पदार्थों मे जो अनुगत सामान्य तत्त्व सत्ता है वह स्वय प्रकाशक है। जो असत् यथा बन्ध्या पुत्र है वह क्षण भर के लिए भी अपने को प्रकट नही करता है। इस प्रकार सत्ता रूप ब्रह्म स्वयप्रकाश चैतन्य स्वरूप है।[६२] प्रत्येक भाव या विचार का विषय सत्य नही होता तो भी वह विचार अवगति के रूप में तो अवश्य ही सत् (सत्ता) है[६३] सुषुप्तावास्था या मूर्च्छावस्था निर्विषयक होने पर भी सत् होती है।[६४] इस प्रकार सत्ता एक अव्यभिचारी वस्तु है, जो बाह्य और आभ्यातरिक सभी अवस्थाओ मे अनुगत रहती है।[६५] अत. सत्ता मूल द्रव्य अर्थात् उपादन कारण है। सभी बाह्य विषय और आभ्यातरिक वृत्तियॉ इसी सत्ता

के नाना रूप है। शुद्ध सत्ता जो समरत ससार का मूल कारण है, नाना रूपो मे प्रकट होने पर भी रवय निराकार है भिन्न–भिन्न भागों मे होने पर भी यर्थाथत निरवयव है। सात विषयो मे भारागान होने पर भी वस्तुत अनन्त है यह सत्ता ब्रह्म ही है।[६६]

यदि साख्य के प्रकृति और पुरुष की पररपर निरपेक्षता और वैपरीत्य गुण को स्वीकार कर लें जैसा की सख्यामत है तो प्रकृति से विकास की व्याख्या करना सम्भव नही है। क्योकि तब यह रपष्टत नही कह सकते है कैसे एक निर्देशक चैतन्य के बिना प्रकृति अपनी अन्तर्निहित सम्भावनाओ को अभिव्यक्ति करती है जैसा कि साख्य रवय मत देता है कि जब तक कोई बुद्धि सम्पन्न तत्त्व उपस्थित नही होता है किसी प्रकार की क्रियाशीलता ही सभव नही है। अत शकराचार्य के अनुसार साख्य मत मे प्रकृति का स्वरूप तीनो गुण की साम्यावस्था है। फिर प्रकृति से भिन्न कोई ऐसा तत्त्व नही है जो प्रकृति को क्रियाशील होने के लिए बाध्य करे अथवा इसे रोके। क्योकि पुरुष उदासीन और निष्क्रिय है तथा प्रकृति किसी सबध विशेष मे स्थित नही है, तब यह समझना सम्भव नही है कि कैसे कभी प्रकृति महदादि को व्यक्त करती है और कभी नही करती है।[६७] इसी प्रकार साख्य का यह मत भी सगत पूर्ण नही है कि प्रकृति से महदादि का विकास वैसे ही होता जैसे घास दूध मे रूपातरित हो जाता है। क्योकि घास को दूध मे रूपातरित होने के लिए अन्य कारणो की आवश्यकता होती है जो गाय के अदर ही उपलब्ध होती है बैल मे नही।[६८] पुरुष और प्रकृति का ऐसा कोई सामान्य उद्देश्य नही है जिसके लिए वे पररपर सहयोग की अपेक्षा करे। अचेतन प्रकृति को दु ख नही हो सकता और उदासीन पुरुष दु ख का अनुभाव नही कर सकता। तब दोनो ससार के उद्धार के लिए कार्य कर सकते है। इसका उत्तर तब नही दिया जा सकता जब तक साख्य एक उच्चतर एक को स्वीकार नही कर लेता। आचार्य विज्ञानभिक्षु जो ईश्वरवादी है पुरुष और प्रकृति के सयुक्त कर्म की व्याख्या करने मे समर्थ है।[६६]

शकराचार्य विशुद्ध अद्वैतवादी है। अत ब्रह्म और आत्मा मे अभेद है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय मे भेद–ज्ञाता ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद ये सब माया की सृष्टि है। यहॉ तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ है जीवत्मा और ब्रह्म का अभेद सम्बध। त्वम्' का

अर्थ शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव विशेष और तत् का अर्थ परोक्ष परमतत्त्व पर ब्रह्म का बोध। अत यहाँ त्वम् से जीव का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य और तत् से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिए। इसी तादात्म्य अहब्रह्मास्मि का ज्ञान करना ही तत्त्वमसि' वाक्य का उद्देश्य है।[७०] इन्द्रियो के द्वारा जो स्थूल शरीर दिखायी पडता है उनके भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है जो अत करण प्राण और इन्द्रियो का समूह है। अनादि अविधा के कारण आत्मा भ्रमवश अपने को स्थूल या सूक्ष्म शरीर समझ लेता है। यह बधन है ऐसा अहकार (मै) भाव की उत्पत्ति के कारण होता है। जबकि यथार्थ मे आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनद स्वरूप है।[७१] शकराचार्य आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्ति देने की आवश्यकता नही समझते। उनका मत है कि आत्मा प्रत्येक जीव मे स्वत प्रकाश्य है प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि मै हूँ मै नही हूँ' ऐसा कोई अनुभव नही करता है।[७२]

जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओ मे विद्यमान रहे वही उसका यथार्थ तत्त्व या असली सत्ता है।[७३] इस दृष्टि से शरीर इन्द्रिय अत करण आदि मे जिस तत्त्व के कारण आत्मा उससे अपना अभेद सबध मानता है, वह ज्ञान है। आत्मा चाहे जिस रूप मे प्रकट हो ज्ञान ही उसका असली धर्म है। यह कोई विशेष विषयक ज्ञान नही बल्कि शुद्ध सामान्य चैतन्य है। मेरा शरीर मेरी इन्द्रियाँ मेरा अत करण आदि शब्दो के व्यवहार से स्पष्ट है कि आत्मा अपने को शरीर, इन्द्रिय और अतकरण आदि से पृथक् कर इन्हे अपने से भिन्न ब्रह्म पदार्थ समझ सकता है। अत ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप नही है। यही नही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति मे भी आत्मा का सारभूत चैतन्य, इन तीनो अवस्थाओ मे वर्तमान रहता है। प्रत्येक जीव मे जीव और साक्षी दोनो होते है। साक्षी उदासीन अर्थात् अनासक्त द्रष्टा और ज्ञाता है। जबकि जीव आसक्त, भोक्ता और कर्त्ता है। साक्षी ज्ञान सुषुप्ति मे भी बना रहता है वह नित्य अखण्ड और निर्विकार है। जबकि जीववृत्ति ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के सबध से उत्पन्न होता है। साक्षी अन्त करण भोग होता है जबकि जीव अन्त करण विशिष्ट होता है।[७४] आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। शुद्ध चैतन्य आनद स्वरूप है।[७५] उपाधि सहित शुद्ध सत्ता जीव और जगत दोनो के समान है। चैतन्य दोनो मे विद्यमान रहता है, जीव मे व्यक्त रूप से और बाह्य जगत मे अव्यक्त रूप से। अत जीव और जगत दोनो मे एक ही तत्त्व है यदि जगत और जीव को एक ही सामान्य

आधार नही होता तो जीव को जगत का ज्ञान सम्भव नही होती और ब्रह्म विषयो के साथ उसका तादात्म्य ज्ञान असम्भव होता है जीव के सबध मे प्रतिबिम्बवाद मिलता है। जिसके अनुसार अनत चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पडता है वही जीव है। यहॉ अविद्या की प्रकृति के अनुसार अनत के प्रतिबिब स्वरूप जीव भी भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार के दिखायी देते है। स्पष्ट है कि एक ही ब्रह्म कैसे भिन्न–भिन्न जीवो मे प्रतिभासित होता है और फिर भी एक ही रहता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न अविद्याओ के फलरवरूप भिन्न–भिन्न अतकरणो मे भिन्न–भिन्न प्रकार से ब्रह्म प्रतिबिबित होता है। अत अत करण जितना ही अधिक निर्मल होगा उतना ही अधिक स्पष्ट रूप से ब्रह्म का प्रतिबिब उसमे उतरेगा। लेकिन प्रतिबिम्ब मान लिया जाय तो मुक्ति का अर्थ होगा जीवो का नाश क्योकि अविद्या रूपी दर्पण के नष्ट होने पर प्रतिबिब भी नष्ट हो जायेगा। अत अद्वैतवादी यहॉ एक अन्य मत प्रस्तुत करते है वह है घटाकाश की। जिस प्रकार आकाश वास्तव मे सर्वव्यापी और एक ही है फिर भी धर्मादि उपाधि भेद से वह घटाकाश, महाकाश आदि विविध रूपो मे आभासित होता है। इस प्रकार हम व्यावहारिक दृष्टि से आकाश का काल्पनिक विभाग करते है। इसी प्रकार जबकि ब्रह्म सर्वव्यापी और एक ही है। फिर भी वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नाना जीवो और विषयो के रूप मे प्रतीत होता है। वस्तुत विषय–विषय मे जीव–जीव मे कोई भेद नही क्योकि मूलत वे एक ही शुद्ध सत्ता मात्र है, यहॉ मुक्ति का अर्थ है अविद्यामूलक उपाधियो को नष्ट कर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप होना। यही अवच्छेदवाद है।[७६] वार्तिकाकार सुरेश्वराचार्य माया के माध्यम से ब्रह्म का आभास मानकर आभासवाद को मानते है विवरण सम्प्रदाय के मतावलम्बी प्रकाशात्मादि ब्रह्म का माया मे प्रतिबिब मानते है जो बिबप्रतिबिबवाद कहलाता है। लेकिन आचार्य वाचस्पति मिश्र भामती प्रस्थान मे अवच्छेदवाद को मानते हुए माया ब्रह्म का अवच्छेद मानते है परन्तु इस क्रिया से ब्रह्म की कूटस्थता पर कोई अन्तर नही पडता है ।

अद्वैतवेदान्त मे आत्मा की अपने स्वरूप मे अवस्थिति ही मोक्ष है।[७७] शकराचार्य कर्मवाद मे विश्वास करते है। अत मोक्ष के सबध मे कहते है कि जब तक पूर्व सचित कर्मो का पूर्णत क्षय नही होता है तब तक जीव को मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। मोक्ष के लिए अद्वैत वेदान्त मे निर्विशेष और निर्विकार ब्रह्मज्ञान को महत्त्व दिया गया है।[७८] मोक्ष को दो प्रकार का माना

गया है–

(i) जीवन्मुक्ति[७६]– इस अवस्था मे प्रारब्ध कर्मों के फल के रूप मे शरीर शेष रहता है परन्तु मुक्तात्मा अपने को शरीर नही समझता और जगत के सभी प्रपच को भी जान लेता है। यही कारण है कि जीव तत्त्व मोक्ष महावाक्य के द्वारा ब्रह्मात्मैकत्व को जानकर अह ब्रह्म के रूप मे आत्म–साक्षात्कर करता है। अत वह जगत के बधन से मुक्त हो जाता है।

(ii) विदेहमुक्ति– इस अवस्था मे जीव का शरीर भी नष्ट हो जाता है। क्योकि प्रारब्ध कार्य के फल का भोग हो जाने पर शरीर स्वत नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है शकराचार्य सायुज्य मोक्ष को मानते है।[८०]

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म और आत्मा की एकता को स्वीकार करते है। अत मोक्ष को आनदस्वरूप मानते है जो ब्रह्मानुभूति ही है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत मे अज्ञान का आश्रय जीव है और उसका विषय ब्रह्म लेकिन सक्षेप–शारीरक आचार्य मिश्र के मत का खण्डन करता है। जिसके अनुसार[८१] अज्ञान जीव के पहले की वस्तु है और जीव का कारण है। अज्ञान पूर्व सिद्ध है, जीव बाद मे आता है इसलिए जीव अज्ञान का न आश्रय हो सकता है न विषय। इसी प्रकार जड तत्त्व भी अज्ञान का आश्रय नही हो सकता क्योकि जड जगत भी जीव की तरह अज्ञान से उत्पन्न होता है। कार्य अपने कारण का आश्रय या विषय कभी नही बन सकता । जिसे जीवात्मा कहते है। वह लौकिक और वैदिक व्यवहारो का अधिष्ठाता होता है। अत उसे साक्षी नही कह सकते। जीव चिदाभासविशिष्ट अहकार रूप है यह जीव साक्षी चैतन्य मे अध्यस्त है अर्थात् साक्षी चैतन्य जीव के अभ्यास का अधिष्ठान है। सुषुप्ति की अवस्था मे अहकार आदि का अभाव रहता है किन्तु उस दशा मे भी साक्षी चैतन्य प्रकाशमान रहता है। अत अन्त करणविशिष्ट को जीव (प्रमाता)[८२] तथा अन्त करण की उपाधि से युक्त को साक्षी कहते है। साख्य और वेदान्त दोनो आत्मा के बधन को वास्तविक नही मानते है। शकराचार्य इसे अध्यास रूप मानते है। साख्य मत मे पुरुष और बुद्धि एकता को आनुभविक पुरुष से अलग मानते हुए आनुभविक पुरुष (जीवात्मा) कहा गया है। इस प्रकार साहचर्य के कारण आनुभविक पुरुष के दो तत्त्वो मे से प्रत्येक पूरी तरह से रूपातरति

दिखायी देता है। जड–बुद्धि चेतन जैसी हो जाती और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा हो जाता है।[८३] चेतन तत्त्व के स्वरूप के सबध मे अद्वैत वेदान्त का मत लगभग वही है जो साख्य का है। लेकिन अद्वैत वेदान्त साख्य की तरह यह नही मानता कि यह जो भौतिक उपकरण इसकी अभिव्यक्ति मे गूढ तरीके से सहायक है। उससे यह परमार्थत भिन्न है क्योकि अद्वैत के अनुसार इस उपकरण का भी अन्तिम मूल ब्रह्म ही है जो एक मात्र सत् सत्ता है। यही कारण है कि भौतिक उपकरण और चेतन तत्त्व की परस्पर क्रिया की अद्वैतवादी व्याख्या साख्य की व्याख्या से अधिक सन्तोषप्रद है। अद्वैत चेतन तत्त्व को निष्क्रिय मानता है फिर भी जो सक्रियता इसमे दिखायी देती है वह आभासी मात्र है और वस्तुत इसके भौतिक सहचर अत करण का धर्म है। इस प्रकार चेतन तत्त्व साक्षी[८४] कहा गया जो साख्य के पुरुष के समकक्ष है। यह अन्त करण की वृत्तियो का निष्क्रिय द्रष्टा है। व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्त करण का सयुक्त रूप ही वास्तविक है। यही ज्ञाता भोक्ता और कर्त्ता है। इस सग्रथित रूप मे ही साक्षी जीव कहलाता है। इस प्रकार आत्मचेतन मे एक ही जीव के दो रूप एक ज्ञाता का और दूसरा ज्ञेय का प्रकट होते है। यदि जीव के अदर अत करण रूपी विषयाश न हो तो आत्मचेतना की बात ही नही की जा सकती। क्योकि ज्ञाता ज्ञेय से अभिन्न नही हो सकता। लेकिन जब अन्त मे यह भग होती है तब अन्त करण अपने मूल कारण माया मे लीन हो जाता है और साक्षी अपने साक्षित्व से हीन होकर ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार यद्यपि साक्षी और जीव एक नही है। हालाकि बिल्कुल भिन्न भी नही है। क्योकि जीव अन्त करण मे व्याप्त चैतन्य है और साक्षी केवल चैतन्य है।[८५]

अद्वैत वेदान्त मे बुद्धि इत्यादि ज्ञानागो की धारणा के साथ–साथ ज्ञान का प्रतिनिधान सिद्धात साख्य मत के समान ही है। लेकिन साख्य से अन्तर यह है कि वेदान्त मे दस इन्द्रियो को भूतो से उत्पन्न मानते है जबकि साख्य अहकार से यहाँ अत करण को भी भौतिक मान लिया जाता है जिसमे पाँचो भूतो के अश विद्यमान होते है। इसमे भी तेजस की प्रधानता है अत इसमे चचलता होती है। इस प्रकार यह अपने ही स्थान मे रहते हुए या किसी इद्रिय से बाहर की ओर प्रवाहित होकर जहाँ पहुँचता है वहाँ सदैव अपने आकाश को बदल लेता है। केवल सुषुप्ति मे ही यह निष्क्रिय होता है यह सक्रिय अवस्था मे जो आकार धारण करता है

उन्हे साख्य की भाति शकराचार्य भी वृत्ति कहते है । यहाँ स्पष्ट है कि चेतना की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक सहायता अपरिहार्य है। यद्यपि चेतना से ये बिल्कुल पृथक् है।[८६]

सर्वव्यापक (पुरुष) आत्मा के बहुत्व के सबध मे जो निर्गुण और श्रेष्ठतम् विशुद्ध प्रजा है। शकराचार्य का मत है कि यह मान ले कि सब आत्माए प्रज्ञारूप है और उनमे प्रकृति से ससर्ग आदि के विषय मे कोई मतभेद नही है तो स्पष्ट है कि यदि एक आत्मा का सबध सुख या दुख से हो तो सभी आत्माए सुख या दुख से सबद्ध होगी। इसी प्रकार आत्माए यदि एक समान सर्वत्र व्यापक है तो सब एक ही स्थान को घेरेगी।[८७] शकराचार्य कहते हैं कि अपने अनेकत्व मे सीमितताए निहित होती है और एक परम अविनश्वर शाश्वत तथा निरुपाधिक पुरुष एक से अधिक नही हो सकता है। यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के लिए आवश्यक ही है तो इसके लिए एक ही पुरुष पर्याप्त है। अत यह मानना कि अनेक सर्वव्यापी आत्माए है असगत है। क्योकि इस प्रकार का कोई दृष्टात नही मिलता है।[८८]

साख्य का 'पुरुषबहुत्व अपने ही चैतन्य और निरपेक्ष स्वरूप का साक्षात्कार कर मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति करता है उसे किसी अन्य अनन्त और निरपेक्ष सत्ता की आवश्यकता नही है। जबकि शकराचार्य मे आत्मसाक्षात्कर आत्मा के ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार की बात करता है। इस प्रकार साख्य का मुमुक्ष पुरुष रूप जीवात्मा अपने मे ही पूर्ण है वही शकराचार्य की मुमुक्ष जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप के साथ ब्रह्म से एकात्मता का भी साक्षात्कर करता है। जब मुक्तात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तो मोक्ष मे आत्मा का लोप नही, अपितु चैतन्य के विस्तार और प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्त और निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार है।[८९]

शकराचार्य के अनुसार सूक्ष्म शरीर मे सत्रह तत्त्व है, जिसमे पचज्ञानेन्द्रियाँ, पचकर्मेन्द्रियाँ, पचप्राण मन और बुद्धि। जबकि साख्य मत मे अट्ठारह तत्त्व है, जिसमे त्रयोदशकरण और पचतमात्राए है।[९०] यह सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुए भी पारदर्शक होते है। अत जब जीवात्मा भौतिक शरीर को छोडकर परलोक गमन करती है तो यह दिखायी नही देती है। जबकि सूक्ष्म शरीर और पचप्राण मोक्षप्राप्ति पर्यन्त आत्मा के स्थाई अवयवो के रूप मे विद्यमान रहते है।[९१]

पचज्ञानेन्द्रियो पचकर्मेद्रियो और मन मे सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थ है जो सूक्ष्म अर्थात् अणुरूप और रीमित है। किन्तु वे परमाणु तुल्य अर्थात् अणु के आकार के नही है। क्योकि तब वे समरत शरीर मे व्याप्त नही हो सकते है। उन्हे सूक्ष्म माना गया है यदि स्थूल माना जाता तो वे मृत्यु के समय निकल जाते। वे आकार मे परिमित है इसी कारण ये इनकी गति अर्थात् आगमन सभव होता है।[६२] उपाधियों द्वारा आवृत आत्मा जीव है जो कर्त्ता और भोक्ता है जबकि सर्वोच्च आत्मा परमात्मा उक्त दोनो अवस्थाओ से मुक्त है।[६३] जीव शरीर तथा इन्द्रियो पर शासन करता है। अत वह कार्यफल का भोक्ता है। इस जीव का मूल रूप आत्मा है। अत यह विभु है अणु रूप नही। यदि यह अणु मान लिया जाय तो शरीर को व्याप्त करने और उनमे होने वाले सवेदनाओ को ग्रहण करना सभव न होगा।[६४] ऐसा ही साख्य का भी मत है। सुषुप्ति की अवस्था मे सीमित करने वाली उपाधियॉ विद्यमान रहती है जिससे कि जब यह फिर अस्तित्व के रूप मे आती है तो जीव भी पुन आस्तित्व के रूप मे आ जाता है।[६५] मोक्ष भी अवस्था मे अविद्या के समस्त बीज नष्ट हो जाते है।[६६] तात्त्विक रूप से प्रत्येक जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता है और अपरिवर्तनशील एव अपरिवर्तित तथा खण्डरहित है। फिर भी जीव तीन पुनर्जन्म चक्र का भागीदार होता है।[६७] प्रतिबन्ध करने वाली आश्रित वस्तुए इस जगत मे भिन्न–भिन्न आत्माओ को व्यक्तित्व प्रदान करती है। इन आश्रित वस्तुओ के भेद से आत्माओ मे भी भेद होता है परिणामरवरूप कर्मो और कर्मफलो मे पररपर मिश्रण नही हो पाता है।[६८]

कर्गफल या भोक्ता रूप आत्मा को सात बुद्धि न मानकर प्रतिबिम्बित माना गया है जो कि अवियुक्त रूप गे प्रतिबिम्ब डालने वाले मन के राथ सबद्ध है। जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य अथवा चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र होता है यथार्थ नही अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण स्फटिक मे लाल रग केवल लाल फूल का प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नही। क्योकि जल के न रहने पर केवल सूर्य अथवा चन्द्रमा ही रह जाते है प्रतिबिम्ब नही और लालफूल के न रहने पर केवल श्वेतवर्ण रफटिक अपरिवर्तित रूप मे रह जाता है। इसी प्रकार जीवात्माए एक मात्र यथार्थ सत्ता के अविद्या के अन्दर पडे प्रतिबिम्ब मात्र है और यथार्थ कुछ नही। अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बो का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवल मात्र यथार्थ सत्ता रह जाती है।[६९] जिस प्रकार प्रतिबिम्बों मे पररपर भेद दर्पणो के स्वरूप पर निर्भर करता है। उसी प्रकार निरपेक्ष ब्रह्म

भिन्न–भिन्न अन्त करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न–भिन्न जीवात्माओ के रूप मे जाना जाता है। यहॉ माना जाता है कि अविद्या जो एक सूक्ष्म वरतु है। अन्त करण के रूप मे अवच्छेदक है। विशेषण या जीव का एक आवश्यक भाव है। जिसके बिना जीव का एक आवश्यक भाग है जिसके बिना जीव अस्तित्व नही रह सकता वहॉ प्रतिबिम्ब सम्बन्धी मत मे अन्त करण एक उपाधि मात्र है। जिसका जीव के वास्तविक रवरूप से कोई सम्बन्ध नही है।[१००] जीवात्मा परम सत् से सर्वथा भिन्न नही है। क्योकि तब ये मानना पडेगा कि जीवात्मा ज्ञान रवरूप सत्ता के रवभाव की नही है और न ही उससे अभिन्न है। क्योकि इस दशा मे वे एक दूसरे से भिन्न नही होगे। इस प्रकार जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न भी है और नही भी क्योकि शकराचार्य का मत है कि जीवात्मा मे जो मुक्ति को प्राप्त नही हुआ वे ब्रह्म से भिन्न है। लेकिन जो मुक्त आत्माए है उनका ब्रह्म से रार्वथा तादात्म्य भाव है।[१०१]

साख्य द्वारा पुरुष और जीव के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया जाता है। अद्वैत वेदान्त के आत्मतत्त्व और अहम् भाव के वर्णन के अनुरूप है। अद्वैत वेदान्त मे आत्मा कर्म से स्वतन्त्र तथा शरीर और मन के बन्धनो से परे है। यद्यपि आत्मा कर्म करता हुआ लिप्त प्रतीत होता है। निरुपाधिक आत्मा अथवा पुरुष ही जीव माना जाता है। शकराचार्य के मत में व्यक्तित्व का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से है जबकि साख्य मे लिगशरीर से है। आ० भिक्षु का पारस्परिक प्रतिबिम्ब[१०२] सम्बन्धी मत अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के समान है। शकराचार्य के अनुसार आत्मा अत करण मे प्रतिबिम्बित होता है। यह चिदाभास की प्रतीति ही जीवात्मा है।[१०३] आ० विज्ञानभिक्षु[१०४] सूर्यपुराण का एक उदाहरण देते हुए कहते है कि जिस प्रकार एक विशुद्ध स्फटिक मणि के ऊपर रक्त वर्ण की वस्तु रखने पर वह वस्तु भी लोगो को लाल रग की दिखाई पडती है उसी प्रकार की स्थिति पुरुष की है। लेकिन यहॉ शकराचार्य[१०५] रफटिक के गुलदस्ते का उदाहरण देते है जो अपने अदर रखे हुए लाल फूलो के कारण लाल रग का दिखाई देता है। यद्यपि यह रवय मे सभी प्रकार के रगो से रहित है। शकराचार्य प्रकृति के सृष्टिप्रक्रिया प्रयोजन के सम्बन्ध मे प्रश्न करते है कि क्या यह आत्मा एव पुरुषो के भोग के लिये है य मोक्षार्थ ? आगे कहते है कि यदि मान लें कि प्रकृति के क्रियाकलाप सुखोपभोग के लिए है तो ऐसी आत्मा सुख का भोग कैसे कर सकती है जो सुख या दुख को आत्मसात करने मे असमर्थ

है? इसी प्रकार उसका मोक्ष भी नही सिद्ध होगा। क्योकि निष्क्रिय और स्वतत्र आत्मा रूप पुरुष मोक्ष को अपना लक्ष्य नही बना सकती है। जबकि प्रकृति का लक्ष्य पुरुष को नानाविध अनुभवो मे बाधना है। यदि उद्देश्य मोक्ष होता तो प्रकृति की क्रिया निरभिप्राय होती क्योकि पुरुष पहले से ही मोक्षावस्था मे है। यदि सुखोपभोग और मोक्ष दोनो प्रयोजन है तो प्रकृति के अनेक पदार्थो जो पुरुष के सुखोपभोग के लिए है के कारण अन्तिम लक्ष्य प्राप्त न होगा। प्रकृति की सृष्टि प्रक्रियादि को किसी की इच्छा पूर्ति का प्रयोजन भी नही मान सकते है। क्योकि न तो बुद्धिहीन प्रकृति और न ही तात्त्विक रूप से विशुद्ध आत्मा ही किसी इच्छा का अनुभव कर सकता है। अन्तत यदि यह मान लिया जाये कि प्रकृति क्रियाशील है। क्योकि ऐसा न मानने पर दृष्टिशक्ति (पुरुष के सदर्भ मे) और सृजनात्मक शक्ति प्रकृति के सदर्भ मे प्रयोजन शून्य हो जायेगी तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि दोनो का किसी समय भी अत न होगा। तब प्रतीकमान जगत का कभी भी अत न होगा और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष असभव हो जायेगा।[१०६]

अन्तत साख्यमत की समग्र तार्किक और तात्त्विक विवेचन से स्पष्ट होता है कि साख्य मे विद्यमान अन्तर्विरोधो के बावजूद अद्वैतवाद की झलक मिलती है। शकराचार्य परब्रह्म को निर्गुण मानते है उसका स्वरूपलक्षण 'सत्यज्ञानमनतम्' कहते हैं ब्रह्म सभी प्रकार के परिणाम और विकार के परे है। अत परब्रह्म शुद्ध सच्चिद् स्वरूप है। साख्य मत मे पुरुष को भी शुद्ध सच्चिद् स्वरूप निरपेक्ष सत्ता माना गया है। पुरुष निर्विकार निर्गुण और निष्क्रिय होने के कारण वह प्रकृतिगत यहाँ तक कि प्रकृति का पुरुष सयोग होने पर भी परिणाम और विकार से पूरी तरह से अछूता और निर्लिप्त रहता है। अद्वैत वेदान्त मे जगत मिथ्या है क्योकि इसकी सृष्टि मायोपहित ब्रह्मरूप ईश्वर द्वारा होता है। कितु जगत बन्ध्यापुत्र नही है और न ही यह तुच्छ है। यह आभासिक होकर भी सत्तावान् है। माया द्वारा ब्रह्म मे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनो का आरोप होता है। शकराचार्य प्रकृति सिद्धात की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए माया को प्रकृति का ही पयार्य मानते है। साख्य मत मे जगत को वास्तविक मानते हुए प्रकृति के परिणाम को यथार्थ माना गया है। लेकिन मोक्ष अवधारणा मे इसे विवेकज्ञाननिरस्या माना गया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि जो वास्तविक है उसका ज्ञान द्वारा निषेध कैसे हो सकता है? यदि सर्प वास्तविक नही रज्जूसर्प है तभी इसका निराकरण ज्ञान द्वारा सभव है। इसी प्रकार साख्य

की प्रथम सृष्ट्योत्पत्ति महत् मायोपहित ईश्वर के समान प्रतीत है जो विश्वात्मा का प्रतिरूप है। इसी प्रकार पश्चात् जगत की सृष्टि होती है। लेकिन वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि शकराचार्य के ईश्वर सृष्टि की अपेक्षा प्रकृति की विकासवादी व्याख्या अधिक तर्क सगत है।

साख्य मे प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को वास्तविक मानना उचित नही लगता है। एक तो जो उदाहरण दिये गये है वे अपर्याप्त है तो उसमे या तो चेतन सत्ता निहित है अथवा उनको चेतन सत्ता के अपेक्षा है। साख्यमत मे पुरुष प्रकृति के पृथकत्व का ज्ञान विवेकज्ञान द्वारा होता है और तदोपरान्त मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत प्रश्न उठता है कि यदि सयोग का अत ज्ञाननिरस्या है तो प्रकृति के सम्बन्ध का कारण अविद्याजन्य क्यो नही होगा। आचार्य ईश्वरकृष्ण और विज्ञानभिक्षु इसे अपनी कृतियो मे स्वीकार करते है। फिर जब सम्बन्ध अविद्याजन्य है तो प्रकृति परिणाम वास्तविक कैसे होगा? साख्यमत मे जैसे पुरुष उत्सुकता के निवृत्ति के लिए क्रियाओ मे प्रवृत्त होते है, वैसे ही पुरुष मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होता है। लेकिन यह मत ठीक नही है, क्योकि इस प्रकार की उत्सुकता अचेतन प्रकृति और निर्मल चेतन पुरुष मे सम्भव नही है। यदि प्रकृति के रजोगुण के कार्य के अनुसार उसका स्वभाव मान ले तो साम्यावस्था में गुण वैषम्य की स्थिति बनी रहेगी।

साख्य के परिणामवाद के विरुद्ध शकराचार्य का मत है कि यदि उपादान कारण मे वास्तविक विकार मान लें, तो अर्थ होगा कि जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। जिससे स्वय सत्कार्यवाद खण्डित हो जाता है। साख्य का वास्तविक परिवर्तन तभी मान्य होगा, जब आकार ही अपनी अलग सत्ता हो। लेकिन सच्चाई यह है कि आकार उपादान की ही एक अवस्था मात्र है जो उससे अविच्छेद है। यही कारण है कि आकारिक परिवर्तन होने पर भी वस्तु वही कहलाती है जो पहले कहलाती थी। यथा– देवदत्त समय और स्थान बदलने पर भी वही कहलाता है। यही विवर्तवाद अद्वैतवाद का प्रमुख यौक्तिक आधार है।

जीव के सम्बन्ध मे प्रतिबिम्बवाद साख्य और अद्वैतवाद दोनो मे मिलता है। किन्तु दोनों की व्याख्या मे अन्तर है। अद्वैतवाद के मतानुसार ब्रह्मरूप अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर

प्रतिबिम्ब पडता है जहाँ अविद्या के स्वरूप के आधार पर भिन्न–भिन्न अन्त करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न–भिन्न जीवात्मा के रूप मे अनन्त चैतन्य आभासित होता है। साख्य बुद्धि पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करता है। किन्तु उसके आभासित पुरुष रूप जीव न मानकर पुरुषबहुत्व की सत्ता मे विश्वास करता है जो तर्कसगत नही है। क्योकि व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साथी और सक्रिय अन्त करण का सयुक्त रूप ही वास्तविक है। यही ज्ञाता भोक्ता और कर्त्ता है। इस सग्रथित रूप मे ही साक्षी जीव कहलाता है। आ० वाचरपति मिश्र के मत मे अज्ञान का आश्रय जीव है और उसका विषय ब्रह्म है। किन्तु सक्षेप–शरीरक इसका खण्डन करता हुए कहता है कि अज्ञान जीव के पहले की वस्तु है और जीव का कारण है। जीव चिदाभास विशिष्ट अहकार रूप है। यह जीव साक्षी चैतन्य मे अध्ययनरत है अत आत्मा के बन्धन को साख्य भी वास्तविक नही मानता।

साख्य दर्शन मे ईश्वरवादी धारणा का कोई सकेत नही मिलता किन्तु अद्वैतवाद की छाप अवश्य दृष्टिगत होती है। सक्रिय किन्तु जड प्रकृति का परिणाम यह जगत है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से ही उद्भूत हुई है। लेकिन ऐसा तभी होता है जब प्रकृति पुरुष से सम्पर्क प्राप्त करती है। इस प्रकार सम्पर्क से केवल प्रकृति ही प्रभावित होती है पुरुष नही। यहाँ परिणामी प्रकृति अपरिणामी पुरुष के सापेक्ष लगती है। अत प्रकृति की निरपेक्ष सत्ता मानना तर्कसगत नही लगता इस प्रकार प्रकृतिपरिणामवाद पुरुषविवर्तवाद की ओर झुका हुआ है। पुरुष स्वरूपत साक्षी अकर्ता चेतन सत्ता होते हुए निरपेक्ष तत्त्व है। परन्तु पुरुष के अस्तित्व और उसके बहुत्व सम्बन्धी तर्क जीवात्मा को सिद्ध करते हैं। अत जीवबहुत्व के विरुद्ध पुरुषबहुत्व को स्वीकार करना उचित नही है। क्योकि पुरुषबहुत्व व्यक्तिवादी धारणा को स्वीकार करता है। जबकि निरपेक्ष पुरुष की एक मात्र सत्ता सार्वभौमिक वय पर आधारित है। साख्य मे मोक्ष को ज्ञान निवर्तक मानकर क्योकि बन्धन वास्तविक नही है दु ख की आत्यान्तिक निवृत्ति मोक्षावस्था के विशुद्ध चैतन्य को आनन्दावस्था सिद्ध करती है जो साख्य मत मे निहित अद्वैतवाद की प्रतिछाया और साख्यकारिका की तर्कसगत व्याख्या होगी। इस प्रकार साख्य अन्तर्विरोधो से मुक्त होकर श्रुति सम्मत अद्वैतवाद के रूप मे परिणत हो जायेगा।

पाद-टिप्पणी

१ – तैतरीय उपनिषद् भाष्य –२/१

२ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/२

३ – ब्रह्मसूत्र भाष्य–२/१/१ नट की उपमा के लिए ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१८

४ – केनोपनिषद् भाष्य– १/५

५ – सदानद कृत वेदान्तसार

६ – ऋग्वेद– ६/४७/१६ इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते– वृहदारण्यक उप० भाष्य।। २/५/१६।।

७ – माया तु प्रकृति विद्यात् मायिन तु महेश्वरम्– श्वतोश्वर उपनि० भाष्य।। ४/१०।।

८ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/६

६ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/२६

१०– पचदशी– १/१६–१७

११– ब्रह्मसूत्र भाष्य– प्रारभ मे अध्याय विचार सक्षेप शारीरक– १/२०

१२– छान्दोग्य उप०– ६/२२ ब्रह्मसूत्र– २/१/११, गीता– २/१६ पर शाकरभाष्य

१३– सक्षेप शारीरक–२/६१ यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदशनस्नानादिकार्यमनृत तथापि तदवगति सत्यमेय फलम् प्रतिबुद्धस्यापि अवाध्यमानत्वात–ब्रह्मसूत्र भाष्य।। २/१/१४।।

१४– रातत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित अतत्त्वातोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत – वेदान्तसार

१५– देवराज,एन० के० भारतीय दर्शन, पृ०– ५२६–५२७,
चट्टोपाध्याय एव चटर्जी भारतीय दर्शन पृ०– २४३

१६– ब्रह्मसूत्र भाष्य–१/१/१६

१७– छान्दोग्य उप० भाष्य – ६/३/२

१८– गीता रहस्य– १७१

१६– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१४

२०– ब्रह्मसूत्र– १/४/३ और श्वेताश्वर उप०– ४/५४/११ पर भाष्य

२१– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२२– छान्दोग्य उप० भाष्य– ६/२/३ प्रश्नोपनिषद् भाष्य– ६/३

२३– गोविदानद आचार्य रत्नप्रभा पृ०–२२४

२४– बह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२५– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२६– यथाग्नि निमित्तमय विण्डादेर्दग्धृत्वम् तथा सति यन्निभित्तमोाक्षितत्त्व प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञ मुख्य ब्रह्म जगत कारणभीति युक्त।। ब्र०सू० भाष्य– १/१/५।।

२७– रत्नप्रभा पृ०– २३८–२३६

२८– ब्र०सू० भाष्य– १/१/५

२६– ब्र०सू० भाष्य– १/४/२३

३०– निष्फल निष्क्रिय शात निरवय निरजनम् ।।श्वेता०उप०– ६/१६।।

३१– प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टातानुपरोधात्।। ब्र०सू० भाष्य– १/४/२३।।

३२– छान्दोग्य उप०– ६/१/२

३३– रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।। ब्र०सू० भाष्य– २/२/१।।

३४– स०दी० पृ०– ४०२

३५– ब्र०सू०–२/२/२

३६– ब्र०सू०भाष्य– २/२/२

३७– ब्र०रा्० भाष्य– २/२/२

३८– वृह० उप०– ३/७/२३

३६– ब्र०सू० भाष्य– २/२/२ स०दी०– पृ० ४०४–४०५

४०– ब्र०सू० भाष्य– २/२/४

४१– ब्र०सू० भाष्य २/२/५

४२– ब्र०सू० भाष्य २/२/६

४३– ब्र०सू० भाष्य– २/२/६

४४– साख्यकारिका– १८

४५– ब्र०सू० भाष्य– २/२/६

४६– प्रधानस्य स्वत्रस्य प्रवृत्यभ्युपगमात् पुरुषस्य निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७।।

४७– नाप्ययस्कान्तदत्सनिधि मात्रेणप्रवर्तयेत् सधिनित्वेन प्रकृतिनित्यत्वप्रसगात् ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७।।

४८–ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७

४६– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/८

५०– बह्मसूत्र भाष्य– २/२/६ और २/२/१

५१– सक्षेप शारीरक– २/६१

५२– ब्रह्मसूत्र– २/१व१४–२० छान्दोग्य– ६/१२ तैतरीय– २/६द्ध वृहदा०– १/२/१

गीता– २/१६ पर भाष्य

५३– कारणस्य एक सस्थानमात्र कार्यम् ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/१७।।

५४ - ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१८

५५– चट्टोपाध्याय एव दत्त, भारतीय दर्शन पृ०– २३५

५६– एस०राधाकृष्णन् इन्डियन फिलासफी पृ०–२३६ पर टिप्पणी–II

५७– सतत्त्वोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहत –वेदातसार

५८– एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थ स परमार्थ ।।ब्रह्मसूत्र भाष्य–२/१/११ व २/१/१४।।

५६– परिणामो नामोपादान समसत्ताक कार्यापत्ति । विवर्तो हि नामोपादानविषम सत्ताककार्यापत्ति ।।

६०– गीताभाष्य– ६/१०

६१– मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम् ।।ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/४/३।।

६२– चटटोपाध्याय और दत्त भारतीय दर्शन पृ०– २३७

६३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१४

६४– छान्दोग्य उप० भाष्य– ६/२/१

६५– Mc Taggart, The Nature of Existance

६६– चटटोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ०– २३७

६७– ब्रह्मसूत्र– २/२/४ और प्रश्नोपनिषद्– ६/३ पर भाष्य

६८– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/५

६६– विज्ञानामृत– १/१व२

७०— वेदान्तसार और वेदान्त परिभाषा मे इस महावाक्य की व्याख्या

७१— चटटोपाध्याय और दत्त भारतीय दर्शन पृ०— २५२—२५३

७२— ब्रह्मसूत्र भाष्य — १/१/१

७३— ब्रह्मसूत्र— २/१/११ और गीता— १/१६ पर भाष्य

७४— कूटस्थदीप (८वा प्रकरण) पचदशी

७५— सक्षेप शारीरक —१/२४

७६— बह्मसूत्र भाष्य— २/३/५० व वृहदा० उप० भाष्य— २/१

७७— स्वात्मन्यवस्थान मोक्ष ।।तैतरीय उप० भाष्य— १/११।।

७८— वृहदा० उप० भाष्य— ३/२/३व४/४/६

७९— ब्रह्मसूत्र १/१/४ और कठ उप० ६/१४ पर भाष्य

८०—ब्रह्मैव हि मुक्तावस्था

८१— सक्षेप शारीरक १/३/१६

८२— पचदशी (कूटस्थदीप ८ वा प्रकरण)

८३— साख्यकारिका— २०

८४— अन्तकरणोपहित साक्षी मूलार्थ 'तटस्थ द्रष्टा अत साक्षी स्वरूपत ब्रह्म नहीं है।

८५— पचदशी ११/३२ व वेदान्त परिभाषा पृ०—१०२

८६— हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०—३४०

८७— ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/३/५०

८८—ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/३/५३

८९—स्वात्मन्यवस्थानम् ।।ब्रह्मसूत्र भाष्य— ४/४/१व३।। आत्मन्येवाविद्यानिवृति अद्वैतब्रह्मसिद्धि

९०— साख्यकारिका वृहदा०उप० भाष्य— १/४/१७

९१— ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/४/८—१२

९२— ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/४/१—४

९३— परम ब्रह्म अयहतपारमत्वादिधर्मक तदेव जीकस्य पारमार्थिक स्वरूप इतरद उपाधिकल्पित।।

ब्रह्मसूत्र भाष्य— १/३/१६।।

९४– ब्रह्मसूत्र भाष्य २/३/२६

९५– ब्रह्मसूत्र भाष्य –३/२/६

९६– गौडपादकारिका– ३/१४ पर भाष्य

९७– ब्रह्मसूत्र भाष्य २/३/१७

९८– ब्रह्मसूत्र भाष्य– ३/२/६ व २/३/४६

९९– गौडपादकारिका–१/६ और वृहदा०उप० २/४/१२ पर भाष्य

१००– अत करणेषु प्रतिबिब जीव चैतन्यम् वेदात परिभाष और वृहदा०उप०– २/१ परे भाष्य

१०१– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/४/२० व २१

१०२– साख्य प्रवचन भाष्य– १/६६

१०३– राधाकृष्णन् इन्डियन फिलासफी पृ०– २४७

१०४– साख्य प्रवचन भाष्य– १/१६

१०५– आत्मबोध

१०६– बह्मरात्र भाष्य– २/२/६

संदर्भ-ग्रंथमाला

- An Essay Corncernıng Human Understandıng John Lock , 1894
- Appearence & Realıty F H Bradley, Clarandon Press Oxford, 1914 (Translated ın Hındı)
- Bhandarker Commemoratıon Volume K Belvalkar, Chaukhamva Sanskrıt Serıes Vananrsı
- Buddhısm Mıss Rhys Davıds, The Hıbbert Leetures
- Crıtıque Of Pure Reason I Kant, Mac Mıllan & Co
- Creatıque Evotutıon Bergsa, Mac Mıllan -& Co ,911
- Ethıcs Spınoza (Translated ın Hındı)
- Evolutıon Of Samkhya School Of Thought Dr Arıma Sengupta ,Lucknow
- Glımpess Of Upnıshad Swamı Ghanananda
- Hıstory Of Phılosophy Hegel, Chaukhamba Sanskrıt Serıes, Varanası
- Hıstory of Indıan Phılosophy S N Gdasgupta, Motı Lal Banarası Das, Varanası(Translated ın Hındı)
- Introductıon to Phılosophy G T W Patrıc,(Translated ın Hındı)
- Indıan Phılosophy S Radhakrıshnan,Allen & Unwın, London, 1958,(Translated ın Hındı)
- Logıc F H Bradley
- Monadology G W Lıebnıtz
- Orıgın of Specıes Darwın
- Outlıne of Indıan Phılosophy M Hırıyanna,Allen & Unwın, London, 1973,(Translated ın Hındı)
- Orıgıon & Development of Samkhya System of Thought P B Chakrawartı, Culcutta
- Phılosophy of Nature Hegel, Oxford Unıversıty Press
- Samkhya Phılosophy Pro Garbe
- Samkhya System A B Kıeth, Assocıatıon Press, Culcutta , 1926 ,(Translated ın Hındı)
- Samkhya Conceptıon of Personalıty Dr A K Mazoomdar
- Six System of Indıan Phılosophy Max Mullar

- Studies in the Epic and Puran A D Pualker, Bombay
- Truth and Reality F H Bradley
- अद्वैतब्रह्मसिद्धि मधुसूदन सरस्वती निर्णय सागर प्रेस मुम्बई सन्–१६१७
- ईशोपनिषद्भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- ऋग्वेद् आचार्य श्रीराम शर्मा गायत्री प्रकाशन मथुरा सन्–१६६०
- कठोपनिषदभाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- केनोपनिषद्भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- गीताभाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- गौडपादकारिकाभाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- छान्दोग्य उपनिषद्भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- तैत्तरीय उपनिषद्भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- तत्त्ववैशारदी आचार्य वाचस्पति मिश्र (व्यासभाष्य टीका)
- तत्त्वार्थ सूत्र विवेचक प० सुखलालजी सघवी जैनसस्कृति ससोधनमडल, हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी
- तत्त्वार्थ सार प० बशीधर शास्त्री गाधी हरिभाई देवकरण, सन्–१६६१
- तर्कसग्रह अन्नम् भट्ट एव नीलकण्ठी निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई
- तत्त्वोद्योत मध्वाचार्य
- तत्त्व प्रकाशिका जयतीर्थ (मध्व–ब्रह्मसूत्रभाष्य पर)
- तत्त्वत्रय लोकाचार्य वरवर भाष्योपेत चौखम्बा वाराणसी
- न्यायकुसुमाजलि उदयनाचार्य टीका चतुष्टय समेत स० पद्म प्रसाद उपाध्याय एव ढुढिराज शास्त्री काशी स० सी० वाराणसी सन्–१६५७
- न्यायसूत्रभाष्य वात्स्यायन विश्वनाथवृत्ति सहित स० जीवनानद विद्यासागर, कलकत्ता
- न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका आ० वाचस्पति मिश्र स० राजेश्वर शास्त्री द्राविड, काशी स० सी०, वाराणसी, सन्–१६२५
- न्यायमजरी जयन्त भट्ट स० सूर्य नारायण शुक्ल काशी स० सी० वाराणसी सन्–१६२६
- वायुपुराण आनन्द आश्रम पूना

- वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- विष्णुपुराण वेकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बइ
- वेदान्तसार रामानुजाचार्य सदानन्द ओरिएटल बुक एजेसी पूना सन्–१६२६
- वेदान्त परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र स० अनन्तकृष्ण शास्त्री कलकत्ता विश्व० विद्यालय कलकत्ता सन्–१६३७
- वैशेषिकसूत्र महर्षि कणाद् चोखम्बा स० सी० वाराणसी
- श्वताश्वरोपनिषद् भाष्य शकराचार्य गीता प्रेस गोरखपुर
- श्लोकवार्तिक आ० कुमारिल भट्ट (शाबरभाष्य तर्कपाद की कारिका बद्ध विस्तृत व्याख्या सहित)
- शास्त्रदीपिका पार्थसारथि मिश्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई
- श्रीभाष्य रामानुजाचार्य निणर्य सागर प्रेस बम्बई
- श्रीमद्भागवद्गीता श्री चिद्घनानन्दी गगाविष्णु श्रीकृष्णदास (१६६६)
- षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य हरिभद्ररूरि (गुणरत्न टीका राहित – चावार्क दर्शन)
- सर्वार्थसिद्धिटीका स० प० फूलचद सिद्धातशास्त्री(तत्त्वार्थसूत्र पर) भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी १६४४)
- सक्षेपशारीरक सर्वज्ञात्मुनि स्वामी रामानन्द वाराणसी सन्–१६५७
- साख्यकारिका आचार्य ईश्वरकृष्ण डॉ० विमला कर्णाटक चौखम्बा ओरिएटल, वाराणसी
- साख्यप्रवचनभाष्य आचार्य विज्ञानभिक्षु स० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
- साख्यतत्त्वकौमुदी आ० वाचस्पति मिश्र, साख्यकारिका टीका स० आद्या प्रसाद मिश्र हिन्दी अनुवाद सहित इलाहाबाद
- साख्यसार आचार्य भिक्षु स० राम चन्द्र भट्टाचार्य भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी
- साख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा साख्यतत्त्वकौमुदी पर टीका
- अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव, किताब महल इलाहाबाद, सन्–१६८३
- आचार्य भिक्षु और उनका भारतीय दर्शन मे स्थान डॉ० सुरेश चद्र श्रीवास्तव
- गीतारहस्य लोकमान्य बालगगाधर तिलक पूना सन्–१६३३
- ग्रीकदर्शन डॉ० सी० एल० त्रिपाठी विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्–१६६१
- तत्त्वमीमासा और ज्ञानमीमांसा के० एन० त्रिपाठी मोती लाल बनारसी दास वाराणसी, सन्–१६६३

- दर्शन की मूल समस्याए डॉ० अर्जुन मिश्र मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी भोपाल सन्–१६८६
- दर्शन की रूपरेखा डा० राजेन्द्र प्रसाद
- दर्शन के प्रकार अनुवादक रमेश चन्द्र मूल लेखक–हाकिग राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी जयपुर सन्– १६७४
- धर्मदर्शन की मूल समस्याए वी० पी० वर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली
- पाश्चात्य दर्शन डॉ० बी० एन० सिह साहित्यकार प्रेस वाराणसी सन्–१६८१
- पाश्चात्य दर्शन का इतिहास स० प्रो० दयाकृष्ण राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी जयपुर सन्–१६७६
- पाश्चात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या याकु मसीह
- पाश्चात्य दर्शन सी० डी० शर्मा मनोहर प्रकाशन वाराणसी
- पूर्वी और पश्चिमी दर्शन नन्द किशोर देवराज वाणी भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद सन्–१६७६
- ब्रह्मसूत्रो के वैष्णवभाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन आचार्य रामकृष्ण
- भारतीय दर्शन दत्ता एव चट्टोपाध्याय पुस्तक भण्डार पटना
- भारतीय दर्शन की रुपरेखा एम० हिरियन्ना, राधा प्रकाशन नई दिल्ली सन्–१६८५
- भारतीय दर्शन ओर मुक्तिमीमासा डॉ० किशोर दास स्वामी सुलभ प्रकाशन लखनऊ
- भारतीय दर्शन मे जगत डॉ० सच्चिदानन्द पाठक
- भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन – सी० डी० शर्मा मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी सन्–१६६१
- भारतीय दर्शन डॉ० नन्द किशोर देवराज उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ सन्–१६८३
- महाभारत और पुराणो मे साख्यदर्शन डॉ० राम शरण पाण्डेय नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, सन्–१६७२
- समकालीन पाश्चात्य दर्शन बी० के० लाल मोती लाल बनारसी दास वाराणसी सन्–१६६०
- साख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्–१६६७
- साख्यदर्शन का इतिहास आचार्य उदयवीर शास्त्री गाजियाबाद